

कौसल

जर्नल ऑफ़

दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी ऑफ़ अवध (भारतीय विद्या को समर्पित)



JOURNAL
of
THE INDIAN RESEARCH SOCIETY OF AVADH
(DEDICATED TO INDOLOGY)
1222, Delhi Darwaza, Faizabad-224001

Volume IV

January 1982 & January 1983

Nos. I & II

सम्पादक—मण्डल

डॉ० गौरी शंकर तिवारी
डॉ० चन्द्रशेखर सिंह
डॉ० जे० पी० सिनहा
डॉ० रमाशंकर मिश्र (सम्पादक)
डॉ० स्वामीनाथ पाण्डेय
श्री हरिश्चन्द्र मिश्र
डॉ० हौसिला प्रसाद सिंह

कौसल

जर्नल ऑफ़

दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी ऑफ़ अवध
(भारतीय विद्या को समर्पित)



JOURNAL
of

THE INDIAN RESEARCH SOCIETY OF AVADH

(DEDICATED TO INDOLOGY)

1222, Delhi Darwaza, Faizabad-224 001

Volume IV

January 1982 & January 1983

Nos. I & II

Published by :

The Indian Research Society of Avadh
1222, Delhi Darwaza, Faizabad-224 001
INDIA.

त्रिलोक अखिल
अवध वार्षिक प्रकाशन का सम्प्रभु द्वा
(संस्कृत का ग्रन्थी संस्कार)

Price :

Annual Rs. 30.00 or U. S. \$ 12.50

Current Volume Rs. 30.00 or U. S. \$ 12.50

Back Volumes Rs. 40.00 or U. S. \$ 15.00

Printed at :

Apna Press,

Akab Rekabganj, Faizabad-224 001

Phone : 2827

INDIA.

अनुक्रम

I सम्पादकीय

II लेख (Articles)

1. *Buddhist Sangha and the Laity* : Dr. Biswanath Banerjee, Prof. & Head, Dept. of Sanskrit, Bishvabharti, Santiniketan.
2. भारतीय ललित कलाओं में कृष्ण : डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री, ई २/७३, अरेरा कालोनी, महाबीर नगर, भोपाल ।
3. यशोवर्मन् का ऐतिहासिक मूल्यांकन : डॉ० (श्रीमती) कल्याणी जोआरदार, प्राचीन-इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय ।
4. नैषधे पदलालित्यम् : डॉ० मुकुन्द माधव शर्मा, आचार्य तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय ।
5. *The Bhairava Worship in India and Indonesia* : Dr. B. N. Puri, B-58, Sector A, Mahanagar, Lucknow.
6. आगमिकानुसन्धानालोके बीजमन्त्राणां वैशिष्ट्यम् : डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी, रीडर, लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, कट्टवारिया सराय, नई दिल्ली ।
7. *Drinking in Ancient India* : Prof. S. C. Banerjee, 77 A, Golf Club Road, Calcutta.
8. कलिंग नरेश खारवेल की तिथि : डॉ० किरन कुमार थपलियाल, रीडर, प्राचीन-इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।
9. *Meditation and Mental Health* : Dr. A. K. Sinha, Prof. and Head, Dept. of Philosophy, Kurukshetra University.
10. जैन कवि सोमदेव सूरि की शैव दृष्टि : डॉ० सत्यभामा श्रीवास्तव, संस्कृत-विभाग, गनपत सहाय पी० जी० कालेज, सुलतानपुर ।
11. जागृधातोः स्त्रियां भावेऽर्थेत्तिनोऽपाणिनीयत्वम् : डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय ।
12. *Pastimes and Recreation - Popular and Royal* : Sri T. N. Pande, Section Officer, Cultural Department, Jawahar Bhawan, Ashok-Marg, Lucknow.
13. *An Overlooked Reference to Subhutichandra, Bhanuji Dixit and Rayamukuta in the Tibetan translation of the Amar Kosha* : Dr. Biswanath Bhattacharya, Santiniketan.

१४. आचार्य दण्डी के काव्यादर्श में ध्वनिसिद्धान्त के अस्फुट संकेत : डॉ० घर्मन्द्रकुमार गुप्त, आचार्य तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला ।
१५. शिव की अष्टमूर्तियाँ और उनकी वैदिक पृष्ठभूमि : डॉ० गया चरण त्रिपाठी, प्राचार्य, गंगानाथ भा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, मोतीलाल नेहरू पार्क, इलाहाबाद ।
१६. आचार्य विद्यानन्द और उनकी जैनदर्शन को देन : डॉ० दरबारी लाल कोठिया, चमेली कुटीर, डुमराव कालोनी, अस्सी, वाराणसी ।
१७. उत्तराखण्ड के भूमि - नाप-पैमानों की ऐतिहासिकता : डॉ० शिवप्रसाद नैथानी, इतिहास-विभाग, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर (गढ़वाल) ।
१८. आत्मानवेषण की चार्वाकीय दृष्टि : डॉ० गदाधर त्रिपाठी, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, अग्रसेन महाविद्यालय, मऊरानीपुर, झाँसी ।
१९. भाषा और संस्कृति : एक नवीन दृष्टि : डॉ० (श्रीमती) स्नेहलता प्रकाश, १४, गोपाल-कुञ्ज, बाग मुजफ्फर खाँ, आगरा ।
२०. कालिदास की कृतियों में नृत्यकला : डॉ० (कु०) सुषमा कुलश्रेष्ठ, संस्कृत-विभाग, दौलतराम कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय ।
२१. उपनिषद्सु जीवस्वरूपम् : श्री गिरिधर त्रिपाठी, शोध-छात्र, संस्कृत, गोरखपुर विश्वविद्यालय ।
२२. *Humanistic Philosophy of Rabindranath Tagore* : Km. Rita Sinha, University Campus, Kurukshetra.
२३. प्राचीन भारतीय कृषि-दर्शन : डॉ० सच्चिदानन्द मिश्र, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय ।
२४. संस्कृत गद्य का आदिरूप-वैदिक गद्य : डॉ० कृष्णलाल, रीडर, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय ।
२५. मध्यपाषाणिक सन्दर्भ में लेखहिया : श्री केशव प्रसाद सिंह, प्राचीन-इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग, साकेत पी० जी० कालेज, फैजाबाद
२६. संस्कृतसाहित्ये प्रेयसीचरणसेवा कालिदासश्च : डॉ० अशोक कुमार कालिया, संस्कृत-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय ।
२७. *Excavation at Hulaskhera* : Sri V. K. Tiwari, Dy. Director, U. P. State Archaeological Association, Jawahar Bhawan Lucknow.
२८. काश्मीर शिवाद्वयवाद के अन्तर्गत क्रमदर्शन की साधना पद्धति : डॉ० नवजीवन रस्तोगी, अभिनवगुप्त संस्थान, लखनऊ विश्वविद्यालय ।
२९. प्रमातृरूपप्रकाशस्य विमर्श एव जीवितम् : डॉ० रमाशंकर मिश्र, संस्कृत-विभाग, साकेत पी० जी० कालेज, फैजाबाद ।
३०. उत्कल ब्राह्मणों के गोत्रों, प्रवरों का एक अभिलेखीय अध्ययन : डॉ० गौरीशंकर तिवारी, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग, साकेत पी० जी० कालेज, फैजाबाद ।
३१. न्याय : श्री महेन्द्र प्रताप पितामह, प्राचार्य, गनपत सहाय पी० जी० कालेज, सुलतानपुर भारतीय आस्तिक दर्शन में माया तत्त्व : श्रीमती आशा सिंह, अध्यक्ष, दर्शन शास्त्र-विभाग, राजा मोहन मनूचा गल्स डिग्री कालेज, फैजाबाद ।
३२. भारतीय आस्तिक दर्शन में माया तत्त्व : श्रीमती आशा सिंह, अध्यक्ष, दर्शन शास्त्र-विभाग, राजा मोहन मनूचा गल्स डिग्री कालेज, फैजाबाद ।

३३. वैदिक - अर्थवाद - मीमांसा : श्री रुद्रकुमार त्रिवेदी, २, न्यू टीचर्स फ्लैट, लखनऊ विश्वविद्यालय ।

III प्रन्थ-समीक्षा (Book Reviews)

१. मङ्गलायतनम् - बिहारी लाल शर्मा : डॉ० सत्यभामा श्रीवास्तव
२. मेघदूतम् (भाषानुवाद) - डॉ० अभयमित्र : डॉ० महेन्द्रनाथ पाण्डेय
३. महाबीर वाणी - संकलनकर्त्ता - डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री : डॉ० गौरीशंकर तिवारी
४. देवागम - अपरनाम - आप्तमीमांसा - समन्त भद्राचार्य : डॉ० रमाशंकर मिश्र
५. लोक-विजय-यन्त्र - सम्पादक - डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री : डॉ० रमाशंकर मिश्र
६. उत्तराखण्ड - संस्कृति, साहित्य और पर्यटन - डॉ० शिवप्रसाद नैथानी : श्रीमती इन्दुमती थपलियाल
७. कव्य-प्रकाश-दर्पणः - सम्पादक - डॉ० गोपुराजु रामा : डॉ० उमाशंकर शुक्ल
८. जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार - डॉ० दरबारी लाल कोठिया : डॉ० रमाशंकर मिश्र
९. संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक - डॉ० अभय मित्र : डॉ० ब्रह्मित्र अवस्थी
10. *Shaiva Sutras* by Jai Deo Singh : Dr. Rama Shankar Mishra.
11. *Hindu Philosophy* by Theos Bernard : Sri Rama Kant Tiwari.
12. *Nagarjun's Letter to King Gautamiputra* by Lozang Jamspal, Ngawan Samten Chophel and Peter Della Santina : Dr. Rama Shankar Mishra.
13. *Vidura Niti and Vidula - putra - Samvada* - translated by Hem Raj Shastri : Dr. J. L. Sharma.
14. *A Handbook of Vira Shaivism* by S. C. Nandimath : Dr. Rama Shankar Mishra.
15. *Classical Samkhya* by Gerald J. Larson : Dr. Rama Shankar Mishra.
16. *Consciousness in Advait Vedanta* by William M. Indich ; Dr. Rama Shankar Mishra.
17. *Maya in Shankara* by L. Thomas O' Nel : Dr. Rama Shankar Mishra.
18. *The Divine Player* by David R. Kinsley : Dr. Rama Shankar Mishra.
19. *Bhatti Kavyam*, translated by Dr. Maheshwar Anant Karandikar : Dr. Rama Shankar Mishra.
20. *Modern Indian Mysticism* by Kamakhya Prasad Singh Chandhary : Sri Hari Nath Mishra.
२१. साइंदाता सम्प्रदाय और उसका साहित्य - डॉ० राधिका प्रसाद त्रिपाठी : डॉ० आनन्द-प्रकाश दीक्षित
२२. शब्द और वर्ती - श्री माता प्रसाद त्रिपाठी : डॉ० स्वामी नाथ पाण्डेय
२३. उत्तरी भारत के ब्राह्मणों का सामाजिक अध्ययन - डॉ० गौरीशंकर तिवारी : श्री माता प्रसाद त्रिपाठी
24. *Dhvanyaloka*, critically edited by Prof. K. Krishnamoorthy : Dr. Swaminath Pandey.

25. *The Hymns of Shankara*, translated by T. M. P. Mahadevan Dr. Swaminath Pandey.
26. *The Raghuvansha of Kalidas*, edited by Gopal Raghunath Nandargikar : Dr. Rama Shankar Mishra.
27. *Stories of Indian Saints* by Justin E. Abbott. : Dr. Rama Shankar Mishra.
28. *Indian Buddhism* by A. K. Warder : Dr. Rama Shankar Mishra.



सम्पादकीय

कोसल की भूमि से 'कोसल' नामक शोध-पत्रिका का चतुर्थ अङ्क सुधी जनों की सेवा में अर्पित करते हुए हमें प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है। कतिपय अपरिहार्य कारणों से 'कोसल' का चतुर्थ अङ्क समय से नहीं प्रकाशित किया जा सका। इसलिये दो वर्षों का एक साथ 'संयुक्ताङ्क' विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत है।

समय से शोध पत्रिकाओं का प्रकाशन न हो पाने में संस्थाओं की आर्थिक विपन्नता ही कारण है। प्रकाशन-कार्य पर भी मँहगाई का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इसीलिये इस अङ्क के मूल्य में वृद्धि भी करनी पड़ी है। फिर भी आशा है, उदार ग्राहकों का सहयोग हमें निरन्तर मिलता रहेगा।

हमें यह कहने में गौरव की अनुभूति हो रही है कि प्रस्तुत अङ्क में लब्धप्रतिष्ठ भारतीय विद्वानों का बौद्धिक सहयोग रहा है, अन्यथा अभावग्रस्त पूर्वांचल से इस प्रकार का प्रयास सम्भव ही नहीं था। इस कार्य की सम्पन्नता में विद्वानों तथा शुभचिन्तकों से प्राप्त आशीर्वाद तथा सहानुभूति के लिए हम उनके प्रति कृतज्ञ हैं।

'कोसल' के परामर्शी समिति के सम्मानित सदस्य स्व० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र की इहलोक यात्रा का अवसान हम सभी के लिये दुःखद है। सम्प्रति आचार्य मिश्र के स्थान पर संस्कृत-हिन्दी भाषा और साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने परामर्शी समिति की सदस्यता को स्वीकार कर हमें अनुगृहीत किया है। हम आपके प्रति बहुत ही कृतज्ञ हैं। इसी शृङ्खला में हम डॉ० प्रभाकरनारायण कवठेकर के भी बहुत ही आभारी हैं जिन्होंने परामर्शी समिति की सदस्यता को स्वीकार करने की विशेष कृपा की है।

'कोसल' के प्रकाशन में उत्तर प्रदेश के सांस्कृतिक कार्य-विभाग से प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता के लिये सम्बद्ध अधिकारियों के प्रति हम बहुत ही आभारी हैं। विशेषकर सांस्कृतिक कार्य-विभाग के निदेशक पं० भवानीशंकर शुक्ल की व्यक्तिगत कृपा और आशीर्वाद के लिये हम उनके ऋणी हैं।

हमारा यह प्रयास होगा कि 'कोसल' नियमित रूप से प्रकाशित होता रहे, किन्तु विद्वानों से हमारा निवेदन है कि अपना बौद्धिक सहयोग हमें देते रहें। हंसबुद्धि वाले विद्वज्जनों से अनुरोध है कि वे इस शोध-पत्रिका के प्रकाशन में हुई त्रुटियों के प्रति उपेक्षा भाव रखकर, ग्रहण करने योग्य वस्तु को अपनाने की कृपा करें—

‘हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मधा वर्जयत्यपः ।’

(अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६/२८)

BUDDHIST SANGHA AND THE LAITY

Dr. Biswanath Banerjee

Santiniketan

Right from the beginning the effort of the Buddha was to help his fellow brethren to make an end of suffering and for that his idea was to impress upon all the necessity of embracing the life of a recluse,—ceratha brahmacariyam samma dukkhassa antakiriyaya ti.¹ It was declared that the teachings of the Master were difficult to be followed by a householder and only a recluse was able to lead the thoroughly pure life of a brahmachari.² Attracted by his teachings many householders renounced the worldly life and complaints were raised that Samana Gotama appeared to make the families son-less, women widows and the line of succession discontinued--aputtakaya patipanno samano Gotamo vedhavaya patipanno samano Gotamo kulupacchedaya patipanno samano Gotamo.³ In the new teachings of the teacher there existed no form of rites or ceremonies suitable or natural for the householders and the religion appeared to be primarily meant for those who would renounce the worldly life. It is held that early Buddhism did not consider the laity as belonging to the core of monastic community and that within the Sangha a cult, if at all, was practised in a very limited sense only. These ideas have led to the wrong views found in many works on the history of religion that Buddhism is only to be regarded as a philosophical teaching for monks and rejection of every kind of cult has taken place in it. The Buddhist idea that man reaches salvation progressively in course of many rebirths brought forth necessarily the view that the relation of an individual to the teachings of Buddhism was one of ceaseless variations.

Early Buddhism had no provision for the laity since its mission was to persuade the householders to embrace the life of a recluse. The householders were required to eschew rites and ceremonies (silabbata) to become a follower of the Master. But like any other religious community the Buddhist Sangha required a lay-community for its very existence since the monks were to receive the bare necessities of their life from this lay-community. In ancient India the householders did welcome and help with food and dress every ascetic without any

distinction of caste and creed and therefore the Buddhist monks had also no difficulty in the beginning to get their requirements from such families. In course of time there came to exist some householders who showed more respects to the Buddhists, offered them their necessaries and looked after them during their rainy season retreats. These householders were designated as upasakas or upasikas who in their turn received special attention of these monks and became privileged to listen to discourses held by them. As a result of this closer contact of the Sangha with such families certain rites and ceremonies gradually crept in which Buddhism wanted so much to avoid. Tapussa and Bhallika were the first of such upasakas who were accepted with the utterance of taking refuge in Buddha and Dhamma (dvevacika-formula), as the Sangha had not yet been formed.

Among these lay devotees some became more earnest to Buddhist ideals and tried to follow these as far as compatible with their life as a householder. Some moral duties classified under five heads, viz., saddha (sraddha-faith), sila (sila-moral precepts), caga (tyaga-charity), sutta (sruta-learning) and panna (prajna-comprehension of the truths),—were prescribed for them. There were lay devotees who were interested in the problems of Buddhist philosophy and some were able to attain concentration of mind by their deep faith in the three *ratnas*. The goal held out before these householders was rebirth in one of the heavens. This idea of rebirth in one of the heavens was in existence from the pre-Buddhist days and we have in the Nikayas a number of instances of virtuous householders taking rebirth as gods. These lay devotees hoped that by fulfilling the duties prescribed for them they could also attain three of the four fruits, viz.; sotapatti, sakadagami, anagami, arhatta, obtainable by a bhikkhu.

The attainment of the first fruit is the most important moment for obtaining salvation in future and this attainment can not be recognised externally. This stage is obtained when one realises that there can be no permanent self, when any doubt or question about the truth of the Buddha's teachings is removed and the wrong heretical view that the performance of good work and religious rites can lead to salvation does not exist at all. The lay-devotee can attain this fruit by performing the five moral duties of saddha etc. and removing five of the ten fetters⁴ which bind a living being to this world.

The second fruit is attained by reducing raga (attachment), dosa (hatred) and moha (delusion) to the minimum. We have instances of a large number of lay devotees attaining this stage by complying with the condition.

The third state is attainable by completely removing attachment, hatred and delusion. The usual condition for a lay devotee to attain this state is the removal of the five impurities of the lower category, i. e. the first five *fetters*. A

lay-devotee attaining this stage does not return to this world but is reborn only once in one of the heavens to attain salvation there.

The fourth or the last fruit is obtainable only by a bhikkhu who has completely destroyed all the ten *fetters* and it is understood from the Nikayas that the state of an *arhat* is not obtainable by a lay-devotee.

There is an interesting controversy between the Theravadins and the Uttarapathakas on the question whether a lay devotee, a householder, could become an *arhat*.⁵ The Uttarapathakas think on the basis of certain passages in the Nikays supported by the instances of Yasa Kulaputta and others, that householders i. e. lay devotees can become *arhats*. The Theravadins contend that a householder can not normally expect to reach arhat-hood however virtuous and faithful he might be. There is a statement in the Milinda Panho⁶ that the day a lay-devotee attains *arhatta* (*arhatva*) he must either leave this mortal world or take the yellow robe. Buddhaghosa has tried to explain the instances of Yasa Kulaputta and others as forwarded by the Uttarapathakas with the observations that these lay devotees were indeed free from all *fetters* and were householders only externally and not spiritually. The conclusion that can perhaps be drawn from conflicting statements in the Nikayas, in the Kathavatthu and Milinda Panho is that normally a householders could not attain the arhat-hood but there were householders so much spiritually advanced that they deserved to attain *arhatta* but would not be recognised as such unless they had renounced the household life.

It is in accordance with the spiritual and moral views of early Buddhism that spiritual developments are not combined in any way with external forms of life. For that reason most of the monks are considered to be worldly men (puthujjana), whereas, on the otherhand, it is possible that a lay-devotee has entered upon the stream and has mastered the first of the four stages of holiness.

In the earlier days the religious practices of the monks and nuns were restricted to meditation and the ordination ceremony and the *uposatha* or the confession-assembly could be considered as the only acts of rites. Stringent disciplinary rules and insistence on adopting the life of a recluse practically stood in the way of the popularity of the Buddha's religion during its earlier period of existence. It almost remained confined to recluses and monasticism and hardly reached the masses. Perhaps a century after the demise of its Founder the religion started assimilating some current ideas and thoughts and stepped down from its high pedestal of exclusiveness and abstruse ideals to appeal to the more intellectual and faithful among the common folk.⁷ This tendency towards

popularity 'just allowed a little scope for rituals of a sober character, a little of faith and worship, and a slight relaxation from the stringency of disciplinary rules'.⁸ The cult of worshipping the relics and the cult around the images of the Buddha like the circumambulation of the relics and the stupas, and the offering of flowers to the images of the Buddha as well as the faith in the importance of pilgrimage were introduced perhaps by way of conceding to the lay devotees who desired for a more external form of veneration of the Buddha. We find Asoka making a pilgrimage to the birth place of the Buddha to gain merit and since the time of Asoka devout Buddhists of all countries have been undertaking pilgrimages to all important places connected with the life and activity of the great teacher.

REFERENCES :—

1. Vinaya, i. p. 37 (P. T. S.)
2. Majjhima Nikaya, i. p. 344 (P. T. S.)
3. Vinaya, i. p. 37
4. The ten *fetters* (*samyojana*) which bind a living being to this world are :
 (i) sakkaya-belief in the existence of a self ; (ii) silabbataparamasa—belief in the efficacy of the rituals ; (iii) vicikiccha—lack of faith in the three *ratnas* ; (iv) Kamaraga or Kamacchanda — attachment to sensual pleasures ; (v) byapada—ill-will or hatred ; (vi) ruparaga—longing for rebirth in the rupaloka; (vii) aruparaga—longing for rebirth in the arupaloka ; (viii) mana—pride, arrogance ; (ix) Uddhacca—excitement, distraction ; (x) avijja-ignorance.
5. Kathavatthu (P. T. S.), iv. i., cf. Majjhima N. i., p. 483
6. (P. T. S.) p. 243
7. N. Dutta, Early Monistic Buddhism, II, p. 275
8. Loc. cit.

भारतीय ललित कलाओं में कृष्ण

डा० प्रभु दयालु अग्निहोत्री

भोपाल

ग्यारहवीं ईसवी शताब्दी के ग्रास-पास भारतमाता ने ऐसे दो पुण्यश्लोक महात्माओं की जन्म दिया, जिन्होंने अपनी ताकिक प्रज्ञा और भावुक प्रेम के बल से भक्ति की मन्दाकिनी का प्रवाह दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम दिशा की ओर मोड़ दिया। इनमें एक थे दक्षिण भारत में जन्मे आचार्य रामानुज और दूसरे थे पूर्वी अंचल में अवतरित गौरांग महाप्रभु। आचार्य रामानुज अकाट्य तर्कों द्वारा कृष्ण-भक्ति की प्रतिष्ठा की, तो गौरांग ने लावण्य-ललित लीलाओं के माध्यम से उन्हें जन-जन के बीच ला बिठाया। बाद में जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति की वृहत्त्रयी ने अपनी काव्यकाली के माध्यम से हर पुरुष और नारी के मन में निगूढ़ कृष्ण और राधा को कुछ इस प्रकार जाग्रत किया कि लगभग चार पाँच सौ वर्षों तक उसे राधा-कृष्ण के अतिरिक्त और किसी और भांकने की सुधबुध ही न रही—वस—‘लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल’ और इसका सारा कारण था—‘सांवरे श्याम को सांवरो रूप सुनैनन में कजरा करि राख्यो’।

श्रृंगार और भक्ति का ऐसा प्रदम्भुत सामंजस्य विश्व के किसी अन्य देश और साहित्य में नहीं मिलता। इसका पहला प्रभाव संगीत पर पड़ा। जयदेव का गीतगोविन्द संगीत और और नृत्य की एक शैली बन गया। जगन्नाथपुरी का मन्दिर या नदियाद ही नहीं, सारी वंग, असम और ओडिसी भूमि गोविन्दभयी बन गयी।

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेषम्—
न कुरु नितम्बिनि गमनविलम्बनमनुसरतं हृदयेशम् ॥
धीरसमीरे यमुनातीरे वसतिवने वनमाली ।
गोपीपीनपयोधरमर्दनचंचलकरयुगशाली ॥
नामसमेतं कृतसंकेतं वादयते मृदुवेणुम् ।
बहुमनुते तनुते तनुसंगतपवनचलितमणिरेणुम् ॥

जयदेव के इन पदों के साथ मृदंग की थाप पर नृत्यांगनाओं के घुंघरू रणित होने लगे। हस्तमुद्राओं और नेत्रस्पन्दन में सरल-मादक संकोच और विकास गोचर होने लगा। मिथिला क्षेत्र का समान्यजन ‘अनुखन माधव मुमिरत राधामेल मथाई—ओ जिन रूप सुभावहि विसरेल

उनके गुण लुबुधाई” या “तेल विन्दु जैसे पानि पसारिय ऐसन मोर अनुराग—सिकताजल ज्यों छन्तहि सूखय ऐसन मोर सुहाग” जैसे पदों को ढोलक पर गान्गाकर अश्रुतरलित होने लगा। देखते-देखते नृत्य और संगीत का सारा क्षेत्र कृष्णमय बन गया। वर्मन हो या विलवल, काफी हो या आसावरी, कौन सा ऐसा राग है जो “अंधिरामी छायी रे कन्हाई पवन चलत धन गरजत चमकत बिजुरी”—जैसे कृष्ण के संदर्भों को छोड़कर चल सका और भरत नाट्यम्, कुचिपुडि, कथकलि, मणिषुरी और अवधीन कल्यक में कौन ऐसी नृत्य शैली है जिसकी आत्मा कृष्ण में नहीं वसी। वल्लभाचार्य के पश्चात् तो सारा लोक-जीवन ही कृष्णमय हो गया। सूरदास, नन्ददास और अष्टछाप के अन्य कवियों ने उत्तर भारत के संगीत को इतना प्रभावित किया कि कृष्ण के नाम के बिना शास्त्रीय संगीत की कल्पना तक असंभाव्य हो गयी।

रंगमंच या नाट्य के क्षेत्र में भी कृष्णचरित का अवदान बहुत महत्वपूर्ण है। यों तो नाटक का प्रारम्भ ही रुक्मिणी-स्वयंवर या कंसबध से हुआ था और रामानुजाचार्य से पूर्व भी अनेकों रूपक कृष्णचरित को आधार बनाकर लिखे जा चुके थे, किन्तु उससे लोकमन को पूरा सन्तोष नहीं मिल पाया था। भागवतकार ने जब रुक्मिणी और सत्यभामा को किनारे बिठाकर राधा को कृष्ण की सहचरी के रूप में वृन्दावन के निकुंजों में नृत्य करते, रूठते और गोपियों को, पतियों को पर्यंक पर सोता छोड़कर, आधी-आधी रात बांसुरी की तान पर थिरकते चित्रित किया, तो हर पुरुष को राधा में और हर नारी को कृष्ण में अपने ही अन्तरतम के निगूढ़ कक्ष में अन्तर्हित अपनी ही रति, श्रद्धा और वात्सल्य की प्रतिमूर्ति दिखायी दी। फिर क्या था? गांव की चौपाल रंगमंच बनी और पूरा गांव अपने-अपने कृष्ण-राधा के रास की लहाञ्छेह में खो गया। असम, वंगाल, उड़ीसा की कीर्तन-मंडलियाँ विरह के रससिक्त कीर्तन में सारे लोकतापों को डुबोने लगीं। गुजरात एवं उत्तर प्रदेश के रास लोक कला, संगीत, नृत्य, अभिनय को नया रूप देते हुये लोक-जीवन के अभिन्न अंग बन गये।

जहाँ तक मूर्तिकला का सम्बन्ध है—कृष्ण की उत्कृष्ट मूर्तियाँ और उनके जीवन से सम्बन्धित उत्कृष्ट उत्कीर्णन—सर्वप्रथम कृष्णभक्ति के उद्गम क्षेत्र दक्षिण भारत में ही प्राप्त होते हैं। संगीत और काव्य के समान मूर्ति और चित्रकला ने भी कृष्ण के बालरूप को ही मुख्यतया अपना उपजीव्य बनाया है। इस दृष्टि से कर्नाटक में मैसूर के पास सोमनाथपुरम् का केशव मन्दिर महत्वपूर्ण है। तेरहवीं शताब्दी के इस मन्दिर का वास्तुशिल्प और मूर्तिकला होयसल शैली के कलाशिल्प के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। दक्षिण से सम्बन्धित होने पर भी इन पर द्रविड़ शैली का प्रभाव कम है। होयसल कारीगर उत्तरी शिल्पकला से प्रभावित थे। श्री वैष्णव भक्ति से सम्बन्धित इस क्षेत्र के मन्दिरों में विष्णु के चौबीस अवतारों की मूर्तियाँ प्रायः सर्वत्र मिलती हैं। यह अवतार-शृंखला मूर्ति के पीछे के मेहराब या तोरण पर टंकित की जाती है। बुद्ध का स्थान नवम होता है और उनकी आकृति बड़ी नहीं रहती, किन्तु तोरणों या भित्तियों पर कृष्ण विविध और बड़ी रूपाकृतियों में कभी कालियनाग का बध करते, कभी गोवर्धन उठाते और कभी वेणु गोपाल के रूप में मिलते हैं। इन मन्दिरों के द्वार तथा वृहन्मण्डप की भित्तियों के निम्न भागों पर महाभारत और भागवतपुराण पर आधारित छोटे-छोटे आख्यान फीज डिटेल्स में टंकित हैं। होयसल शिल्पी वस्तुतः वास्तुविद् थे। इसलिये इनकी कारीगरी में मंदिरों की डिजाइनों ने बहुरूपता प्राप्त की है। उदाहरणार्थ तेरहवीं शती का त्रिकूटाचल मन्दिर वैष्णव वास्तुकला का शास्त्र सिद्ध

नमूना है, किन्तु इसमें भी इन कलाकारों में बहुत से छोटे-सोटे कलावैशिष्ट्यों ने अपनी सुरुचिपूर्ण प्रतिभा का प्रदर्शन किया ही है। मूर्तिशिल्पों में सोमनाथपुरम् के केशव मन्दिर की दीवारों पर उत्कीर्ण फीज त्रिवरणों सहित यमुना-तट पर अवस्थित वृन्दावन, यमुना में कृष्ण द्वारा कालियमर्दन, कृष्ण-केशीश्वरयुद्ध, गोवर्धन गिरधारी वहूत महत्त्वपूर्ण हैं। वृन्दावन के निकुंजों के दृश्य अपने प्राकृतिक रूप के बहुत निकट हैं। यद्यपि भारतीय कला के लिये यह कोई नयी बात नहीं है, तो भी उस कला में इसकी वारीकियों पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया है। वेणु गोपाल की त्रिभंगी मुद्रा की दो मूर्तियाँ मिन्न-भिन्न आभूषणों और पृथक्-पृथक् आकृति के मुकुटों से युक्त हैं। दोनों पादभूषण पहने हैं और विविध पुष्पलताओं, मनुष्यों और गौ, वृषभादियुक्त प्रस्तरीय वृति से वेष्टित हैं। कृष्ण की ये मूर्तियाँ प्रस्तर शिल्प के उत्कृष्ट नमूने हैं। इन दोनों मूर्तियों से नीचे की ओर मूर्ति से आधी चौड़ाई के काफी लम्बे प्रस्तर-खण्ड पर आकर्षक पैनल हैं। गिरधारी तथा वेणु गोपाल तीनों के कटि-काष्ट भुजा और पादभूषण एवं अन्य अलंकृति-योजना भी आश्चर्यजनक सूक्ष्मतायें समेटे हुये हैं। कृष्ण से सम्बन्धित महाभारतीय शिल्प का उत्कृष्ट उदाहरण अर्जुन के साथ उनका सारथि रूप है। इसमें आभूषणों के नाम पर केवल कंलगीदार मुकुट है। कृष्ण पीछे की ओर मुख किये अर्जुन से बात कर रहे हैं। यह चित्रों में भी अंकित किया गया है। उत्तर में देवगढ़ में प्राप्त नन्द, बलराम और यशोदा-कृष्ण की मूर्तियाँ अपने ढंग की अनोखी हैं। इसमें आततायी ने नन्द का मस्तक भंग कर दिया है, किन्तु यशोदा का रूपलावण्य देखते ही बनता है। राजशाही से प्राप्त विष्वरूप कृष्ण की षोडशमुज मूर्ति ग्रैवेयक, कटिभूषण और आजानु उपवीत पहने हैं। कृष्ण का सुदर्शन चक्र, जिसके मध्य में गहड़ासीन कृष्ण हैं, द्वादश और उत्कीर्ण नेमि के साथ श्रेष्ठ शिल्प का उदाहरण है। यह मूर्ति आजुतोष म्युजियम की बहुमूल्य निधि है।

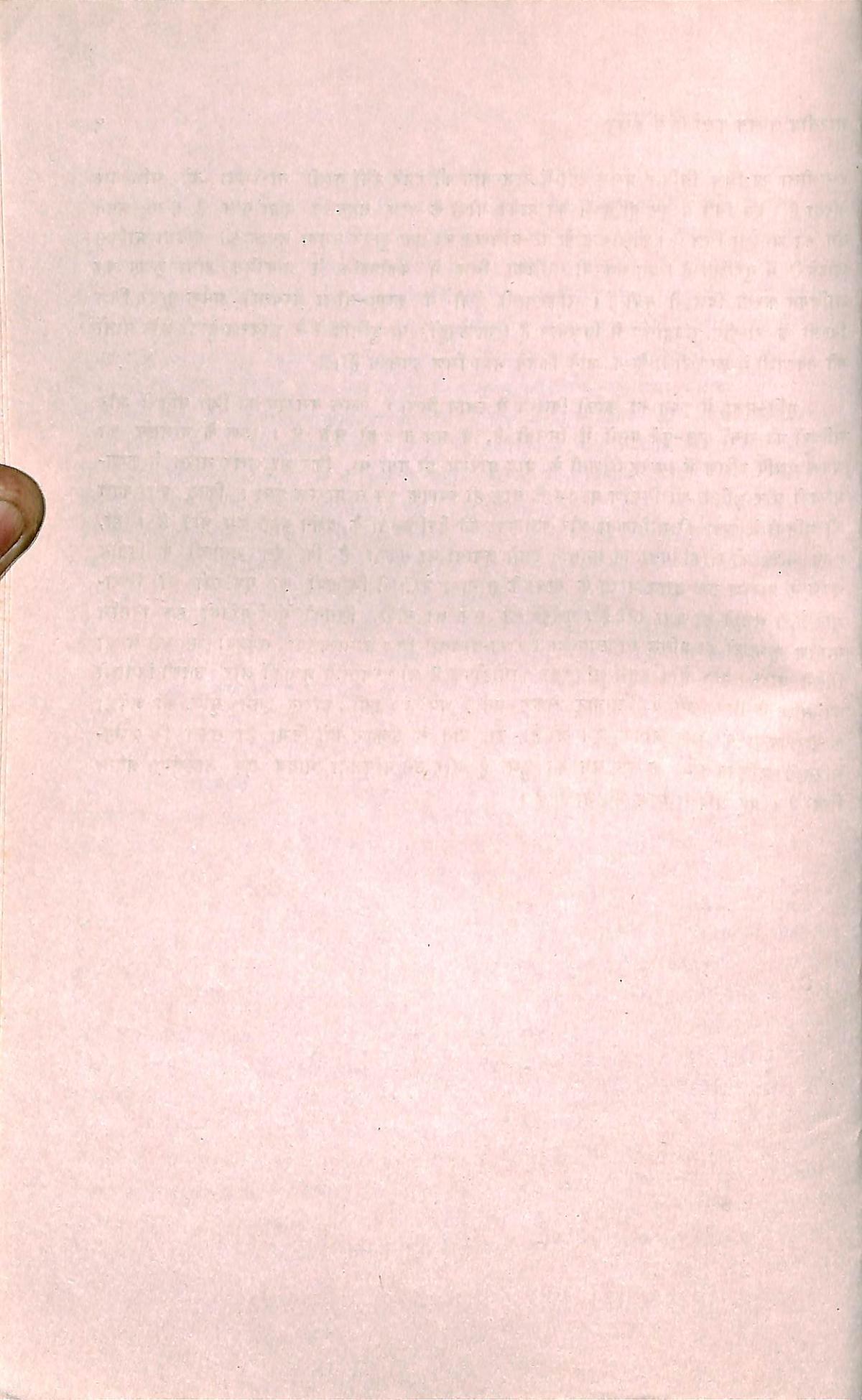
गीत-गोविन्द और भागवत के कृष्ण-चरितों-ने चित्रकारों को भी बड़ी संख्या में आकृष्ट किया है। ये चित्र संख्या की ही नहीं, गुणवत्ता की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ की एक कलापूर्ण चित्रकृति बीकानेर के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित है। इसका आवार गीतगोविन्द का आद्यश्लोक – “मधैर्मदुरमम्बरम्” आदि है। कृष्ण राधा के घर गये हैं। वहाँ खेलते-खेलते सांझ हो जाती है। नन्द उधर से निकलते कहीं जा रहे हैं। वे राधा से कहते हैं- देखो राधा बादल छा रहे हैं। रास्ता यों ही तमाल के वृक्षों के कारण अंधेरा है। यह कृष्ण रात में डरता भी है। राधे ! तुम्हीं इसे घर तक पहुँचा दो। राधा बड़ी है और कृष्ण छोटे। वह नन्द का आदेश पाकर कृष्ण को उनके घर पहुँचाने चल देती है, किन्तु मार्ग में वे दोनों सब भूलकर प्रणयकेलि में मग्न हो जाते हैं। इस दृश्य को कलाकार की वस्तिका ने अमर कर दिया है। चित्रपट में नीचे यमुना प्रवाहित हैं, जिसके जल में मीन और पंक्षी तिर रहे हैं। तट पर तमाल के वृक्ष हैं। वामपाश्व में गोवृन्द को बछड़ों के साथ एक ग्वाला हांके लिये जा रहा है। ऊपर की ओर दोनों पाश्वों में कुछ भवन हैं। सम्भवतः इनमें वामपाश्व में राधा और दक्षिणा पाश्व में कृष्ण का घर है। दोनों के मध्य सघन वृक्षावली है, जिसके नीचे नन्द-कृष्ण और राधा हैं। नन्द की वेषभूषा सत्रहवीं शती के राजस्थानी कृषक जैसी है। राधा घांघरा-ओढ़नी पहने हैं। कृष्ण के मस्तक पर मुकुट जैसी टोपी है। इस सारे दृश्य को काली मसि और श्वेत भूमिका में सूक्ष्मतम विवरण देते हुये उभारा गया है। दाहिने पाश्व में कृष्ण-राधा प्रणयालाप करते चित्रित किये गये हैं। दृश्य इतना भव्य है कि दृष्टि उस पर से हटाये नहीं हटती। गीतगोविन्द की मधुरिमा की लहर एक और बंगाल से राजस्थान तक गयी, तो दूसरी ओर

इसका प्रवाह विन्ध्य के पार दक्षिणा की ओर मुड़ गया। वह जहाँ भी गई, अपने साथ के मुहाविरे-ईडियम भी लेती गयी। यह गति और प्रतिगति उभयपक्षीय थी। दक्षिणी कला ने यदि राजस्थानी से कुछ लिया, तो उसने पलट कर उसे बहुत कुछ दिया भी। देहली के नेशनल म्युजियम में अठारहवीं शताब्दी का दक्षिणी शैली का कृष्ण-गोपी चित्र भी बड़ा मोहक है। इसमें एक शुभ्र गाय कृष्ण के पांव को जीभ से चाट रही है और वायें पाष्ठर्व में दो श्याम धेनुएँ ऊपर मुंह उठाये हैं। इसमें कृष्ण और गोपियाँ व्रजपरिधानों से अलंकृत हैं। चित्र बहुरंगी और मनोरम है। ऐसे ही श्रेष्ठ चित्रों में न्यूयार्क के मेट्रोपालिटन म्युजियम का १६०० ई० का गोवर्धन-धारणा का उल्लेखनीय बहुरंगी चित्र है। सत्रहवीं शती के चित्रों में आसाम के दो चित्र-कृष्ण और कदम्बतरु तथा कालिय दमन कला के उल्कृष्ट नमूने हैं। ये दोनों भागवत पर आधारित हैं। आशुतोष म्युजियम और नेशनल म्युजियम के दो गोपी-चित्र भी, जो सत्रहवीं शताब्दी के ही हैं, इसी कोटि के हैं। इनमें एक डड़ीसा का है, जो लता-निकुंज की पृष्ठभूमि में गोपियों के उद्घाम यौवन को नैसर्गिक उद्दीपनों के साथ प्रक्षेपित करता है। इसमें कृष्ण नहीं हैं, हरिण और मयूर हैं। दूसरा एक पाण्डुलिपि के काष्ठावेष्टन पर चित्रित है। इन दोनों के कलाकारों ने सूक्ष्मत ओं को उरेहने में पर्याप्त श्रम किया है। आशुतोष म्युजियम में ही राधाकृष्ण का उड़िया शैली में एक और काष्ठ जिल्द का चित्र है, जो गहरे-काले और सफेद रंगों में रूपांकन और अलंकरण की दृष्टि से बहुमूल्य है। केरल के तीन चित्र, जिनमें दो मत्तन चेरी के और एक पद्मनाभपुरम् का हैं और कृष्ण-गोपी तथा गोवर्धन-धारणा के दृश्यों पर आधारित हैं। इनमें एक में कृष्ण श्यानमुद्रा में और दूसरे में आसीन मुद्रा में दिखाये गये हैं। श्यान मुद्रा बहुत आकर्षक है। इसके चारों ओर नग्न वक्षोजों वाली बहुत गोपियाँ स्थित हैं, जो गोपी कम, अप्सरा अधिक प्रतीत होती हैं। पद्मनाभपुरम् वाले चित्र में दक्षिणा की ओर नीचे गरोश और ऊपर दोनों पाश्वों में लम्बी दाढ़ी वाली आकृति के दो पुरुष चित्रित हैं। गोवर्धन-धारणा वाले चित्र में कृष्ण को चारों ओर से घेरे हुये स्त्री-पुरुष काफी स्थूलकाय हैं। ये तीनों चित्र किसी विदेशी कलम की देन जैसे लगते हैं। इस परम्परा में पहाड़ी शैली का एक चित्र, जो अठारहवीं शती के मध्य का है, डा० कुमार स्वामी के अमेरिकास्थ संग्रहालय में है। यह चित्र कालिय दमन का है। इसमें वास्तविकता और भावुकता का मनोरम मिश्रण है। इससे चित्र में सजीवता और रमणीयता उत्पन्न हो गयी है। यों भी पहाड़ी शैली अपनी मसृणता के लिये प्रसिद्ध है। पाकिस्तान में लाहौर के संग्रहालय में कृष्णचरित सम्बन्धी अनेक रंगीन दुर्लभ चित्र हैं। इनमें प्रसाधनरता वासंक-सज्जा राधा, राधा के वेष में कृष्ण और कृष्ण के वेष में राधा का परिवर्तित प्रणायीरूप, चीरहरण, भूला, एकान्त पनघट पर अन्यमनस्का गोपी के साथ कृष्ण का प्रणय-प्रसंग जैसे पहाड़ी शैली के गहरे रंगों में चित्रित, भावनातिरेकपूर्ण और उन्माद से भरे प्रणय-चित्र हैं। चण्डीगढ़ की शासकीय कलाओं-थिका में भी इसी श्रेणी और शैली का एक महत्वपूर्ण चित्र है। पहाड़ी और कांगड़ा शैली में राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों के वैविध्यमय चित्र लंदन के विकटोरिया एण्ड एलवर्ट म्युजियम में और गीत गोविन्द पर आधारित १५वीं से १८वीं शती तक के अनेकों प्रथम कोटि के चित्र न्यूयार्क और लंदन के संग्रहालयों की शोभा बढ़ा रहे हैं। ये चित्र राजस्थानी शैली के हैं और अहमदाबाद, बीकानेर, मेवाड़ तथा जयपुर से संगृहीत किये हैं। उनमें अनेकों के ऊपर सम्बन्धित श्लोक भी देवनागरी लिपि में दिये गये गये हैं। बसोली और पंजाबी पहाड़ी शैली के ऐसे कुछ चित्र कण्डाल बाला के संग्रहालय में भी देखे जा सकते हैं। मिशीगन विश्वविद्यालय के एशियन आर्ट आर्काइव्ज का नाथद्वारा से प्राप्त

भारतीय लित कलाओं में कृष्ण

रासलीला का चित्र विविध प्रखर रंगों में राजस्थान की गहरे रंगों वाली नारीभूषा को अभिव्यक्त करता है। इस चित्र में एक ही कृष्ण का प्रत्येक गोपी के साथ सहनर्तन देखा गया है। यह अपने ढंग का अनोखा चित्र है। कालीघाट के पट-ग्रालेखन का एक सुन्दर नमूना लन्दन की इंडिया आफिस लाइब्रेरी में सुरक्षित है। इस सतरंगी वर्णिका चित्र में वंशीध्वनि से आकर्षित राधा कृष्ण का आर्लिंगन करती दिखायी गयी हैं। राजस्थानी शैली में कृष्ण-लीला सम्बन्धी अनेक सुन्दर चित्र दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में विद्यमान हैं। काठपट्टों, पाण्डुलिपियों के आवरण-पृष्ठों और पात्रों की नक्काशी में कृष्णलीला के न जाने कितने भव्य चित्र उपलब्ध हैं।

मूर्ति-पूजा में कृष्ण को काफी विलम्ब से स्थान मिला। केवल बलराम की जिन मूर्तियों और मन्दिरों की चर्चा गुप्त-पूर्व ग्रन्थों में मिलती है, वे अब नष्ट हो चुके हैं। कृष्ण के वालरूप का अंकन यद्यपि दक्षिण में ग्यारहवीं शती के बाद प्रारम्भ हो गया था, फिर भी उत्तर भारत में कृष्ण-मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण बलभ के साथ ही व्यापक रूप से प्रारम्भ हुआ। किन्तु इस काल की मूर्तियों में कला की मौलिकता और कलाकार की वैयक्तिकता के दर्शन बहुत कम होते हैं। हाँ, कृष्ण-भक्ति की लोकप्रियता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि इस शताब्दी के द्वितीय चरण के प्रारम्भ तक उत्तर भारत के गांवों के सामान्य घरों की भित्तियों को गूजरियों की शिरो-मूर्तियों से सजाने की प्रथा रही है। गुर्जरी का ग्रथ था गोपी, जिसकी शीर्ष-मूर्तियों का निर्माण ग्रामीण कुम्हारों का प्रसिद्ध व्यवसाय था। कृष्ण-सम्बन्धी चित्र सामान्यतया सत्रहवीं शताब्दी से ही मिलने प्रारम्भ होते हैं। इनमें अधिकतर कामोदीपक हैं और स्थानीय शासकों और उनकी प्रियाओं की तुष्टि के लिये धर्म का आधार लेकर बनाये गये हैं। इसी कारण इनमें सृष्टि की अपेक्षा कामोदीपकता का अंश अधिक है। जो हो, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कृष्ण-चरित ने लितकलाओं के हर अंग को छुआ है और उसे मांसलता, मार्दव एवं आकर्षण प्रदान किया है। यह प्रक्रिया आज भी जारी है।



यशोवर्मन् का ऐतिहासिक मूल्यांकन

डा० (श्रीमती) कल्याणी जोवारदार
गोरखपुर

हर्ष के बाद उत्तर भारत की राजनीतिक क्रियाशीलता विद्यमाण नहीं होने पाई। हर्ष की मृत्यु एक युग की समाप्ति है, अन्तिम बौद्ध राजा की समाप्ति है, किन्तु हिन्दू काल की समाप्ति नहीं। हर्ष का साम्राज्य तो भूमिसात हो गया, परन्तु उसकी राजधानी कन्नौज का वैभव उसके बाद के साम्राज्य-लिप्सुओं के लिए प्रेरणा और उत्साह के स्रोत के रूप में विद्यमान रहा। डा० रायचौधुरी ने लिखा है “कन्नौज सभी के लिये राजनीतिक शक्ति का केन्द्र था। पश्चिमी एशिया की लड़ाकू जातियों के लिए जो बैबिलोन था, घूनिक-वर्वरों के लिये जो रोम था, पूर्वी और दक्षिणी योरोप के मध्यकालीन जगत् के लिए जो बाईजेन्टियन था, वही ईसा की आठवीं और नवीं शताब्दी के उदीयमान भारतीय राजकुलों के लिये था” (एडवान्स हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १, पृष्ठ १६१)। कन्नौज को उसके पूर्व गौरव पर समाप्ति करने का प्रयत्न हर्षोत्तर भारत के बीर और महत्वकांक्षी सेनानायक तथा नरेश करते रहे और कन्नौज एक बार फिर चमक उठा। कन्नौज की राजगद्दी रिक्त नहीं रही, इसके मूल में था यशोवर्मन् नामक एक व्यक्ति का इतिहास में अवतरण, जिससे कन्नौज फिर राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र बन गया।

आठवीं शती के आरम्भ में यशोवर्मन् ने कन्नौज में राज्य स्थापित किया। डा० स्मिथ के अनुसार यह समय ७२८ ई० था (स्मिथ : जे० आर० ए० एस० (लन्दन), १९०८, पृष्ठ ७७५)। यह वह समय था, जब बंगाल के पाल और कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारों के अम्युत्थान ने उत्तर भारत की राजनीति को शक्तिमंच पर लाकर खड़ा कर दिया। उधर पश्चिमोत्तर भारत में श्रवणों का आक्रमण शुरू हो गया। इस विकट स्थिति के समय भी यशोवर्मन् के शासन-काल में कन्नौज को पुनः वैभव का दिन देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसकी राजसभा को वाक्पतिराज और भवभूति जैसे लब्ध प्रतिष्ठ कवियों ने गौरवान्वित किया। अर्थात् राजनीतिक चेतना का इस युग में हास नहीं हुआ। राजनीतिक एकता के श्रमाव में भी सांस्कृतिक धारा अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित होती रही।

यशोवर्मन् इतिहास का एक विवादास्पद व्यक्ति है। इसके इतिहास पर कई ऐतिहासिक साधनों ने प्रकाश डाला है, जो इस प्रकार है।

(१) वाक्पति का गौड़वहो (एस० पी० पण्डित द्वारा संकलित)–डा० कीथ के अनुसार इसमें न्यूनतम ऐतिहासिकता है, क्योंकि यह एक काव्य है। फिर भी उसके विजय-सम्बन्धी महत्वपूर्ण सूचनाओं का हम परिहार नहीं कर सकते।

- (२) नालन्दा अभिलेख (एपीग्राफिया इण्डिका, २०, पृष्ठ ३७) — यह एक बौद्ध अभिलेख है, जिसमें यशोवर्मन् के मंत्री के पुत्र मालदा द्वारा भिक्षुओं के लिये दान एवं बालादित्य द्वारा बौद्ध मन्दिर की स्थापना का वर्णन है। इसमें यशस्वी यशोवर्मा देव का नाम है, उसे लोकपाल कहा है, जिसने समस्त राजाओं के मस्तक पर चरण रख कर तथा अपनी तलवार की चमक से समस्त शत्रु-रूपी अन्यकार को विच्छिन्न कर दिया (त्रिपाठी-हिस्ट्री आफ कनौज, पृष्ठ २०५)। कुछ इतिहासकार इसे गन्दासोर का यशोवर्मन् मानते हैं, परन्तु डा० मजूमदार इसे स्वीकार नहीं करते (ग्राई० एच० क्य० ७, पृष्ठ ६४४)। यह यशोवर्मन् गौडवहो का नायक ही है।
- (३) देवपापालदेव का घोषरावान् अभिलेख—जिसमें पालवंश के द्वितीय राजा के समय का नालन्दा के विषय में वर्णन है। इसमें है कि वीरदेव यशोवर्मापुर विहार के परिदर्शन के लिये गया। नालन्दा लेख में भी यह नाम है। घोषरावान् विहार (मगध) में है। कर्निघम, इस विहार को यशोवर्मन् ने बसाया, ऐसा मानते हैं। (ग्राई० सर्व० रिपो० ३, पृष्ठ १२०)
- (४) कल्हण की राजतंरगणी (स्टीन द्वारा सम्पादित) — राजनीतिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ काश्मीर नरेश ललितादित्य एवं राजा यशोवर्मन् के संघर्ष का विशद वर्णन देता है।
- (५) इण्डोसीथियन आकृति की कुछ मुद्राएँ जिन पर यशोवर्मन् का नाम है।
- (६) तांग अनुसूची में यशोवर्मन् द्वारा चीनराज के पास दूत भेजने का वर्णन है तथा पांच चीनी ऐतिहासिक पुरतक, जो आठवीं से दसवीं शती तक लिखी गई हैं, इसमें यशोवर्मन् एवं ललितादित्य की प्रतिद्वन्द्विता का वर्णन है।^A

इस प्रकार हर्ष की मृत्यु के बाद जिस कन्नौज का इतिहास धूमिल हो जाता है, यशोवर्मन् ने उसके पूर्वगौरव को पुनर्जागिरित किया। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यशोवर्मा अकस्मात् उदित होने वाला एक व्यक्तित्व था, जो थोड़े समय के लिए चमक दिखाकर फिर अस्त हो गया? अथवा किसी प्रतिष्ठित घराने का था।

वंश :—

गौडवहो के रचयिता वाक्पति ने चन्द्रवंश के अलंकाररूप में इसकी प्रशंसा की है—शशि द्युतियुगलकम् शिष्यन् इव कथयन् यस्य तारानुसारनिर्गतकलंकवलयेन समुद्भवो निजकविम्बेन ।

१०६५—वंशो तस्य रजनी रमकास्य पुरा प्रतिष्ठिता यशोवर्मणो यो तेजोमेषः प्रणामः ।

इसके अनुसार यशोवर्मन् क्षत्रियवंशीय था। इसकी पुष्टि गौडवहो में अन्यत्र भी हुई है—

निवर्तितनिःशेषभुवनदुर्स्तोर्मिनिन्दितः सहेत्वः श्रीयशोवर्मेति नाम दिक्प्रतिलग्नो गुणो महोनाथः (पद ३१-३२)

इस काव्य में यशोवर्मा को हरि, केशव एवं विष्णु के समस्त रूपों में वर्णन किया है। अतः प्रथम मतानुसार यशोवर्मा क्षत्रिय था। श्री कर्निघम वर्मन् नामान्त होने से इसे मौखरी मानते हैं (ग्राई० सर्व० रिपोर्ट, १५, पृष्ठ १६४)। यह कहते हैं कि इस वंश ने हर्ष के पहले राज्य का भोग किया। हर्ष की मृत्यु के बाद पुनः इनके वंशजों ने राजगढ़ी पर अधिकार करके अपने को प्रतिष्ठित किया। इनमें शक्तिशाली था यशोवर्मन् (एन० २०, कैलकेटा रिप्पू, फरवरी १६२८) मौखरी वंश के वर्मनों में एक और नाम आता है, जो मगध के आदित्यसेन और नेपाल के शिवदेव का समकालीन था—भोगवर्मन्।

यशोवर्मन् का ऐतिहासिक मूल्यांकन

(इण्ट० एण्ट०, ९, पृ० १७१)। भोगवर्मन् के लिये यही कहा जाता है कि हर्ष की मृत्यु के बाद इसने कन्नौज पर दखल कर लिया। लेकिन इसमें हम यह तर्क दे सकते हैं कि वर्मन् नामान्त होने से ही वह मौखरी होगा यह कैसे? इतिहास इस बात का साक्षी है कि राजपूतवंशों में वर्मन् नामान्त राजा हुये, जैसे पल्लव आदि, वे तो मौखरी नहीं थे? पुनः भोगवर्मन् और यशोवर्मन् के बीच क्या सम्बन्ध था, इसके लिये भी हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। अपितु इतना हम कह सकते हैं कि हर्षचरित में आया है कि सूर्यवंशी राज्यश्री के साथ सोमवंशी ग्रहवर्मन् का विवाह हुआ। यहाँ वर्मन् सोमवंशीय उद्घृत है। ठीक यही चीज हम गौडवहो में पाते हैं, जहाँ यशोवर्मन् को चन्द्रवंशाल-कार कहा है।

जैन ग्रन्थ वप्पभट्ट सुचरित यशोवर्मन् को मौर्यवंशीय मानता है [(जे० वी० वी० आर० एस० एस०, संख्या ३, मई १९२८, पृष्ठ १०२) — वर्ममौर्यमहावंशे संभूतस्य महद्युतेः । श्रीचन्द्रगुप्तभूपाल-वंशमुक्तमणिश्चियः कान्त्यकुब्जयशोवर्मन्] । यही मत जैनप्रभावकचरित का भी है, जिसने वंश के लुप्त गौरव को फिर से स्थापित किया । लेकिन मौर्य राजाओं में कहीं वर्मन् नामान्त नहीं मिलता, इसलिये इसे स्वीकार करने में आपत्ति है । प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर इतना मान्य हो सकता है कि यशोवर्मन् किसी प्रतिष्ठित वंश से सम्बन्धित था, एक महान् व्यक्ति था और प्राचीन आदर्श का अनुसरण करता हुआ दिग्विजयप्रवृत्त था ।

तिथि :-

यशोवर्मन् से सम्बन्धित तीसरा सन्देहास्पद आधार है उसकी तिथि । डा० स्मिथ का कहना है कि यशोवर्मन्, कन्नौज की राजगद्दी पर ७२५-३१ ई० के मध्य रहा (जे० आर० ए० एस० (लन्दन), १९०८, पृष्ठ ७७५) । हर्ष की मृत्यु के पश्चात् कन्नौज का शक्तिसम्पन्न राजा यशोवर्मन् ही था । उसने ७३१ ई० में चीन में राजदूत भेजा । यह कार्य गद्दी पर आने के बाद ही हो सकता है । अतः इस आधार पर यह माना जा सकता है कि यशोवर्मा ७२८ ई० के लगभग गद्दी पर आसीन हो चुका था । यह वह समय था जब चीनी सम्राट भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर अपना प्रभाव-विस्तार करने की कोशिश कर रहा था । चीनीनरेश ने काश्मीरराज चन्द्रापीड़ को ७२० ई० में सम्मानित किया तथा उसके तेरह वर्ष पश्चात् उसके भाई मुक्तापीड़ को भी इसी तरह सम्मान दिखाया । इसी तथ्य के आधार पर डा० स्मिथ यह कहते हैं कि कन्नौजनरेश इस घटना से अवश्य ही परिचित था एवं चीनराजा से सम्बन्ध जोड़ने में प्रयत्नशील था (जे० आर० एस०, लन्दन, १९०८, पृष्ठ ७८४) ।

इस दिशा में पाँच चीनी पुस्तकों का विवेचन भी किया जा सकता है, जो आठवां से दसवां शताब्दी तक लिखी गई। इसमें यशोवर्मन् एवं ललितादित्य की प्रतिद्वन्द्विता का वर्णन है (जर० आफ इण्ड० हिस्ट्री, १९६७, भाग १, पृष्ठ १६१)। इसमें वर्णित है कि चन्द्रापीड़ ने ७३१ ई० में ताँग दरबार में राजदूत भेजा। वह अरबों के विरुद्ध सहायता का प्रार्थी था (कल्हण यह तिथि ६८१ ई० देता है)। चीनी आधार पर ललितादित्य की तिथि इसके बाद है। अतः समकालीन होने के नाते यशोवर्मा की तिथि भी बाद में ही होगी। इसमें एक स्थान पर आता है कि मध्य भारत के राजा ने ७३१ ई० में चीनी दरबार में राजदूत भेजा। यह राजा यशोवर्मा ही था, ऐसा संभावित है। दूत-प्रेषण राज्यारोहण के बाद ही संभव है। अतः यशोवर्मा का राज्यारोहण ७२८ ई० के लगभग ले सकते हैं (राज० तर०, पुस्तक ४, पद १३४, पृष्ठ ८९)। श्री आर० एस० त्रिपाठी कहते हैं कि यदि यशोवर्मा का राज्यकाल ७२५-४२ ई० के बीच रखते हैं तो कम भ्रान्ति की आशा होगी (हिस्ट्री आफ कन्नौज,

पृष्ठ २००)। अन्य विद्वत् वर्ग के मतानुसार घटनाओं एवं परिस्थितियों का अवलोकन कर उसे ७२० से ७५५ ई० में रखते हैं। (जर० राय० एस० सोसा०, १९०८, पृष्ठ ७८, आर्क० सर्व० आफ इण्ड०, रिपो० III, पृष्ठ १३५, एपि० इण्ड०, ३४, पृष्ठ २४७)।

अब हम तिथि का विवेचन राजतरंगिणी के आधार पर करेंगे। कार्कोटिवंशीय राजा ललितादित्य ने एक बृहद् साम्राज्य का निर्माण किया। वह शत्रु के लिए आतंक स्वरूप था, जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन युद्धों में विताया (जे० आर० ए० एस०, लन्दन, १९०८)। उसने कन्तीज के यशोवर्मन् पर भी आक्रमण किया, जिसके फलस्वरूप यशोवर्मन् की शक्ति क्षीण हो गई। इससे इतना तो स्पष्ट है कि दोनों समकालीन थे। ललितादित्य की तिथि राज तर० के अनुसार ६९५ ई० है, जिसने ३६ वर्ष राज्य किया। कनिधम के अनुसार इसमें ३१ वर्ष का अन्तर है। बुलहर आदि इसके समर्थक हैं और ललितादित्य की तिथि ७२४ ई० मानते हैं। ललितादित्य का यशोवर्मन् पर आक्रमण राज्यारोहण के बाद ही अवश्य हुआ होगा, अतः यह तिथि ७४० ई० ली जा सकती है।

जैन साक्ष्य के अनुसार यह तिथि ७४३ ई० है। प्रबन्धकोष के रचयिता राजशेखर एक कदम और आगे रखते हैं। इनके अनुसार एक जैन साधु वप्पमहि ने यशोवर्मन् के पुत्र एवं उत्तराधिकारी आमराज को वि० सं० ८०७ में जैनघर्म में दीक्षित किया तथा उसके राज्यारोहण के बाद वि० सं० ८११ में उसने अपने गुरु को “सूरि” की उपाधि दी। इससे हम यही कहेंगे कि यशोवर्मा की अन्तिम तिथि वि० सं० ८०७-११ अर्थात् ७५०-५४ ई० के बीच होनी चाहिये। अतः सुविधानुसार उसे ७५२ ई० माना जा सकता है। इस प्रकार सर्वमतों के विवेचन से हम इसी निष्कर्ष को मान सकते हैं कि यशोवर्मन् की तिथि ७२५-५२ ई० के मध्य रही होगी।

- A. 1. Memories of Hin Chaos pilgrimage to five regions of India.
(७२७ ई० में भारत आया था)
- 2. Chin-Tang-Shu (618-906)
- 3. Tang-Hin-Yao.
- 4. Tse-fu-Yuan-Kuci.
- 5. Hsin-Tang-Shu.

नैषधे पदलालित्यम्

डा० मुकुन्दमाधव शर्मा
गौहाटी

नैषधे पदलालित्यम् इत्याभागकम् अन्यतमस्य सुप्रसिद्धस्य उद्भटश्लोकस्य तृतीयचरणरूपेण
समुलसति । स च श्लोकः ।

उपमा कालिदासस्य भारवेर्थगौरवम् ।
नैषधे पदलालित्यं माधे सन्ति वयो गुणाः ॥ इति ।

अस्य श्लोकस्य तावत् केऽपि पाठमेदाः सन्ति । तथा हि—

दण्डनः पदलालित्यं भारवेर्थगौरवम् ।

उपमा कालिदासस्य माधे सन्ति वयो गुणाः ॥ इति ।

उत्तररामचरितटीकायां घनश्यामेन गृहीतः पाठः । विशेषतस्तु नैषधे पदलालित्यम् इत्यस्य
स्थाने दण्डनः पदलालित्यम् इति पाठः बाहुल्येनोपलभ्यते । अस्मिन् निबन्धे आदौ पदलालित्यम् इत्यस्य
आशय परीक्षय तदनु कतरः पाठः ज्यायान् इति विचारयिष्यते ।

पदलालित्यस्य पारिभाषिकत्वम्

ललितस्य भावः लालित्यम् । सौन्दर्यम् इति यावत् । तदेवं यथाकथच्चित् शोभाशालित्वम्
एव पदलालित्यम् इत्यापातलभ्योऽर्थः । सति चैवं साधारण्येन यमकानुप्रासादिसद्भावादेवैतत् पदलालित्यं
समुलसेत् । तथा हि—

अनुममार न मार कथं नु सा रतिरतिप्रथितापि पतिव्रता ।

विरहिणीशतघातनपातकी दयितयापि तथासि किमुज्जितः ॥ (नै. ४.७६)

इत्येवमः दिषु श्रवणामृतमसृणेषु पद्मोद्धु साधारणभावेनोपलब्धस्य पदलालित्यस्य बाहुल्यमस्तीति
न केनाप्यपलब्ध्यते । तथापि अस्मिन् सन्दर्भे पदलालित्यशब्दस्य कश्चन पारिभाषिक एवार्थोऽनुसन्धेयः ।
मन्मते उपमा कालिदासस्येति श्लोके उपमाऽर्थगौरवरूपयोः पूर्वोक्तयोरुभयोरपि पारिभाषिकत्वे सति
पदलालित्यस्यापि पारिभाषिकत्वमवश्यस्वीकार्यमस्ति ।

पारिभाषिकशब्दरूपेण पदलालित्यस्य तात्पर्यम्

काव्यालंकारसारसंग्रहे (१.७) भट्टोद्भूटः परुषा-उपनागरिका-ग्राम्याभेदेन वृत्तिवयं स्वीकरोति ।
वृत्तिभेदेन चानुप्रासस्यापि त्रैविध्यमुरीकृतम् । निर्दिष्टवर्णविशेषाणां समावेशेन तत्तद् वृत्तिरा-
विर्भवति । यदुक्तं—

सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्टेतासु वृत्तिषु ।
पृथक् पृथग्नुप्रासमुशन्ति क्वयः सदा ॥
उपनागरिकावृत्यनुकूलवणीन् निर्दिश्य आह—

सरूपसंयोगयुतां मूर्धन वर्गन्त्ययोगिभिः ।
स्पर्शयुतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः ॥ (१.५) इति ।

“सरूपाणां वणीनां ये संयोगाः कक्ष-प्प-च्च-इत्यादयः तैर्युक्ता तथा वर्गन्त्यै-डै०-ज-ण-न-मैः झै-च्च-एट-न्त-म्प-इत्यादिरूपतया उपरि ये युक्ताः कादयो मकारान्ताः स्पर्शाः तैर्युक्ता उपनागरिका वृत्तिः । एषा खलु नागरिकया विदर्घीजुषा वनितया उपमीयते तत उपनागरिका ।” इति प्रतीहा-रेन्दुराजस्य व्याख्या । तस्यां वृत्तावुपनिवद्धः उपनागरिकानुप्रासः इति आशयः । प्रतीहा-रेन्दुराजप्रदत्त तदुदाहरणं यथा—

सान्द्रारविन्दविन्दोत्थमकरन्दाम्बुविन्दुभिः ।
स्यन्दिभिः सुन्दरस्यन्दं नन्दितेन्दन्दिरा क्वचित् ॥

अत दकाराख्यः स्पर्शो न-कारेणोपरिस्थितेन युक्तः वारं वारमुपस्थापितः इयमेवोपनागरिकावृत्तिः अभिनवगुप्तपादादिभिः ललितेति नामान्तरेणाप्यभिधीयते । यदुक्तमभिनवगुप्तपादेन—

“अनुप्रासानामेव दीप्तमसृणमध्यमवर्णोपयोगितया परुषत्व-ललितत्व-मध्यमत्व-स्वरूपविवेचनाय वर्गन्त्रयसम्पादनार्थं त्रिसोऽनुप्रासासातयो वृत्तय इत्युक्ताः वर्तन्तेऽनुप्रासभेदा आस्तिति ।……… मसृणानुप्रासा उपनागरिका ललिता । नागरिकया विदर्घया उपमितेति कृत्वा ।” इति ।

(लोचनटीकायाम् आनन्दवर्धनस्य ‘तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः’ इति दलस्य व्याख्याम् ।)

एतदनुसारं यस्मिन् काव्ये पदेषु ललितावृत्तिरूपलभ्यते तत्रैव पदलालित्यमस्तु । अर्थाद् भट्टोद्धट-प्रतीहा-रेन्दुराजाभ्यां निर्दिष्टानां वर्णविशेषाणामुपस्थितिरेव पदलालित्यशब्दस्य पारिभाषिकार्थत्वेन स्वीक्रियतामित्यस्माकं मतम् ।

ललितावृत्यनुकूलाः वणीः

भट्टोद्धटानुमताः ललितावृत्यनुकूलाः वणीः प्रतीहा-रेन्दुराजेन सोदाहरणं समुद्दिष्टाः । त एव वणी अभिनवगुप्तपादेनापि ललितावृत्यनुकूलतया उरीकृता इत्यनुमातुं शक्यते । तत्र कि मानमिति चेत् सरूपसंयोगेति भट्टोद्धटश्लोकः तेन लोचनटीकायां स्वमतसमर्थनाय समुद्दृतः अपिच प्रतीहा-रेन्दुराज एव भट्टोद्धुराजापरनामा अभिनवगुप्तस्य गुरुरासीदित्यलं बहुना । मम्भटभट्टेनापि उपनागरिकापरुषा-कोमला चेति त्रिसः वृत्तयः स्वीक्रियन्ते । तदनुसारं वृत्यनुप्रासः त्रिधा विभज्यते । तन्मतेन “माधुर्यव्यञ्जकैवर्णैरुपनागरिकोच्यते” (का० प्र०, ६.८०) । माधुर्यगुणनिर्णयप्रसङ्गे त एव वणी विस्पष्टं निर्दिश्यन्ते “मूर्धन वर्गन्त्यगा स्पर्शाः अटवर्गा रणौ लघू” इति (का० प्र० ८.७४ क) । मम्भटभट्टेन प्रदत्ते उपनागरिकायाः उदाहरणे ज्ञ इति संयुक्तवर्णस्य तथा न्त इति संयुक्तवर्णस्य अनुप्रासः स्फुटमुपलभ्यते । तत्रोदाहरणम्—

अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्गचाः ।
कुर्वन्ति मूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तितानि ॥ इति ।

भटोऽद्रूटेन सह मम्मभट्टस्य तावदयमस्ति भेदः— यत्र पूर्वतरः सरूपसंयोगं क्रु-प्प-प्रभृतिरूपं स्वीकरोति, ट-वर्गं च न निषेधति, तत्र अवरः सरूपसंयोगं न स्वीकरोति ट-वर्गं च निषेधति इति । अग्निपुराणे चोपनागरिका नुकूलतया एका मधुरा वृत्तिः स्वीक्रियते यत्र न-वर्णं विहाय अन्येषां सरूपसंयोगो न स्वीकृतः किन्तु ट-वर्गपरिहारोऽपि न दृश्यते । यदुक्तम्—

मधुरायाश्च वर्गन्तिदद्यो वर्ग्या रणी स्वनौ ।

हस्वस्वरेणान्तरितौ संयुक्तत्वं न-कारयोः । (ग्र० पु०, ३४३-३)

साहित्यदर्पणेऽपि मम्मटानुसारमेव माधुर्यव्यञ्जकवर्णनां व्यवस्था । यदुक्तम्—

मूर्धिन वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडान् विना ।

रणी लघू च तदव्यक्तौ वर्णाः कारणां गताः ॥ (सा० द०, ८-३)

वैदर्भीरीतिप्रसङ्गे विश्वनाथकविराजेन विस्पष्टमुच्यते—

“माधुर्यव्यञ्जकैवर्णै रचना ललितात्मिका” इति (सा० द०, ९-२ क) ।

वैदर्भीमाधुर्ययोरभयतापि—

अनङ्गमङ्गलभुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः ।

जनयन्ति मुहुर्यनामन्तः सन्तापसन्ततिम् ॥ इत्येकमेवोदाहरणम् ।

विश्वनाथप्रदत्तं ‘लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्’ इति माधुर्यस्य द्वितीयमपि उदाहरणमुभयतैव सङ्गच्छतेतराम् इति किमु वक्तव्यम् । तदेवंक्रमेण मम्मटेन या उपनागरिका इत्युच्यते, सैव दर्पणाकारेण ललिता इत्यभिधीयते । अतस्च, पारिभाषिकशब्दरूपेण स्वीकृतस्य पदलालित्यस्य स्वरूपद्वयमाविर्भवति । तत्र भटोऽद्रूटसमर्थिता उपनागरिकावृत्तिः प्रथमं स्वरूपम् । सैवोपनागरिका अभिनवगुप्तेन ललिता इत्युच्यते । तत्र सरूपसंयोगस्तथा वर्गान्त्यवर्णनां स्पर्शः संयोगश्च विशेषणोपलभ्यते । मम्मटभट्टाभिमता उपनागरिका च पदलालित्यस्य द्वितीयं स्वरूपम् । इयमेवोपनागरिका दर्पणाकारेण ललिता इत्यभिधीयते । तत्र वर्गान्त्यवर्णनां स्पर्शः सह संयोगः रण्योः हस्वस्वरालिङ्गितत्वं ठठडवण्णनामभावश्चेति विशेषाः ।

नैषधचरिते पदलालित्यस्य बाहुत्यम्

नैषधीयचरिते च भटोऽद्रूटसमर्थितायाः ललितावृत्ते: बाहुत्यं विस्पष्टमाविर्भवति । एतच्चानुपदमेवोदाहरणैः स्फुटीभवेत् । तथा हि प्रथमसर्गस्य पञ्चाशीतिसंख्यकात् श्लोकात् चतुर्नवतिसंख्यक-इलोकपर्यन्तं पदलालित्यं निरन्तरमुपलभ्यते । तत्र प्रथमश्लोकस्तु—

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः ।

दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥ इति ।

अत्र मूर्धिन वर्गान्त्ययोगात् पदलालित्यम्—

महललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम् ।

स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्शमालुरफलं पचेलिमम् ॥

इत्यन्तिमे इलोके सरूपसंयोगेन पदलालित्यम् । अत्रायं प्रश्नः—ननु विश्वनाथकविराजादिसमर्थितायां ललितायां ट ठ ड वर्णाः न स्युः । किन्तु स्मितशोभिकुड्मला इत्यत्र ड-वर्णं उपलभ्यते इति तत् कथम् ? उच्यते— नवा लतेति पद्मे प्रथमाधृं एव पदलालित्यमस्तु । यत्र द्वितीयार्थं ड-वर्णं उपलभ्यते तत्र

पदलालित्यं न स्वीक्रियताम् । अथवा भट्टोद्भृटेन ट-ठ-ड-ठ-वर्णाः कण्ठतो न निषिद्धा, इति कृत्वा, नैषधे पदलालित्यम् इत्याभाराके भट्टोद्भृटाभिमतमेवोपनाशरिकास्वरूपमुरीकृतम् । ततश्च-

तटान्तविश्रान्ततुरज्जमच्छटस्फुटनुविम्बोदयच्चुम्बनेन (११०९)

इत्येवमादिस्थलेषु ट-वर्गमनपहायापि वर्गान्तयोगस्य बाहुल्येनोपस्थापनाद् भट्टोद्भृटसमर्थित-
मेवात्र पदलालित्यभाविर्भवति । किञ्च-

उत्तुज्जमज्जलमृदज्जनिनादभज्जीसर्वानुवादविधिवोधितसाधुमेधाः ।

सौधस्तजः प्लुतपताकतयाऽभिनन्युर्मन्ये जनेषु निजताण्डवप्रणिष्ठितत्वम् ॥ (११०६)

इत्येवमादिषु स्थलेषु पदलालित्यस्य अनलपप्रयोगदर्शनात् स्वेच्छापूर्वकतया एव श्रीहर्षो नैषधे शोभाधायकत्वेन पदलालित्यं प्रयुक्तवान् इति प्रतिभाति । अतश्च नैषधे पदलालित्यम् इत्याभारणकस्य
सार्थक्यं नितान्तमनपहृतवीर्यं स्यत् ।

दण्डिन इत्यस्य स्थाने नैषधे इति पाठस्य ज्यायस्त्वम्

दण्डिनः अवन्तिसुन्दरी-दण्डकुमारचरितयोरपि पूर्वोक्तरूपं पदलालित्यम् आविर्भवेत् । उपमा
कालिदासस्य इति पद्ये दण्डिनः नामग्रहणेन कालिदासादीनां माघपर्यन्तानां कवीनां कालिकपौर्वापर्य-
मव्याहृतं वर्तते । नैषवग्रहणो श्रीहर्षस्य माघपश्चाद्भ्रावित्वेन पौर्वापर्यविपर्ययः । तन्माभूदिति सुष्टूक्तं
दण्डिनः पदलालित्यम् इति चेत् तन्मास्मभ्यं रोचते । तथा हि माघ-भारवि-कालिदासानामत्र पद्यकाव्य-
विनिर्मातृरूपेणैव ग्रहणमिति प्रतिभाति । नैषधमपि पद्यमयमेव तेन नैषधस्थाने दण्डिनो नामग्रहणेन
मूलपद्यस्य सामञ्जस्यभज्जः । किञ्च कालिदास-भारवि-श्रीहर्षणां क्रमादुलिखितानां वालिकपौर्वापर्यम-
व्याहृतमस्ति । माघस्य विशेषप्रदर्शनाय एव एतक्लमवहिर्भूततया उल्लेखः न कथमपि पौर्वापर्यमज्ज-
दोषेणाशिलष्यते । ननु भवन्मतेऽपि कालिदासादीनां, त्रयाणां कवीनां, नामग्रहणे कृते कथं नाम श्रीहर्षस्य
तत्कृतग्रन्थनाम्ना परामर्शेन सामञ्जस्यभज्जः न स्यादिति चेदुच्यते-कालिदासादीनां खलु काव्यकर्तृत्वेनैव
प्रसिद्धिः । श्रीहर्षस्य तु खण्डनखण्डखाद्यादिवेदान्तग्रन्थप्रणयनेनापि प्रतिष्ठा । सति चैव मूलपद्ये
व्यावृत्त्य कविरूपेणैव श्रीहर्षमन्तर्भावियितुं तत्कृतकाव्यग्रन्थनाम्ना एव परामर्शः । किं वहुना, ‘माघे
सन्ति त्रयो गुणाः’ इत्यस्मिन्नशेषोऽपि ‘मधे माघे गतं वयः’ इत्यादिवचननिर्दिष्टदिशा माघपदेन माघका-
व्यस्यार्थात् शिशुपालवधाव्यस्य काव्यस्यैव ग्रहणमिति नैषधग्रहणं भूषणमेव न तु दूषणम् ।

वस्तुतस्तु साधारणभावेनावगतस्य पदलालित्यस्य सद्भावे सत्यपि पारिभाविकार्थे स्वीकृतस्य
पदलालित्यस्य दण्डिविरचितयोः काव्ययोः—

“तत्र वीरभटपतलोत्तरं गतुरंगकुञ्जरमकरभीषणसकलरिपुगणकटकजलनिधिमयनमन्दरायमाण-
समुद्धणभुजदण्डः”—इत्येवमादिस्थलेषु कादाचित्कतया वैरल्येनैवोपस्थितिर्न तु बाहुल्येन । नैषधीयचरिते
तु नितान्तवाहुल्यमिति तत्रैव पदलालित्यप्रशंसा सञ्जच्छतेतराम् इति शम् ।¹

१. मैविसकोनगरे समनुषिठते प्रथमायाम् अन्ताराछिट्र्यसंस्कृतचर्चायां १९८२ कृस्ताव्दीय-फेब्रुवारी-
मासस्य सप्तदशदिवसे वाचितोऽयं निवन्धः ।

The Bhairava Worship in India and Indonesia

Dr. B. N. Puri

Lucknow.

The worship of Shiva under the special (separate) form of Bhairava (fear) is of a comparatively late period.¹ Several statues of Bhairava have been found in India,² and two recovered from Sumatra³ and Java.⁴ The images in *ghora* or *ugra* form, not associated with any particular story narrating Shiva's exploits, are called Bhairava-Aghora, Raudra-Pasupati, Virabhadra, Virupaksha and Kankala. Bhairava sometimes described as *Brahmasirashchedakamurti*⁵ (of Shiva) implying his cutting is of one of the heads of Brahma. This aspect is not traced in any statue of Bhairava recovered so far. Those of this divinity found in northern India are in the form of the youthful one, known as Batuka—he is portrayed nude, terrific in appearance, with protruding fangs, rolling and round eyes, his hands holding a sword, a *khatvanga*, a *shula*, or a *kapala*. He usually wears wooden sandals, and is generally accompanied by a dog—his *vrhala*. Bhairava is also depicted in his *Kankala-murti*⁶ form, less terrific in appearance, and carrying on the prongs of his trident, the skeleton of Vishvakasena, the gate keeper of Visnu, who was killed by Shiva for refusing to admit him into the presence of his lord. The god in this form is usually nude, holding a *kapala* in one of his hands, and is sometimes accompanied by a frisking deer.

Among the statues of Bhairava recovered from nothern India, that from Khiching⁷ in Orissa, belonging to the early medieval period, shows armed deity, standing in a *dvibhang* pose a double-petalled lotus. On either side he is attended by a male and a female attendant. The face of the deity with its starting eyes and open mouth showing fangs, is moustached and bearded. The head is adorned with well-arranged rows of *jatas*. A kettledrum and a trident alone are recognizable. The pacific character of this terrific aspect of the God is depicted by the sculptor who has decorated the body with ornaments.

The many-armed Bhairava from northern Bengal,⁸ now in the Ausotosh Museum, Calcutta University, despite the defacement of the face, has many

weapons of destruction held by some of his far-flung arms. With the Shula in his right hand, he pierces it in the breast of the supine figure on which he stands in the *alidha* pose. There are two miniature figures—a male and a female—either side.

A four-armed figure of Batuka Bhairava, noticed by J. N. Banerji,⁹ is a youthful god wearing a skull-garland and a skull girdle advancing to left, with his dog licking at the severed head, holding a sword, a bell and a trident.

The Bhairava statues from the south, include that in cave XIX at Ellora,¹⁰ known as the *Dashavatara*. The statue carved in it is noted for its boldness and power. It is gigantic in size and is longing forwarded with threatening ferocity. The god holds up his elephant hide with the necklace of skulls (*mundamala*) falling below his loins, a cobra is knitted round him. His open mouth shows his long teeth, and he transfixes a victim with his trishula and holds another by the heads, with one of his left hands raising the damaru, rattling it with joy, while he catches the blood with which to quench his demonic thirst. Kali stretches her skeleton length below, with huge mouth, having a crooked knife in her right hand and stretching out the other with a bowl on the right. In front of the skeleton is seated Parvati and Ratnasura is higher up near the foot of the victims. This subject is carved in several cave temples at Ellora.

In Assam too, the figure of Shiva as Bhairava is found in different places.¹¹ According to the texts, he assumed this form to cut off the fifth head of Brahma. The image of Bhairava from Madana Kamadeva Parvat probably shows this aspect of the deity by the side of a Linga with four arms, wearing a garland of skulls round his waist, and accompanied by his Nandi. Two rock-cut figures of Bhairava are traced in the Kamakhya temple, one with eight hands and the other with four, shown with a flabby belly, a garland of skulls, and flames coming out of his head. The deity is nude and if shown standing on a prostrate body.¹² Besides these statues of Bhairava, a few others were recovered from Dhamnar, Osia, and Patan in Kashmir.¹³

The two statues of Bhairava from Sumatra and Java form a class by themselves. The one from Sumatra¹⁴ (Pedang Robjo) is supposed to be a Buddhist Bhairava or a portrait statue of the Sumatran King Adityavarman, or according to another interpretation it represents Kritanagar. From his inscriptions we get the impression that this king was himself ordained as a Bhairava. The god is standing on a naked man lying on his back with closed eyes and with his legs folded under his body. He is supported by a lotus cushion and a ring of eight skulls. These and the crescent moon are the sole motifs of the design of his loin cloth. Snakes are used as ornaments by the sculptor. A large

clip, shaped as a *Kala* head from which a bell hangs, adorns the belt. The god is two-armed and holds a big knife and a skull-bowl in his hands. Legs, arms, breast and cheeks are covered with hairs. The hair of the head is arranged in a high coiffure shaped like a large bulb. The image of akshobhaya in it indicates the Buddhist character of the deity. There is a flaming aureole around the head and a haloed sun at the back. The proper left side of the statue is broken off. The figure has large eyes.

The Bhairava statue from Simhasari in Java is in a dancing pose with a base formed by five skulls. The dog is at the back and probably the deity is riding on him. He is completely naked with the *khatgayaha* in his right lower hand, the kettle drum—*damaru* in his left upper hand, while the left lower one has a bowl probably containing something which the deity in his graceful mood might like to relish. The mouth is open with the protruding fangs. The garland of skulls adorns the belly and hangs down covering the thigh. The *kirita* or *mukuta* is also of skull. The deity is ornamented girdles and bracelets. This is the best specimen of Bhairava as a Brahmanical deity without any trace of Buddhist influence.

Literature and inscriptions from Java refer to the Bhairava cult forming part of Shaivism or Siddha cult. The Bendosari inscription mentions Bhairava, Saura, and Buddha sects. The *Tantu-Panggelavam*, a source of mythological stories—mentions different religious orders of ascetics. Specific mention is made of Shaiva, Saugata-Buddhist, and Bhairava sects with the addition of two more, viz, *Paksha Kasturi* and *Pakshatyaga* which were off-shoots of the Bhairava sect. It gives a detailed description of their sect which was widely prevalent in Java during the last days of Hindu rule. A fuller account given by Dr. R. C. Majumdar¹⁶ brings out the growing importance of the Bhairava sect, and it also indicates that any hard and fast distinction between the different sects was fast disappearing. Buddhism, Shaivism and Vaisnavism were all brought into association with the Bhairava cult which evidently arose out of them, and exercised supreme influence in its turn. In the *Kunjara Karna*, dated sometime between 12th & 14th centuries A. D. we find an identification effected between Shiva and Buddha. In the *Paratan*, King Kritanagara is described as Shiva, Buddha, and according to the testimony of the *Nagara Kritagana*, he died in the Shiva-Buddhaloka. According to Coedes,¹⁷ King Kritanagara, with his ardent zeal for Buddhism, carried this Tantric Buddhism under the form of *Kalacakra* to the neighbouring countries. This was developed in Bengal under the *Palas*, from where it was carried to Tibet, Nepal, and the Archipelago, ending in Java where it synthesised with the devotion to Shiva-Bhairava, in the cult of Shiv

Buddha. The faith in this deity was expected to redeem the soul from the process of death and re-birth.

A study of the history of the Bhairava cult in India and Indonesia on the basis of the available literature and icons would reveal interesting phases. It was a late Shaivite cult, with the divinity usually depicted in his youthful form as the protector of the universe (*bharana*), with death trembling before him (*Kalabhairava*). As *Amardaka*, he killed bad persons, while as *papabhakshaka*, the deity swallowed the sins of his devotee. The cult was associated with Tantrism. According to the *Brahmayamala*¹⁸ Ishvara communicated the secret knowledge to Shrikanavira, and the latter incarnating himself in a village called Karnavira, near Prayaga, communicated in his turn the *Tantras* in one hundred and twenty-five thousand *anushtubh shlokas* to various disciples. One of the recipients was a Bhairava who in his turn conveyed it to other Bhairavas. As a Tantric creed it was associated with Buddhism in its later phase. In Java it was traced both in its pure form associated with Shaivism, as is evident from the Singhasari, and also in the amalgamated form eliminating distinction between Shaivism and Buddhism. In a still later phase in India, Bhairava became a peasant personification of the field genius and was often confined with the *Bhumiya* form of the earth god. As a village deity he came to be worshipped in Bengal and Bombay, and throughout the agricultural districts of northern and middle India as far as the Punjab. As an attendant on Shiva with black dog Bhairava found a recognised place in Hindu temples.¹⁹

1. The Bhairava cult is a comparatively late phase. This is associated with the terrific or *ugra* forms, of Shiva, some of which do not seem to illustrate any particular Shaiva mythology. In this category mention may be made of Bhairava *Aghora*, *Virabhadra* and *Virupaksha* whose statues have been found. The Puranas explain the *Brahma Shirachedakamurti* of Shiva, associated with Bhairava. There, however, seems to be little real connection between the varying myths and iconic types. The Agamic texts enumerate as many as sixty-four Bhairavas divided in groups of eight, each one being headed by such names as *Asitanga*, *Ruru*, *Chanda*, *Krodha*, *Unmata-Bharava*, *Kapala*, *Bhishana*, and *Samahara*. They are the consorts or guardians of the sixty-four Yognis referred to in the Tantrik form of the Shakti worship. A class of Literature, called *Yamala*, associated with the development of the *Tantras*, is ascribed to the Bhairavas. One of the Principal *Yamala* texts, the *Brahma Yamala*, preserved in Nepal in a manuscript of A. D. 1052 gives a list of eight *Yamalas* and associates these with the eight Bhairavas-Svacchanda, *Krodha*, *Unmatta*, *Ugra*, *Kapalin*, *Jhankara*, *Shekhara*, and *Vijaya*. While the original Shiva *Tantras* or *Agamas* represent the

Rudra or Sadashiva traditions, the Yamalas represent the Bhairava tradition (The Cultural Heritage of India, Vol. IV, p. 216). Rajashekha in his *Karpuramanjari* refers to the cult of Bhairavanatha-possibly those sidhas who were the votaries of this deity.

2. Ref. A.S.I. An. Rep. 1905-06, p. 101, for the Bhairava image at Dhamnar; 1908-9, for that at Osia; 1915-16 for the one from Patan. Other Bhairava images are described in Banerji-Development of Hindu Iconography, pp. 465, 481-3, 495. D. N. Shukla mentions different forms of Bhairava as noticed in the Pratima-Lakshana (Vastushastra, Vol. II).

3. F. M. Schnitger, The Archaeology of Hindu *Sumatra*, p. 8 pe, XIII-XIV. The Statue of Sungei Langast. The Buddhist Tantrism of *Kalachakra* is said to be represented under the traits of Sun-Bhairava in this statue (Coedes-Les Etas Hindouises d' Indochine et d' Indonesie p. 404). See also Kempers-Ancient Indonesian Art plate 259, p. 87. Kempers also refers to the pedestal of another statue which seems to be connected with this Bhairava. (Pl. 260). This is from Pandang Rotjo. The *Tantu Panggeleran* gives a detailed account of the Bhairava sect suggesting its wide prevalence in Java during the last days of Hindu civilisation. (Pp. 171 ff; Maiumdar. *Suvaranadvipa* II, p. 133).

4. This statue of Bhairava is from Singhasari in Java (No. 1403-1680 of Rijks museum voor volkenkunde-Leiden). See also H. B. Sarkar's paper on Shiva-Buddha in old Javanese Records' Indian Culture, Vol. I, pp. 284-6). In the Paraton, king Kritanagara is described as Shiva-Buddha, and according to the *Nagara Kritagama* (435) he died in the Shivabuddha Loka. Statues of kings have been discovered in Java which are half-Shaivite and half-Budhistic.

5. Rao, Elements of Hindu Iconography, Vol. II, part I, p. 174 ff; No statue of Shiva depicting this scene has been found so far either in India or in South-east Asia Shirashchcheda, as a Tantric discipline in association with Vinasikha, nayottara and Sammoha was connected with the cult of Devaraja in ancient Kambujadesa. (Coedes-op. cit., p. 171) eg. my Sudurpurva men Bharatiya Sanskriti aur Itihas.

6. Rao : Op. cit., Vol. II, pp. 105 ff.

7. Banerji-Development of Hindu Iconography, p. 487, 66.

8. Ibid.

9. Ibid, p. 482.

10. Yazdani—Early History of the Deccan, pp. 754-5. Plate XXXI (6). Bhairavas are also associated with the cult of the Mother—Goddess Durga known as Korraivai in the South. According to the *Manimekalai*, a Tamil epic of the sixth century A.D., priests garbed as Bhairavas, officiated in the worship of this Mother—Goddess (Cultural Heritage of India, Vol. IV, p. 252)

11. P. C. Choudhary-Early History of Assam, p. 462.

12. A. S. I. An. Rep. 1923-4. ff. 80-81; 1930-34, p. 129.

13. Op.cit. Rep. no. 2 for references.
14. Op.cit.
15. Op cit.
16. Majumdar, op.cit., pp. 132 ff.
17. Op.cit., p. 338.
18. Bagchi—Studies in the Tantras, p. 102-5.
19. Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. II.

आगमिकानुसन्धानालोके

बीजमन्त्राणां वैशिष्ट्यम्

डा० रुद्रदेव त्रिपाठी
नई दिल्ली

मन्त्रमाहात्म्यम्—

अस्ति मन्त्रसाहित्यमतिविपुलम् । यावन्तो हि देवास्तावन्त एव मन्त्रा इत्येव न, अपि तु प्रत्येकं देवरथाप्यनेके मन्त्रा इति कारणात् त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवानां सप्तकोटिमहामन्त्रा इत्युच्यते । तत्रापि स्वस्वाराध्यस्वरूपादिभेदेन, कालभेदेन, कर्मभेदेन ततोऽप्यानन्त्यं सिद्ध्यति । प्रतिमन्त्रं च तदीय-बीजमन्त्रं विना तावत् तेजोमयं न भवति तदपि मन्त्रशास्त्रेषु प्रतिपादितं प्रतिभाति । तत्रापि कर्मणा-मात्रारेण निर्णीतिपथमानीतानि तानि तानि बीजाक्षराणि मन्त्रस्यादौ मध्येऽन्ते प्रत्यक्षरानन्तरं वा संयोज्य जापका मन्त्रस्फूर्तयेऽहरहश्चिन्तयन्तो बीजमन्त्राणामपि माहात्म्यं सुविपुलं विस्फुरितं च द्योतयन्ते ।

बीजस्य मन्त्रस्य च मध्ये कस्य प्राथम्यम् ?

एवं किल मन्यते यद् यथा कस्यापि वृक्षस्य प्ररोहः कुत्रापि बीजं विना न सम्भाव्यते तथैव कस्यापि बीजस्य प्राप्तिरपि वृक्षाद् ऋते न सम्भवा । सेयं धारणा वृक्षबीजयोः सम्बन्धेऽन्योन्याश्रय-न्यायमवलम्बते तथाऽस्या अन्यो विकल्पोऽपि न प्रतीयते । परं बीजाक्षराणां मन्त्राणां च विषये तथा कथनं न रुचिसहम् । यतो हि वागात्मिकायाः सृष्टेरारम्भे नादात्मकस्य तन्वस्याविर्भूतिरनेकैः प्रमाणैः प्रत्यक्षसिद्धाऽस्ति ।

उदाहरणाय—‘विष्णोर्नभिकमलमाश्रित्य स्थितस्य ब्रह्मणो जिज्ञासारूपिणी मावना समुत्पन्ना, यदहृं कोऽस्मि, किमहृं करवाणि, कश्च मामाविश्वकार ? एतेषां प्रश्नानां समाधानाय व्याकुलितस्य विश्वसृजः सन्तोषाय सर्वतः प्रथममशरीरिण्या वाण्या नादात्मकेन तत्त्वेन ततः परं च प्रणवरूपेण य उपदेशः प्रदत्तः स एव प्रणव-पल्लव-रूपया गायत्र्या प्रतिभासितः ।’ ततश्च निरन्तरं पल्लवनं प्राप्य वेद-ब्राह्मणारण्यकोपनिषदागम-पुराणादिभावं समासादितवान् । एवं प्रारम्भिको बीजरूप उपदेश एवाद्यावधि विस्तृति गतो गमितो वेति तद्विदां निश्चितं मतम् ।

अन्यतश्च परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी वेति चत्वारोऽपि वाचां प्रकाराः क्रमशो बीजरूपेण प्रवृत्ता विस्तारमासादिता इत्यपि विवेचयन्ति विपश्चितः । सनातनानां शास्त्राणामपि तादृश्येव धारणा विद्यते, यत् परमात्मा—‘एकोऽहं बहु स्पृष्टम्’—इत्यात्मिकया स्वेच्छा शक्त्याऽस्तिलाया अपि मृष्टेर्वैज-रूपेण विराजमानायाः पल्लवनं विदधातीति । इयं च वार्ता ‘लूता-तन्तु’-न्यायेनापि सत्यतां विभर्ति ।

यथा लूता स्वेच्छयाऽवासाय तनुजालकं निवध्नाति प्रान्ते च स्वयं भुक्त्वा तत्संहरतितयैव परमात्म-
पि विश्वं सृजति संहरते च । सांखदर्शने महदादितत्वानामपीदृश्येव कथा । अत एवेदं स्पष्टं यद्
‘बीजमेव प्रारम्भे समुत्पन्नं तदीया च सृष्टिरेव मन्त्ररूपा विस्तृतिरिति ।’
बीजशब्दस्य व्युत्पत्तिर्थं

‘वि’ उपसर्गकाद् ‘जनि’ धातोः—‘उपसर्गं च संज्ञायाम्’ इत्यनेन ड-प्रत्यये
‘अन्येस्वपि दृश्यते’ इत्यनेन चोपसर्गस्य दीर्घत्वे ‘बीज’ इति सिद्ध्यति । तदाऽस्य शब्दस्यार्थः—
‘विशेषेण जायते कार्यरूपेणोति’ भवति । यद्वा—‘वि-उपसर्गकाद् ईज्धातोरच्चप्रत्यये-‘विशेषेण ईजते
कुर्क्ष गच्छतीति बीजः ।’ वबयोरभेदाद् बीज इति, अथवा ‘बीजते गच्छति गम्भीशयमिति’ किवा
‘बीज-प्रजननकान्त्यसनखादनेषु’ इति धातोरच्च ‘बीज’ इति सम्पद्यते । माववस्तु ‘बीजः स्यात् प्रेरण-
क्रिया’ इत्यकथयत् । एतदनुसारं—‘बीजयते प्रेरयते हि कर्मकरणायेति बीजम्’ इति सिद्ध्यति । ‘तद्वा
स्थास्नु चरिष्णु च भवति शक्तिरूपमिति’ कुल्लूकमट्टः । ‘अङ्कुर’ इति महाभारते । ‘तत्त्वाधान’-
मिति मेदिनीकोशकारः ‘कारण’मिति परे । एवं सत्स्वपि नानार्थेषु बीजशब्दस्य तातानर्थो वास्तविको
नोपलभ्यते । यथा हि लोके प्रचलितोऽर्थः किल—‘कस्यापि वस्तुन उत्पत्तेर्मूलसाधन’मिति । ‘सति
बीजवपतेऽङ्कुरप्ररोहो भवती’ति सर्वसिद्धो राद्वान्तः ।

परमेतस्मात् चिन्तनादिदं ज्ञायते यदुपर्युक्तेष्वर्थेषु बीजशब्दस्य विपुलं माहात्म्यं विद्यते । अत
एव वयमिदमप्यनुमिनुमो यदस्य निष्पत्तये ‘शिव-सिंहादिशब्दानामिव वर्णव्यत्ययविधिरपि भवितु-
मर्हति ।’ तथा हि-शिव-शब्द-व्युत्पादनाय ‘वश-कान्ता’वित्यस्य धातोः, सिंह-शब्द-मिद्ये ‘हिसि-
‘हिसाया’मिति धातोः कश्यप-शब्दस्य साधनाय च पश्यकशट्टदस्य यथा वर्णव्यत्ययप्रक्रिया स्वीक्रियते
निरुक्त्यश्च क्रियते तथैव ‘जीव’शब्दस्य वर्णव्यत्ययतामाश्रित्य ‘जीवो बीज इति’ साधयितुं शब्दयते ।
वबयोरभेदेन बीज एव बीज इति रूपेण प्रयुज्यते । सौन्दर्यलहर्या लक्ष्मीधराटीकायां ‘शिवः शब्दत्वा
युक्तो यदि भवति’ इत्यादि पद्यस्य टीकायां शिवशब्दव्युत्पत्ती लक्ष्मीधराचार्येण प्रोक्तः, यथा—

हिसिधातोः सिंहशब्दो वशकान्तौ शिवः स्मृतः ।

वर्णव्यत्ययतः सिद्धौ पश्यकः कश्यपो यथा ॥

इत्थं शिवशब्दसाधनवदेव ‘जीव-प्राणधारणे’ इत्यस्माद् धातोर्वर्णव्यत्ययतपा ‘बीज’शब्द-
निष्पत्तौ सत्यां बीजस्य ‘प्राणतत्त्व’मित्यर्थं उपलभ्यते । अयञ्चार्थः समुचितोऽपि प्रतिभाति । यतः
कस्यचिदपि पल्लवितस्य पुष्पितस्य फलितस्य वा वस्तुनः प्राणतत्त्वं बीजमेव भवति । मन्त्राणां पल्लव-
पुष्प-फलनेष्वपि बीजाक्षराणामेव प्राणतत्त्वता विनिहिता विद्यते । अत इदमुक्तं भवति—

प्राणधारणाकार्थेन सिद्धं स्याद् जीवधातुना ।

वर्णव्यत्ययतो ‘जीवो बीज’रूपेण भासितः ॥ इति ।

बीजमन्त्राणां स्वरूपं प्रकारारूचं

बीजमन्त्राणां कि स्वरूपं कानि प्रकाराश्च ? इत्यस्य प्रश्नस्य समाधानाय केवलमियदेव वक्तु
मुचितं विद्यते यद्—‘यथा लौकिकानि बीजानि लघूनि भवन्ति तथैव मन्त्रमूलकानि बीजान्यपि
लघून्येव भवन्ति’ । प्रायो मन्त्रशास्त्रेषु बीजाक्षराणामेकैकत्वमेव प्रसिद्धम्, परं क्वचित् तस्मिन्
बीजाक्षरे शक्त्याधिक्यविधानायैकाधिकतामक्षराणां स्वररहितानां संयोजनमपि दृश्यते यानि कूटाक्ष

राणीति कथ्यन्ते । एवं बीजमन्त्राणां द्विभात्वं—(१) एकाक्षररूपं, (२) अनेकाक्षररूपं च प्राप्यते । यद् हि वयमेकाक्षररूपेण जानीमस्तस्मिन्नपि बुद्धिवैश्येन गुरुकृपया । चानेकाक्षरतां बोधयन्ति विपश्चितः । यथा हि— प्रणवे अ+उ+म् इतित्रिक निहितं विद्यते । ‘प्रणयकल्पा’ नुसारेण च प्रणवे बिन्दु-नाद-कला-शक्ति-अधंमात्रा-शान्तिरूपांशषट्कसहितं नवकमपि विभाव्यते ।^२

एवमेव ऐ—बीजे ‘ईङ्ग० अध्यग्ने’ इतिधातोः ईयते, अधीयते अनेनेति ‘ए’=बुद्धिः, तां माति=निर्माणं करोतीति ‘म्’—इत्येवं व्युत्पाद्य ‘बुद्धिकर्त्री शक्तिः’ एम् इति भवति, ततश्च भावे घनि ‘ऐ’ इति साधयन्ति ।

ही—बीजे च हरति निखिलं जगदिति ‘ह’=सकल-जगत्-संहर्त्री, तथा दीप्त्यर्थकाद् ‘ई’ धातोनिर्माणार्थक—‘मा’ धातोः स्वररहितस्य मकारस्य च योगाद् ‘ही’ बीजं विभावयन्त्याचार्याः । एवमस्य बीजस्यार्थः—‘सृष्टि-स्थितिदीप्तिकर्त्रीति’ भवति । एवमेवान्येऽपि बीज-मन्त्रा विविधैः प्रकाररूपत्याद्य भूयोभिरर्थे संवलिता निगृहृतत्वसहिताः प्रतिपचाः प्रतीयन्ते । यत्र-यत्र बीजेष्वेकाधिकान्यक्षराणि सम्मिश्रणि भवन्ति तत्र नैकेषामेकाक्षरवतां धातुनां साहाय्येन विस्वरणां व्यञ्जनानां समावेशः क्रियते ततश्च तेषां सिद्धिर्मवति ।

बीजमन्त्राणामर्थचिन्तन-विमर्शः

मन्त्राणां बीजमन्त्राणां वाऽर्थचिन्तने साधकानां मतद्वयं विद्यते । तत्र प्रथमं—‘तज्जपस्तदर्थभावनम्’ इति पातञ्जलयोगसूत्रानुसारमिष्टदेवस्य वाचकतामाश्रितस्य मन्त्रस्य बीज-मन्त्रस्य वा जपसमाकालमेव तत्तदर्थचिन्तनं कर्तव्यमित्यनुशासनम् । अथवा—

मनः सन्तोषणं शौचं मौनं मन्त्रार्थचिन्तनम् ।

अव्यग्रत्वमनिवेदो जपसम्पत्तिहेतवः ॥

— महर्षि व्य.सः—गायत्री व्याख्यायाम्

अथवा—

विधाय चाक्षरश्रेण्यां वर्णाद् वर्णं परस्परम् ।

शब्दार्थं चिन्तित मूयः कथ्यते मानसो जपः ॥ (तत्रैव)

तथा ‘जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् संशयः’ इत्याद्युक्तीनामनुसारेण मन्त्रादीनामर्थचिन्तनमावश्यकं भवति ।

परमन्यत्रागमेषु मन्त्रादिष्वक्षरबुद्ध्याऽर्थचिन्तनं दोषाय मन्यते । तथा सादृश्या बुद्ध्या च मन्त्रे स्थितं देवत्वं विलुप्यते । शावरादिलौकिकमन्त्रेषु कथनमिदं सत्यमपि सिद्ध्यति । यतो हि तत्र शावर-यावन-प्राकृतादिमन्त्रेषु बहवो मन्त्रा ईदृशाः सन्ति येषामर्थचिन्तने सति साधनापेक्षया वाधा एव समुत्पद्यन्ते । अतो यथा सङ्ग्रोतसाधनायां ‘ताना-दे-तोम्-तनन्’—इत्यादीन्यक्षराणि गायन्नपि स्वरसाधकस्तदर्थचिन्तन-पारवश्यं न स्वीकरोति तथैव मन्त्रजपेऽप्यर्थचिन्तनमनावश्यकं मन्वते सुधियः ।

तथापि मन्त्रजपकाले तदर्थचिन्तनविषये वयमेकं रहस्यं लभामहे-यद् अर्थचिन्तनेन मनसो नियन्त्रणं करुं शक्यते । नो चेत्—‘चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथिबलवद् दृढम्’ इति गीता चनानुसारं मनसो नियन्त्रणं विनाऽन्यान्यसाम्पातिकचिन्तनजन्यविकल्पानां वैवश्येन सर्वमपि जपादिकं निष्फलमेव सम्पद्यते । एवमिदं द्वितीयं मतमपि विचारसहमेव ।

प्राचों साधकानां दृष्ट्या 'मननफलमेव मन्त्रोऽस्ति । तत्रैतानि बीजानि मन्त्रत्वेनोपलःधानि तु महतां तपसां फलानि सन्ति । वैदिकतत्त्वानां विमर्शकः श्रीजैमिनि-मुनिरपि 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' इति सूत्रेण मन्त्राख्यां परम्परागत-प्रेरणया सम्प्राप्तां सूचयति । मन्त्राश्च 'वैदिकाः स्मार्ताः पौराणिकाः सम्प्रदायानुगतास्तान्त्रिकाः प्राकृताश्चेति भेदैवहुविधाः सन्ति ते च सर्वेऽपि परम्परताः प्राप्यन्ते । परम्परया प्राप्ता एव मन्त्राः साध्यानां सिद्धिप्रदाः सम्पद्यन्ते । तेषां च साध्यानां कर्मणां मिद्ये मनसो नियन्त्रणमत्यावश्यकं भवति । यथा हि शरीररक्षणायाहार आवश्यको विद्यते नाहाराय शरीर-धारणावश्यकता, तथैव मन्त्र-कर्मणी मनोनियन्त्रणायाहाररूपे स्तः । मनोरूपस्य तत्त्वस्य नियन्त्रणे सति चक्षुरादीनीन्द्रियाणि फलं प्रति विमुखानि भवन्ति तताश्च निरतिशय-सुखोपलब्धिं सानुकूला भवतीति ।

इथं मन्त्रार्थचिन्तनमावश्यकतां विभर्ति, यतः क्रियया साकं मानसिकं चिन्तनमपि प्रचलत् तिष्ठेत्, तथा मनो लघ्येतरेषु लाभेषु प्रसक्तं न भवेत् । बीजमन्त्राणामर्थचिन्तनेऽपि रहस्यमिदमेव निहितमस्ति । अर्थश्चायमनेकधा भवति । यथा—१—मावार्थः, २—सम्प्रदायार्थः, ३—नियमार्थः, ४—कौलिकार्थः, ५—सर्वरहस्यार्थः, ६—महातत्त्वार्थश्चेति । एतेषामर्थानां पद्धतिश्चेदृशी—यत्र हि केवलमक्षराणामेवार्थश्चिन्त्यते स भावार्थः । गुरुमुखादवगतोऽर्थः सम्प्रदायार्थः । यत्र देवे गुरौ चाभिन्नार्थत्वं साध्यते स निगर्भार्थः । यस्मिन् कुल-धर्म-सम्प्रदायार्थानामैक्यं मन्त्र-देवता-मन्त्रगुरु-आत्मनामर्थः साम्येन सूच्यते स कौलिकार्थः । यस्मिंश्चोपर्युक्तानामखिलानामप्यर्थानां समन्वयं विद्याय कुण्डलिन्याः शक्तेरभिन्नत्वं प्रतिपाद्यते स सर्वरहस्यार्थः किञ्च यत्र महादितत्त्वानां स्थूलातिस्थूल-सूक्ष्मातिसूक्ष्मतत्त्वैः सह जीवशिवयोरैक्यं विभाव्यते स महातत्त्वार्थः कथ्यते ।

बीजमन्त्राणामर्थेष्वेतेषामर्थानामतिरिक्तमपि कासाच्चिद् धारणानामाधारेणार्थयोजना क्रियते । यथा हि—ओङ्कारे 'अ+उ+म्' इत्येतेषामेकाक्षरकोशानुसारेण ब्रह्म-विष्णु-शिवानामार्थाः साध्यन्ते । त्रयाणामेषां देवानामत्र निवेशेन यानि यानि त्रित्वेन व्याहृतानि तत्त्वानि सन्ति, यथा त्रिलोक-त्रिनेत्र-त्रिकाल-त्रिदिवाप्रभृतीनि-तेषां सर्वेषामत्र प्रणवे निवासः कल्प्यते । जैनघर्मानुसारं च पञ्चपरमेष्ठिनामत्र निवासः । दक्षिणासूर्ति-रचित-‘बीजकोशानुसारं’ चायेऽपि देवा अत्र विराजन्ते । ‘यतिदण्डेश्वर्य-विधान’ नामके श्रीशङ्कराचार्यप्रणीते ग्रन्थे^३ ओङ्कारस्य मात्राणां विवेचने सम्भूय षट्पञ्चाशदुत्तरद्विशत २५६ मात्राणां स्थितिः प्रणवे दर्शिता । प्रत्येकमात्राया चैकैक-देवतायाः स्थित्या च क्रमदीक्षायां पूज्यमाना देव्यस्तत्र विराजमानाः प्रकटिताः । एवमेवान्यथमविलम्बिनोऽपि प्रणवे स्वस्वेष्टदेवतानां स्वसम्प्रदायानुसारं नानाविधानर्थान् कल्पयन्ति ।

केचन साधकाः स्वासां विशिष्टप्रतिभानां बलेन बीजमन्वेषु चमत्कर्तृ नर्थानिपि प्रकटयन्ति । “कामकलाविलासे” क्लीं बीजस्य क्रीं बीजस्य वा माहात्म्यं स्फोरयितुं प्रोक्तं यत्-हे मातः ! तत्वास्य बीजमन्त्रस्य जपं केवलं तत्र भक्ता एव न कुर्वन्त्यपितु समस्तेष्वपि धर्मेषु तत्वास्य बीजमन्त्रस्य जपे समादरो विद्यते । माहम्मदाः क्रीं बीजस्य ‘करीम’ रूपेण ख्रीस्त वर्मानुयायिनश्च ‘क्राईस्ट’ रूपेण जपन्तीति । ‘पञ्चस्तवीकारेण’ तु ‘लघुस्तवे’ प्रोक्तं यत्—

दृष्ट्वा सम्भ्रमकारि वस्तु सहसा ‘ऐ ऐ’ इति व्याहृतं,
येनाकूतवशादयंहि वरदे विन्दुं विनाऽप्यक्षरम् ।

तस्यापि ध्रुवमेव देवि तरसा जाते तवानुग्रहे,
वाचस्सुक्तिसुधारसद्रवमुचो निर्यान्ति वक्त्राम्बुजात् ॥३॥

बीजमन्त्र-जप-प्रकाराः

साधना-विधौ जपस्य माहात्म्यमतीव विस्तृतमस्ति । ‘लघुस्तव’ एव बीजमन्त्रजप-विषये निगदितं विद्यते यत् —

एकैकं तव देवि ! बीजमन्थं सव्यञ्जनाव्यञ्जनं,
कूटस्थं यदि वा पुथक्-क्रमगतं यद् वा स्थितं व्युत्क्रमात् ।
यं यं काममपेक्ष्य येन विधिना केनापि वा चिन्तितं,
जप्तं वा सफलीकरोति सततं तं तं समस्तं नृणाम् ॥६॥

अत्र बीजमन्त्रस्य जपविषयं विस्तारयताऽचार्येणोक्तं यद् यस्य कस्यापि बीजाक्षरस्य पञ्चविधो जपः सम्भवति । यथा — (१) सव्यञ्जनो जपः, (२) अव्यञ्जनो जपः, (३) कूटस्थो जपः, (४) क्रमगतो जपः, (५) व्युत्क्रमगतो जपश्चेति । वर्णमाला-मणिमाला-रुद्राक्षादिमालाश्चयेण क्रियमाणो जपः काम्यभेदेन कार्यभेदेन कालभेदेन सम्पूर्णादिभेदेन च बहुधात्वं भजते । लेखनात्मको जपोऽपि सुप्रसिद्धस्तत्रापि १—सामान्यलेखनेन, २—यन्त्रालेखनेन, ३—देवप्रतिमादौ लेखनेन सममेष लेखनाधार-लेखिनी-मधी-प्रभूतीनां वैविध्येन साध्यते साधकः ।

बीजाक्षराणामुपासनाविधौ प्रत्येकमक्षरस्य स्वरूपचिन्तनमप्यत्यावश्यकं विद्यते । तच्च द्विविधम् । १—आकार-वाहन-निवासात्मकं, २—जाति-वयोविचारात्मकं च । प्रथमस्वरूपपरिज्ञानाय ‘वर्णोद्घारतन्त्रा’ दिग्रन्थानामाधार आवश्यकः । यथा हि —

इकारं परमानन्दं सुगन्धं कुड्कुमच्छविः ।
हरि-ब्रह्ममयं वर्णं सदाशिवमयं प्रिये ॥
महाशक्तिमयं देवि ! गुरुब्रह्ममयं तथा ।
विश्वत्रयमयं वर्णं परब्रह्मसमन्वितम् ॥
ऊर्ध्वाधिः कुञ्जितामध्ये रेखा तत्सङ्गता भवेत् ।
लक्ष्मीवर्णी तथेनद्राणी क्रमात् तास्वेव संवसेत् ॥
धूम्रवर्णी महारौद्रीं पीताम्बरयुतां पराम् ।
कामदां सिद्धिदां सौम्यां नित्योत्साह-विवर्धिनीम् ॥
चतुर्भुजां च वरदां हरिचन्दनभूषिताम् ।
एवं ध्यात्वा ब्रह्मरूपां मन्त्रं तु दशधा जपेत् ॥

अनया रीत्या बीजाक्षरे वर्तमानानां वर्णानां ध्यानं तज्जपः संख्यादिनियमश्च विचारणीयः । इतरत्र जपार्थं यथा काम्यकर्मसु बाह्यागव्यवस्था विद्यते तथैवान्तर्यागमाश्रित्य षट्चक्षस्थानादिसूचनम-प्युपलभ्यते । सहैव सद्यः सिद्धये पुष्पपूजा-नैवेद्य-हवनीयद्रव्यादि-विचारपरम्पराऽपि परिसंख्याता प्रतीयते ।

द्वितीयस्वरूप-परिज्ञानाय च मन्त्र-व्याकरणज्ञानमावश्यकम् ।

यथा —

कण्ठादिकरणैर्वर्णाः क्रमादाविर्भवन्ति ते ।
एषु स्वराः स्मृताः सौम्याः स्पर्शाः सौराः शुभोदयाः ॥
आग्नेया व्यापकाः सर्वे सोमसूर्यांगिनदेवताः ।

तथा च —

विन्दुः पुमान् रविः प्रोक्तः सर्गः शक्तिनिशाकरः ।
स्वराणां मध्यमं यच्च तच्चतुष्कं नपुंसकम् ॥

इत्यादि ‘शारदातिलकोक्तमन्त्र-बीजज्ञानविषयो विमर्शणीयः’ । किञ्च ‘कीलितो बीजवर्जित
इति निर्देशानुसारं बीजं विना मन्त्राः कीलितास्तिष्ठन्ति, न ते स्वं फलं तावत् पूरयितुं समर्था भवन्ति
अत एव प्रतीयते यद् देवानां तत्तन्मन्त्रेषु प्रणव-हृलेखा-वाग्भव-कामकूटादि-बीजमन्त्राणां समन्वयं
अपि ।

बीजमन्त्राणामानन्त्यम्

‘नास्ति मन्त्रमनक्षरम्’ इत्युक्त्यनुसारम्—अकारादिहकारपर्यन्तानां सस्वराणां विस्वराणां
युग्मकानां कूटानां च वर्णनां सर्वेषां बीजमन्त्रत्वं सिद्धमेव । सोऽयमन्तो वर्णराशिः सकलोऽपि तस्मै
परब्रह्मणो वाचक इति कृत्वाऽस्य मनन-त्राणघमंत्वाच्च मन्त्रत्वं लोकानां हितकाम्यया प्रोक्तं भगवत्
शङ्करेण भगवत्यै जगदम्बिकायै । अत्रास्त्यावश्यकता सद्गुरोः । यश्च शिरसि करं संस्थाप्य साशीव
मार्गं दर्शयित्वा ब्रूयात्—“एष निष्कण्टकः पन्था एष पन्थाः सनातनः” इति ।

लघुस्तवकारश्च बीजमन्त्राणामानन्त्यमुद्घोषयन् नौति—

आईपल्लवितैः परस्परयुतैर्द्वित्रिक्रमाद्यक्षरैः,
काद्यैः क्षान्तयुतैः स्वरादिभिरक्ष क्षान्तैश्च तैः सस्वरैः ।
नामानि त्रिपुरे भवन्ति खलु यान्यत्यन्तगुह्यानि ते,
तेभ्यो भैरवपत्नि ! विशतिसहस्रेभ्यः परेभ्यो नमः ॥१९॥

एवं बीजामन्त्राणां वैशिष्ट्यं विज्ञाय साधकैरुपासनायां प्रवृत्तिविधेया शाश्वतिकं च कल्या
साधनीयमिति ।

१— यथा मम ‘गायत्री-लह्यम्’ —

यदा ध्याने मरणो विमलकमलस्थः प्रतिपदं,
मुदा जापं जापं भगवति ? समाधि समग्रम् ।
तदर्थं जिज्ञासुस्तव करुणया द्राग् विदितवाँ—
स्तदा गायत्रीयं मुखत उदिता विश्वविदिता ॥

- २— जैनसम्प्रदाये प्रणवस्य पञ्चवर्णात्मकं स्वरूपं विभावितं लभ्यते यस्मिन् अ + अ + आ + उ +
= ‘ओम्’ इत्यर्हदशरीराचार्योपाधायमुनीनां समावेशोऽस्ति ।
३— अयं ग्रन्थः साम्प्रतं यावदप्रकाशितोऽस्ति । अस्य सम्पादनमासां पड्कतीनां लेखकेनैव विहितम्
यथाकलं प्रकाशयेत् ।

DRINKING IN ANCIENT INDIA

Prof. Suresh Banerji
Calcutta

It is not correct to think that widespread practice of drinking in India is the result of the impact of the western civilisation. We shall see that drinking had been widely in vogue ever since the Vedic age. From some Sanskrit works as well as those in Pali and Prakrit we learn that people used to drink spirituous liquor not only on ceremonial occasions and religious festivals but also as a means of relaxation.

The *Rigveda* (C. 1500 B. C.) mentions *Somarasa* which, used in sacrifices, appears to have been an exhilarating drink. This Veda refers (I. 191. 10, VII. 86. 6, VIII. 2. 12) to drinking and the people becoming unconscious as a result. I. 116. 7 states that people were invigorated by drinking wine and their intellect was clarified. The *Atharva-veda* (e. g. XIV. 1. 35, 36), the *Yajurveda* (Taittiriya ii. 5, 1) and the *Shatapatha Brahmana* (1. 6. 3) etc. also bear testimony to the prevalence of drinking in the society.

The noted Sanskrit lexicon, *Amarakosha* (C. 4th. cent. A. D.), gives as many as twenty-nine words to denote wine. These words indicate the effect produced by it, the place in which it is produced and the substance from which it is prepared of the several varieties of wine, one was *Kapishayana* which was manufactured in the region, called Kapishi, in Afghanistan.

The *Ramayana* states (V. 24. 44) that wine destroys grief. At another place, it condemns drinking as a vulgar pleasure. This epic classifies (V. 11. 22) wine into *Krita* (artificial) and *akrita* (natural). The *Mahabharata* also testifies to this practice even among women (Virataparvan, XVI. 34; Adi. 148. 8; Stri 207). Addiction to wine is condemned in the Shantiparvan (140. 26).

The *Arthashastra* refers (11. 1. 24, 12. 4. 4,) to the practice of offering wine to those who attended a funeral. From this work we learn that drinking was under State-control. Usually wine was to be drunk in the premises of the State ale-house (2. 25. 5, 15). On festive occasions, control over the manufacture and consumption of wine was to be lifted (2. 25. 36). The *Arthashastra* states (2. 25. 5, 15) that there was arrangement for the stay of foreigners in State bars

In the *Kathaka-samhita* (XII. 12) of the *Yajurveda* reveals that drinking

came to be tabooed for Brahmanas. The *Chhandogya Upanisad* (V. 10. 9) states drinking to be a grave sin.

The *Manusmriti* declares (V. 56) that there is no fault in the drinking of wine as such; while this tendency of the people is natural, abstinence is salutary. Manu, however, includes drinking among the vices. The commentator adds that what is condemned is not drinking, but addiction to it. The *Manusmriti* prohibits (XI. 94) the following three kinds of wine; that prepared from molasses, that made from honey and that produced from the fermentation of rice; the punishment for the breach of this rule was nothing short of death. In XI. 93 *sura* or wine has been prohibited for the Ksatriyas and Vaisyas too; but in their case, the violation of the rule did not entail death-penalty. From some other texts we gather that, even in the case of Brahmana, drinking wine without knowledge was not regarded as grave a sin as drinking it with knowledge.

The aforesaid *Amarakosha* mentions *shundapana* (bar), *apana* (drinking party), *chasaka* (gobblet), *saraka* (drinking vessel), *anutarsana* (a kind of drinking vessel), *panagosthi* (assembly of people for drinking together).

The *Shukra-niti-sara* (i. 116-17), while condemning excessive drinking, holds that wine, if drunk with moderation, leads to genius, clarity of intellect, patience and concentration of mind.

The *Mahabhasya* of Patanjali (C. 2nd cent. B. C.) refers (iii. 2. 29) to the practice of drinking from a vessel with a pipe.

The *Kadambari* of Banabhatta (7th. cent. A. D.) mentions *panabhumi* (bar) and *madhukosaka* (drinking cup). The *Ramayana* mentions *panabhumi* (bar) and *asamskrita panabhumi* (II. 114. 14) or untidy bar; the latter was, perhaps, meant for low-class people.

In the *Abhijnana-shakuntala* of Kalidasa there is reference (Act. V) to the custom of drinking together with a person on the occasion of the first friendship in a liquor shop. From the commentary of Vishvarupa on the *Yajnavalkya-smriti* (i. 140) we learn that a liquor shop was to be situated in the middle of a village and that the shopkeeper was to put up a flagstaff before his shop to indicate that liquor was sold there.

In Tantra, wine is included in the *Pancha-tattva* or the five means to the attainment of the goal. There is a wrong impression that Tantra allows unlicensed drinking. As a matter of fact, drinking is limited to certain occasions only and to certain persons. In some Tantras, e. g. *Shritattva-chintamani* of Purnananda, there is prohibition of the offer of wine to Goddess by a Brahmana. Purnananda prohibits the drinking of wine by a Brahmana of the Vamachara class.

The wide vogue of drinking in the society is borne out by references to drinking and descriptions of drunkards, scattered in Sanskrit dramas and poetical works.

That drinking was widespread is attested by some Pali works too. It was, perhaps, for this reason that the *Panchashila* or five rules of conduct include prohibition of intoxicants. The monks are asked not to drink. The *Jataka* contains references to drinking as a part of merry-making on festive occasions. The *Dhammapada* commentary of Buddhaghosa refers (III. p.p. 129 f.f.) to a rich man losing his wealth as a result of drinking. The *Dhammapada* strongly condemns (e. g. XVIII. 13) this practice.

From the Prakrit *Gatha-saptashati* (e. g. iii. 70, vi. 44) we learn that even women used to drink wine.

From the foregoing account we find the tradition of drinking on festive occasions, some religious rites and as a means of relaxation over since the Vedic age. In view of this, it does not seem to be feasible to prohibit drinking totally, as some people are thinking. What is practicable is to spread education about the evils of excessive drinking, drinking at a tender age and indiscriminate drinking of all kinds of liquor-good, bad and indifferent.

reduces the time required to collect the data from about 10 hours to less than 1 hour. In addition, the data can be collected in a more timely manner, which allows for faster decision making. This is particularly important in emergency situations where quick decisions can save lives. In addition, the use of mobile devices allows for greater mobility and flexibility, which is essential for fieldwork. Overall, the use of mobile devices has revolutionized the way we collect data and has made it easier and more efficient.

कलिङ्ग नरेश खारवेल की तिथि—एक पुनर्विवेचन

डा० किरणकुमार थपल्याल
लखनऊ

कलिङ्ग नरेश खारवेल के इतिहास की जानकारी का एक मात्र साधन उसका हाथीगुस्फा लेख है। लेख के कुछ श्रंशों का उद्वाचन या और श्र्वय विवादपूर्ण होते हुये भी इससे उस राजा के व्यक्तित्व और कृतित्व पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। नौ वर्ष तक युवराज पद पर आसीन होने के पच्चीसवें वर्ष में खारवेल राजा बना। उसके तेरह वर्ष की उपलब्धियों का क्रमिक विवरण संक्षेप में इस प्रकार है :— प्रथम वर्ष में आंधी-तूफान से क्षतिग्रस्त प्राचीर एवं द्वारों का जीरणेद्वारा; द्वितीय वर्ष में सातकर्णि पर आक्रमण एवं असिकनगर का वित्तासन; तृतीय वर्ष में संगीत-नृत्य का आयोजन; चतुर्थ वर्ष में राष्ट्रिकों पर विजय; पाँचवें वर्ष में नहर—निर्माण; छठे वर्ष में प्रजा के करों में छूट; सातवें वर्ष में सन्तान लाभ; आठवें वर्ष में गोरथगिरि पर आक्रमण एवं राजगृह का उत्पीड़न (जिसका समाचार सुनकर यवनराज डिमित मथुरा चला गया); नवें वर्ष में महाविजयप्राप्तासाद का निर्माण; दसवें वर्ष में कुछ विजयें; ग्यारहवें वर्ष में पीथुण्ड नगरी पर अधिकार एवं तमिल संघ का भेदन; बारहवें वर्ष में उत्तरापथ के राजाओं का वित्तासन, मगध के लोगों में भय उत्पन्न, मगध के राजा बहसतिमित पर नन्दराजा द्वारा ले जायी गयी तीर्थङ्कर की मूर्ति वापस लाना, पाण्ड्य राजा से हाथी, घोड़े तथा रत्न प्राप्त करना; तेरहवें वर्ष में जैन सन्धासियों के लिये गुफाएं खुदवाना और अन्य प्रकार के आवासों का निर्माण एवं अलंकरण।

खारवेल की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। मुख्यतः दो मत हैं—एक के अनुसार खारवेल का काल द्वितीय शती ६० पू० का प्रथमार्द्ध है और दूसरे के अनुसार प्रथम शती ३० पू० का द्वितीयार्द्ध। लेख से उल्लिखित खारवेल के समकालीन राजाओं-सातकर्णि, डिमित तथा बहसतिमित की पहचान एवं तिथि पर मतभेद है। द्वितीय शती ६० पू० के मत के पक्ष से निम्न-लिखित तर्क मुख्य है—(१) कुछ पुराणों के अनुसार सातवाहन वंश ने ४५० वर्ष राज्य किया। चूंकि इस वंश का अंत २२५ ईसवी में हुआ अतः इसका प्रारम्भ लगभग २२५ ६० पू० से मानना चाहिए और सातकर्णि जो इस वंश का तृतीय राजा था उसकी तिथि प्रथमार्द्ध मानना चाहिये, (२) यवन-राज डिमित की पहचान डिमीट्रियस प्रथम से, और (३) बहसतिमित की पहचान पुष्यमित्रशुङ्ग से द्वितीय शती ६० पू० के प्रथमार्द्ध में राज्य किया था।

प्रथम शती ६० पू० मत के मानने वालों के मुख्य तर्क निम्न है—(१) कुछ पुराणों में सातवाहन वंश का राजत्वकाल कुल तीन सौ वर्ष बताया गया है अतः इस वंश का प्रारंभ प्रथम शती के प्रथमार्द्ध में और तृतीय राजा सातकर्णि को इस शती के द्वितीयार्द्ध में रखना चाहिए। (२) 'डिमित' पाठ

की सत्यता संदिग्ध है और यदि सही मान भी लिया जाय तो डिमीट्रियस द्वितीय से तात्पर्य हो सकता है जिसकी प्रथम शती के द्वितीयार्द्ध में राज्य करने की संभावना है। (और कुछ लोगों ने तो सुझाव दिया है कि इसका तात्पर्य डायमिडीज से भी हो सकता है)। (३) वहसतिमित पाठ यदि सही भी मान लिया जाय तो भी इस राजा की पहचान पुष्यमित्रशुङ्ग से करना ठीक नहीं क्योंकि – (अ) केवल इस आधार पर कि दोनों नक्षत्रों के नाम हैं अतः एक हैं – ठोस तर्क नहीं, (आ) किसी भी स्रोत से पुष्यमित्रशुङ्ग का दूसरा नाम वहसतिमित था यह ज्ञात नहीं, (इ) दिव्यावदान वृहस्पतिमित्र और पुष्यमित्र के दो अलग राजाओं के रूप में उल्लेख करता है, (ई) 'वहसतिमित' का संस्कृत रूप वृहसपतिमित्र की अपेक्षा वृहत्स्वातिमित्र अधिक उपयुक्त लगता है, 'वृहस्पतिमित्र' तो प्राकृत 'वहसतिमित' का रूप लगता है, और (उ) पभोसा (इलाहावाद जिला) से प्राप्त एक लेख से वहसतिमित नामक राजा की जानकारी मिलती है जिसकी तिथि प्रथम शती ई० पू० लगती है। (४) हाथी गुम्फा लेख में खारवेल द्वारा नन्दराज द्वारा तीन सौ साल पूर्व^१ उद्घाटित नहर को नगर में प्रवेश कराने का उल्लेख है। सामान्यतः स्वीकृत मतानुसार नन्दों ने चतुर्थ शती ई० पू० के द्वितीयार्द्ध में राज्य किया था। इससे ३०० वर्ष घटाने पर प्रथम शती ई० पू० की तिथि आती है। (५) खारवेल के लिये 'महाराज' उपाधि का प्रयोग (लेख में) हुआ है। महाराज उपाधि का सबसे पहला प्रयोग हम भारतीय यवन राजाओं के सिक्कों पर द्वितीय शती ई० पू० में पाते हैं। भारतीय-यवन राजाओं के राज्यक्षेत्र से बहुत दूर स्थित कलिंग के राजा द्वारा द्वितीय शती ई० पू० की अपेक्षा प्रथम शती ई० पू० में इस उपाधि के धारण करने की अधिक सम्भावना है। (६) कला और (७) पुरालिपि के आधार पर भी कुछ विद्वान् प्रथम शती ई० पू० की तिथि को अधिक सही मानते हैं।

प्रथम शती ई० पू० के पक्ष में उपर्युक्त तर्क पर्याप्त प्रभावशाली है किन्तु हम एक दूसरे साक्ष्य से भी इसका समर्थन पाते हैं। हम इस साक्ष्य की अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विवेचना करेंगे।

पौराणिक साक्ष्यों से महापद्मनन्द द्वारा कलिङ्ग विजय की जानकारी मिलती है। हाथीगुम्फा लेख से भी इसकी पुष्टि होती है। इसमें खारवेल द्वारा राजत्वकाल के पांचवें वर्ष में, तीन सौ वर्ष पूर्व नन्दराजा द्वारा उद्घाटित नहर को नगर तक ले जाने, और बारहवें वर्ष में नन्दराजा द्वारा ले जायी गयी तीर्थङ्कर की मूर्ति वापस लाने का उल्लेख है। कुछ विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया कि अभिलेख में उल्लिखित नन्दवंश कलिङ्ग का ही क्षेत्रीय राजवंश रहा होगा। किन्तु कलिङ्ग में क्षेत्रीय नन्दवंश का राज्य करना किसी भी स्रोत से ज्ञात नहीं और हाथीगुम्फा लेख में बारहवें वर्ष के संदर्भ में नन्दराजा का उल्लेख निश्चय ही मगध के संदर्भ में हुआ है अतः नन्दवंश से तात्पर्य उसी नन्दवंश से है जिसका अन्त चन्द्रगुप्त मौर्य ने किया था।

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि कलिङ्ग नन्दवंश के राज्य के अन्तर्गत था तो जब चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दवंश का अन्त किया तो वह स्वाभाविक रूप से मौर्य साम्राज्य के भी अन्तर्गत आ गया होगा। चन्द्रगुप्त मौर्य और बिन्दुसार शक्तिशाली राजा थे। उनके काल में कलिङ्ग के स्वतंत्र होने की संभावना नहीं लगती। तो फिर बिन्दुसार के पुत्र अशोक को कलिङ्ग विजय करने की क्या आवश्यकता पड़ी? इस विषय पर निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं। किन्तु तत्कालीन

परिस्थितियों को देखते हुये हमने अनुमान द्वारा इस समस्या का उत्तर ढूँढ़ने का प्रयास किया है और संक्षेप में वह नीचे प्रस्तुत है ।

ऐसा लगता है कि महापद्मनन्द की कलिङ्ग विजय मात्र औपचारिक थी । कलिङ्ग ने नाम के लिये अधीनता स्वीकार कर ली किन्तु वास्तविक रूप में उसकी स्वशासन की स्वतन्त्रता बनी रही । चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार के काल में भी कलिङ्ग ने औपचारिक रूप से उनकी अधीनता स्वीकार की किन्तु आंतरिक शासन में उसकी स्थिति पूर्ववत् बनी रही । बिन्दुसार की मृत्यु के बाद जब मगध के सिहासन के लिये अशोक और उसके भाई सुसीम में गृहयुद्ध हुआ तो राज्य के विभिन्न प्रान्तों के शासकों में से कुछ ने अशोक और कुछ ने उसके भाई का पक्ष लिया, मगध की सीमा से लगे होने के कारण कलिङ्ग के लिये इस युद्ध में तटस्थ रहना कठिन था, तथा उसे जन और धन से अपने पक्ष की सहायता पहुँचाना अपेक्षाकृत आसान था । लगता है कि कलिङ्ग ने इस गृह-युद्ध में सुसीम का पक्ष चुना । पर इस संघर्ष में विजय अशोक को मिली । कलिङ्ग द्वारा अपना विरोध किया जाना अशोक के हृदय में कांटे की तरह चुभता रहा और जैसे ही उसने अपनी स्थिति दृढ़ की, कलिङ्ग को दण्डित करने हेतु विशाल सेना लेकर उस पर आक्रमण कर दिया, कलिङ्ग युद्ध में भीषण नरसंहार हुआ । अशोक के तेरहवें अभिलेख के अनुसार एक लाख मारे गये, डेढ़ लाख बन्दी बनाये गये और बहुत से घायल तथा बाद में कुछ मृतकों के शोक में मर गये । विद्वानों का मत है कि लेख में दी गयी सूचना केवल कलिङ्ग की क्षति की ही है । नरसंहार की दृष्टि से कलिङ्ग युद्ध विश्व के गिने - चुने युद्धों में से एक है । ऐसा लगता है कि अशोक कलिङ्ग को पूरी तरह कुचलना चाहता था जिससे वह भविष्य में सिर न उठा सके और दूसरे प्रान्त भी उससे सबक सीख सके ।

यहाँ पर कलिङ्ग युद्ध का विस्तृत विवेचन इस दृष्टि से किया जा रहा है कि उसका खारवेल की तिथि-निधारण में महत्व है । इस युद्ध के समय (जो अशोक के राजत्वकाल के आठवें वर्ष, अर्थात् २६४ ई० पू० में हुआ था) कलिङ्ग की जनसंख्या क्या थी ? इसके बारे में निश्चित साक्ष्य उपलब्ध नहीं, लेकिन अनुमानतः यह कुछ लाख ही रही होगी । कुछ विद्वान् हाथीगुम्फा लेख के 'पनतिसाय सतसहस्रेहि पक्तिषो च रंजयति' से यह अर्थ लेते हैं कि खारवेल ने अपनी पैतीस लाख प्रजा का रञ्जन किया ।^२ यदि खारवेल के समय कलिङ्ग की जनसंख्या पैतीस लाख मान ली जाय तो अशोक के समय वह इससे भी कम रही होगी, इसमें आधी के लगभग स्त्रियां रही होंगी शेष पुरुष । जनसंख्या में एक तिहाई बच्चे और लगभग एकतिहाई बूढ़े मान लें तो युवा पुरुष वर्ग की संख्या ६ लाख से कम ही होगी । इनमें से लगभग आधे भी अगर हम सैनिक मानें तो तीन लाख सैनिक हुए और इसमें कलिङ्ग युद्ध में एक लाख मारे गये और डेढ़ लाख बन्दी बनाये गए तथा कुछ घायल एवं अन्य बाद में मरे । ऐसा लगता है पूरी ही संन्यशक्ति का सफाया कर दिया गया । प्राचीनकालीन परिस्थितियों में ऐसी संभावना नहीं लगती कि बड़े पैमाने पर इस जन - हानि की पूर्ति बाहर से लोगों को कलिङ्ग में बसाकर की गयी होगी । युद्ध के परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में स्त्रियां विधवा हो गयी होंगी । एक तो प्राचीन भारत की सामाजिक मान्यताओं में विधवा - विवाह यों भी कठिन था और फिर विवाह के लिये युवा पुरुषों का नितांत अभाव हो गया । युद्ध से न केवल सैनिक शक्ति को ही हानि पहुँची बल्कि कलिङ्ग का पूरा ग्रंथतन्त्र भी जर्जर हो गया ।

कलिञ्ज पुनः स्वतन्त्र कब हुआ? अशोक की मृत्यु २३० ई० पू० में हुयी। उसके राजत्वकाल में कलिञ्ज के स्वतन्त्र होने की संभावना नहीं लगती, उसके बाद ही वह स्वतन्त्र हो सका होगा, और स्वतन्त्रता उसको अपनी शक्ति के बल पर नहीं, केन्द्रीय शासन तन्त्र के विघटन के फलस्वरूप मिली। लेकिन इतना स्पष्ट है कि खारवेल के समय तक कलिञ्ज राज्य तत्कालीन भारत में सबसे शक्तिशाली राज्यों में एक था। खारवेल न केवल बाहरी आक्रमणों से सुरक्षा के प्रति सजग था अपितु उसने सातवाहन राज्य, राष्ट्रिक और भोजक राज्य, मगध, पीथुण्ड, पाण्ड्य राज्य के विरुद्ध सफल अभियान किये और विशाल धनराशि अपने नगर - प्राचीर एवं नगर - द्वार के मरम्मत, नृत्य-संगीत के आयोजन, विभिन्न कलाओं के विकास, गुहा एवं भवन-निर्माण आदि में व्यय किया। यदि हम खारवेल को द्वितीय शती ई० पू० के प्रथमार्द्ध में मानें तो कलिञ्ज के राज्य को विनाश के कगार से समृद्धि की मंजिल तक पहुंचने के लिए केवल अर्द्ध शताब्दी का समय ही मिलता है, जो अपर्याप्त है। लेकिन अगर हम खारवेल की तिथि प्रथम शती ई० पू० का द्वितीयार्द्ध मानें तो इसके लिये लगभग दो सौ वर्ष का समय मिलता है जो कि पर्याप्त लगता है।

१. लेख में 'तिवस-सत' आता है जिसका अर्थ ३०० और १०३ दोनों ही संभव है किन्तु नन्दों के १०३ वर्ष बाद तो लगभग अशोक का ही काल है अतः 'तीन सौ' वाला अर्थ ही समीचीन लगता है। कुछ लोग इस लेख में मौर्य संवत् की तिथि का उल्लेख मानते हैं पर स्वयं अशोक के लेखों में तिथि सदैव राज्यारोहण के वर्ष के संदर्भ में दी गयी है और मौर्य संवत् चलाये जाने की जानकारी किसी भी स्रोत से ज्ञात नहीं। अब सामान्यतः विद्वान् इस लेख में मौर्य संवत् के उल्लेख की बात को स्वीकार नहीं करते।

२. यों इसका दूसरा अर्थ है कि पैंतीस लाख (सिक्के) व्यय कर प्रजा का भनोरञ्जन किया।

MEDITATION AND MENTAL HEALTH

Dr. A. K. Sinha

Kurukshestra (University)

I. CONTEMPORARY WORLD-SITUATION

The complexity of civilization has increased myriadfold during the last quarter of the twentieth century due to unprecedented population explosion, technological sophistication and inter-group conflicts. In the contemporary civilization, affluence and material abundance can be found in some regions of the globe. In developing countries, on the other hand, some people live in the midst of abject penury and suffering. While acme of intellectual excellence and creative originality can be found in some people, crass ignorance and primitiveness can be found in others. These glaring contradictions in the various socio-cultural systems of the world have manifested themselves in the form of mental turmoil, confusion, dehumanization and meaninglessness in many people.

Many people all over the world are baffled by subtle forms of political oppression, economic insecurity, racial intolerance, intergroup rivalries, interpersonal conflicts and so on. Thus, despite development in contemporary civilization many people still find their social environment still quite stressful.

Over and above this, contemporary civilization has developed certain strategies of high-lighting sensations through mass media. Quite often mass media give graphic expositions of crimes, obscenities, strifes, tensions and so on. Many civilized people have cultivated the habit of living in the midst of sensations and tensions. They experience thrill in travelling in superfast trains, automobiles, jet planes and so on. They have learnt to live in the midst of air, water and noise pollution.

Civilized people of today wish to usher into existence a more developed and sophisticated civilization. Consequently, they prefer to live in the midst of more tense and demanding artificial environment. In this highly demanding forthcoming supercivilization the most affluent and efficient alone are likely to occupy prestigious positions, and the poor and mediocres are expected to struggle hard for survival, and pine for what they have missed to attain. Humankind is, therefore, likely to usher into existence a paradoxical world-situation which it can neither cope with collectively nor abandon it completely.

It is truism that technology has come to stay. Humankind would no longer like to return to the primitive state of nature. On the contrary, it is very likely to opt for more developed and sophisticated technology. Consequ-

ently masses all over the world are very likely to put up with its side-effects, such as dehumanization, anomie and meaninglessness in life.

In brief, technological civilization has created its own paradigms, viz., everincreasing sophistication, complexity and efficiency. Thus, tension is built-in the technological civilization for the latter always strives to surpass itself by ever-increasing excellence. The main issue which the self-surpassing technological civilization poses before people is how the latter can live in it without undermining their physical health, mental equanimity and interpersonal harmony. A tentative solution to this problem can be found through synthesis between self-surpassing technology and some degree of mental equipoise.

II. A BIT OF HISTORICAL BACKGROUND

Ancient thinkers knew that the mind of an ordinary person is the scene of tensions, anxieties, and turmoils. A person feels distressed, if his mind remains disturbed by tormenting anxieties, and he is unable to concentrate on his urgent life-tasks.

Patanjali pointed out centuries ago that wandering, forgetful and distracted states of consciousness are not suitable for concentrating the mind on a task. In his view, one-pointed and tranquil consciousness are most suitable for practising meditation. Yoga is, in fact, nothing but inhibition mental structurization at least for a short while.¹

Patanjali recommended eight-fold method for maintaining equanimity of the mind. Out of this eight-fold method, observance of moral principles and principles of health, such as non-injury, non-stealing, non-acceptance of gifts, truthfulness, celibacy, cleanliness, contentment, austerity, study of scriptures, appropriate bodily postures, breath regulation and withdrawal of sense organs from aimlessly pursuing their objects are the pre-requisites for concentration of mind on an object or an idea, meditation and meditative ecstasy.² A person can have tranquility in his consciousness by synthesizing concentration, meditation and trance ecstasy.

According to *Tantra Agamas*, there are various strata of empirical consciousness which have been metaphorically described as *cakras* (centres of consciousness). *Cakras* stimulate various forms of organic desires, such as hunger thirst, sex, ambition and so on. Conscious energy which is metaphorically called *Kundalini* (coiled energy) is capable of ascending from the lower to higher planes of consciousness via the six centres of consciousness. It is claimed by Tantric yogis that the body of a person becomes conscious and his mind as the reservoir of desires gets annulled as conscious energy (*Kundalini*) ascends from the lower to the higher planes of consciousness. According to Tantra Agamas, the ascent and limitless expansions of consciousness can be accelerated by the method of Tantra Yoga within the span of an individual's life.

Jainism recommends that a person has to practise external and internal austerities in order to avoid allurements by pleasure-giving objects. A person is able to concentrate his mind on annulment of actions (*Karma*) after practising austerties. He can practise pure meditation (*Shukla Dhyana*) in which all passions are annulled, and he experiences intuition, knowledge, bliss and energy. In this way he gets liberated from all desires and actions.

Gautama practised meditation and became enlightened, and came to be known as "Buddha" (enlightened). Buddhahood is a status which any person can attain.

Buddha found that actions constitute an endless series, and they cluster around the personality of an individual. A series of actions produce their effects and a person has to reap their consequences. A person can have insight into the scheme of his existence through meditation.⁵ The insight which he gains through meditation enables him to annul his desires and actions.

III. SCIENTIFIC DEFINITION OF MEDITATION

Meditation is a conscious process by which all stray ideas and emotions are eliminated from the mind through sustained practice. The creation on vacuum state of the mind is, in principle, the aim of meditation.

A person who succeeds in creation of vacuum state of his mind even for a short while acquires relaxed alertness of his neurophysiological system and mental serenity with heightened creative energy.

Mental tensions decrease physical agility and mental alertness in a person. They drain out the psychophysical energy of a person, and exhaust him both physically and mentally. Meditation enables him to restore back his neurophysiological alertness and mental equanimity. It produces relaxation in the body and enhances mental alertness and creativity in a person.

IV. EMPIRICAL RESEARCHES ON TENSIONS AND MEDITATION

Contemporary complex civilization has produced stressful effect on many persons. Johansen has defined stress as substantial imbalance between the task of an individual and his ability and means to complete it.⁶

Landy and Trumbo list the following stressful conditions in contemporary civilization, viz., job in security, excessive competition, hazardous working conditions, task demands, and long and unusual working hours.⁷ Persons who work under stressful conditions usually have organic complaints, anxiety and depression. Many of them experience feelings of self-estrangement, powerlessness and meaninglessness. Harrison has found that some persons develop symptoms of physical illness (e. g. coronary heart disease, peptic ulcer) and mental abnormality (e. g., chronic depression) due to stressful situations.⁸

Almost everybody has to endure stressful situation in the contemporary period. Stressors are, in fact, built-in the very structure of the contemporary technolo-

gical civilization. Some people have the capacity for enduring stress, while others crack down under stressful conditions.

It has been found by the techniques of empirical researches that meditation has healing effect on various types of organic diseases and mental tensions in a person. It has been found that step by step practise of yoga and meditation produces mental equilibrium in persons who report that they have 'feelings of great bliss', 'serenity' and 'unbounded freedom'. Physiological changes which are produced by mental calmness due to meditation can be detected by electroencephalogram and galvanic skin response.

The state of brain activity during meditation has been called 'relaxed awareness with steady responsiveness'. During meditation a person is able to perceive both internal and external stimuli with great clarity and decreased emotional excitement. Meditation reduces the excited state of the brain, and restores it back to its relaxed state. It also produces higher order personality integration.⁹

Shibata *et al* have reported that 65 neurotic patients were cured of their pathological symptoms through the technique of meditation.¹⁰ Meditation facilitates self-analytic process in a patient, and relieves him of the source of his tensions and anxieties.

Ikemi *et al* have found that practise of meditation facilitates relaxation of mental tensions, and promotes higher order personality integration.¹¹ Jevning and O 'Halloran have found that Maharshi Mahesh Yogi's technique of transcendental meditation (TM) produces 'restful alertness' in meditators.¹²

Orme-Johnson has found that TM produces autonomic stability and mental equanimity in a person. Regular practise of TM produces 'the state of least excitation in consciousness'.¹³ TM produces the experience of mental harmony and silence. It produces subjective experience of mental harmony and silence. It produces subjective experience of 'pleasantness', 'floating sensation', and 'relaxation'. It promotes creativity during waking state of a person.

It is reported that since 1970 about one million people have been practising meditation. Laboratory studies indicate that a very large number of meditation practitioners have experience of physical restfulness and mental alertness. Wallace *et al* have reported marked decrease of oxygen consumption during the period of meditation.¹⁴ Allison has found that respiration rate of meditators decrease from 12 breaths/min. to 4 breaths/min. during meditation, and again it returns to 12 breaths/min. after meditation.

Wallace *et al* have found that heart rate decreases significantly in persons during their periods of meditation. They have also found arterial lactate ion concentration to decrease significantly when persons meditate.¹⁵

These results indicate that meditation produces relaxed and harmonious functions in the body of meditators which are accompanied by their mental

serenity. Wallace observes that meditation produces perfection in physiological functions and full development of consciousness in a person.¹⁷

V. AURAS OF CONSCIOUSNESS AND MENTAL HEALTH

It has been recently found by some scientists that invisible auras of consciousness around the body of a person can be photographed in darkness by a technique known as 'Kirlian photography'. In a mentally healthy person the luminous aura extends far beyond his body. This luminous field is tinged with brilliant colours which constantly change hues, and vibrate.¹⁸ The pulsatory movement of luminous field of consciousness around the body of a person is governed by its own laws which is not yet understood by modern science.

A person with evil thoughts does not produce aura of consciousness. Even in an ordinary person consciousness either expands or contracts depending on the state of his consciousness.¹⁹ The varying degrees of physical and mental health of a person can be studied by photographing the aura of consciousness by the technique of Kirlian photography.²⁰ The effects of consciousness can be detected in human organism in high frequency electrical field over photographic negatives. Patterns of light which emanate from the body of a person as a result of various mental states can be photographed by this new technique.²¹

Auras of consciousness which are produced by regularly meditating persons are both brilliant and extensive. It has been, thus, experimentally established that consciousness in meditating persons expands. Expanding consciousness is not only valuable for a meditating person, but also others who fall within its range.

VI. RELEVANCE OF MEDITATION FOR THE EMERGING FUTURE

The twenty first century, which is just eighteen years ahead of us from now, is expected to be far more complex than the twentieth century. The super civilizations of the developed nations of the twenty first century are expected to be highly demanding and stressful mostly for ordinary persons. Many ordinary persons in a super-civilization may have nervous and mental break-down when they cross the limits of stress-tolerance.

In developing nations on the other hand, population-explosion is expected to produce over-crowding and resulting stress. It has been found through empirical research that over-crowding increases aggression, cannibalism, reproduction failures and increased death rates.²² Many people in developing nations are likely to struggle extremely hard for bare survival.

It seems, therefore, that more and more people in the next few decades may have to practise meditation for getting relief from nervous and mental tensions and stressness. They have to themselves decide about the durations and sessions of meditation depending upon their individual needs.

VII. UPSHOT

The basic assumptions of technological civilization, and the goal of meditation are quite different from one another. Material energy is the basis of technological civilization. Conscious energy, on the other hand, is the basis of integration in personality and mental equanimity. A civilized person wishes to develop technology to its conceivable limits, and wishes entrenched in it. A yogi, on the other hand, aims at attaining lasting mental equanimity through reduction, and subsequent obliteration of his organic and mental needs. An average person steers midway between those two extreme goals, till finally, he opts for one of the goals depending upon the dominant state of his consciousness.

REFERENCES

1. *Yoga Sutra*, I, 2.
2. *Ibid.* III, 3.
3. *Matrikabhed Tantra*, Katera, Prayag, Kalyan Mandir, 1962, 15. 1.
4. Sogani, K C., *Ethical Doctrines in Jainism*, Sholapur, Lalchand Hirachand Doshi, 1967, p. 163.
5. *Majjhima Nikaya*, 44th discourse.
6. Johansen, R., 'Stress and social technique design' in *stress at work*, Eds., C.C. Cooper and R. Payne, New York, John Wiley, 1978, p. 223.
7. Landy, F. J. and Trumbo. D. A., *Psychology of Work Behaviour*, Homewood, Dorsey Press, 1976, p. 1.
8. Harrison, R. V., 'Person-environmental fit and job stress', in *Stress at Work*, 1978, p. 178.
9. Smith, J. C., 'Meditation as psychotherapy : A review of literature', *Psychological Bulletin*, 82, 1975, p. 564.
10. Shibata, J. I., and Notoda, K., 'Clinical evaluation with psychological texts of schizophrenic patients treated with ontogenetic training', *American Journal of Clinical Hypnosis*, X, 1, 1967, p. 24.
11. Ikeme, Y., Goyeche, J.R.M., Tebecis, A.K., and Sasaki, Y., 'The positive and negative stages of the altered states of consciousness induced by autogenic training, Zen and Yoga', in *Yoga : Its Theoretical and Experimental Dimensions*, Ed. A. K. Sinha, Kurukshetra, Vishal Publications, (forthcoming).
12. Jevning, R. A. and O'Halloran, J. P., 'Metabolic basis of a new paradigm in neurobiology' in *Yoga : Its Theoretical and Experimental Dimensions*, A.K. Sinha (Ed.) (forthcoming).
13. Orme-Johnson, D., 'The dawn of the age of enlightenment: experimental evidence that the transcendental meditation technique produces a fourth and fifth state of consciousness in the individual and a profound influence of

जैनकवि सोमदेव सूरि को शैव दृष्टि

डॉ० (कु०) सत्यभामा श्रीवास्तवा
फैजाबाद

जिस शास्त्र में प्रबल तर्कों और अखण्डनीय युक्तियों द्वारा अपना प्रतिपाद्य या वक्तव्य विषय प्रसारित किया गया हो, उसी का नाम दर्शन है। कुछ विद्वानों के मत में दर्शनशास्त्र 'प्रत्यक्षविद्या', किसी के विचार में मननशास्त्र, किसी की दृष्टि में विचार शास्त्र, किसी के मत में कल्पना-शास्त्र, किसी के मत में कर्कशशास्त्र है। कुछ लोग उसे असम्भव ज्ञानकला भी कहते हैं^१। दर्शन का उद्देश्य है उस निर्मल, निष्कलङ्घ ज्ञान की प्राप्ति, जिससे आनन्दमय मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, निःश्रेयस या कैवल्य प्राप्त होता है, जिससे अनन्तकाल का जन्म और मृत्यु का बन्धन टूटता है, जिससे सदा के लिए दारणा दुःख विनष्ट होता है और जिससे आत्मा को विरशान्ति मिलती है, वही दर्शन है।

दर्शन बुभिक्षित व्याघ्र नहीं है, दुर्योदायिनी बेनु है। उसकी सेवा करके उसका दोहन करने से सुमधुर सुधा मिलती है, जिसका सानन्द पान कर आत्मा अमर और शुद्ध स्वभाव वाली हो जाती है।^२ चितन एवं मनन की दृष्टि से भारतीय दर्शन बहुत ही व्यापक है। चितन की अनेकानेक सरणियों के माध्यम से दर्शन की जो विकास-परम्परा आज उपलब्ध है-उसमें काश्मीरीय शैव मत का अपना एक अलग ही प्रभाव है। आचार्य सोमदेव सूरि यों तो जैन कवि थे-किंतु उन पर शैव मत का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है, इसी संदर्भ में प्रस्तुत है उनकी महत्वपूर्ण-कृतियों का एक अनुशीलन।

आचार्य सोमदेवसूरि की दो रचनायें प्राप्त हैं—यशस्तिलक चम्पू और नीतिवाक्यामृतम्। यशस्तिलक चम्पू में आठ आश्वास हैं। यशस्तिलक चम्पू की कथावस्तु हिंसा और अहिंसा के द्वन्द्व को प्रस्तुत करती है। आचार्य सूरि एक उच्चकोटि के जैनसाधु थे। कथा के माध्यम से उन्होंने अहिंसा संस्कृति को सम्पूर्ण जनमानस तक पहुंचाया है।

सोमदेवसूरि का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'नीतिवाक्यामृतम्' उपलब्ध है। यह कौटिल्य के अर्थशास्त्र की तरह एक विशुद्ध राजनीतिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ मानव-जीवन के स्तर को बढ़ाने वाले विषयों—धर्मनीति, अर्थनीति, सामनीति और विशुद्ध राजनीति के विवेचन से सम्बद्ध है। मानवता के लिए उपेक्षित मर्यादा को दृष्टि में रखते हुए, राजशासन से सम्बद्ध विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है। इस ग्रन्थ में बत्तीस समुद्रेश (प्रध्याय) हैं, जिनमें कुल मिलाकर १५५० सूत्र निर्दिष्ट हैं।

शैवदर्शन

काश्मीरीय शैवदर्शन प्रत्यभिज्ञा दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्त शैवागम का सारभूत रस-स्वरूप है। काश्मीरीय शैव मत की दो मुख्य शाखायें हैं—स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा। स्पन्द के प्रवर्तक वसुगुप्त और प्रत्यभिज्ञा के प्रवर्तक सोमानन्द हैं।^३ स्पन्द—इस सम्प्रदाय के दो मुख्य ग्रन्थ हैं—शिवसूत्र तथा स्पन्दकारिका। इसमें केवल ५१ श्लोक हैं। मान्यता है कि स्वयं शिव अथवा एक सिद्ध ने वसुगुप्त को शिवसूत्रों का दर्शन कराया

था। ये सूत्र माहेश्वर-पर्वत की एक शिला पर उत्कीर्ण थे।⁴

प्रत्यभिज्ञा—काष्मीरीय शैवमत या प्रत्यभिज्ञा दर्शन के संस्थापक सोमानन्द थे। कश्मीर सर्वव्यापक होने के कारण इसका नाम काष्मीरीय शैवदर्शन पड़ा। यह भी अद्वैतवादी है, इश्वराद्वयवाद के नाम से भी प्रसिद्ध है। 'यह वही है' इस प्रकार के ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।

शैव दर्शन में माया व अज्ञान शिव के अवीन हैं। 'परमशिव' स्वतन्त्र, चिन्मय, ज्ञान स्वरूप तथा कर्तुंस्वरूप है। शैव दर्शन में विमर्श ही शिव का स्वभाव है। ज्ञान और क्रिया दोनों उसके लिये समान हैं। शैव दर्शन का साहित्य व्यापक है। इसके ग्रन्थ जम्मू-कश्मीर संस्कृत सिरी से प्रकाशित हुए हैं, उनमें शिवसूत्र तथा उस पर 'वृत्तिमास्कर' का वार्तिक, क्षेमराज की 'विमर्शिनी प्रत्यभिज्ञा, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, प्रत्यभिज्ञा कारिका, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

शैव सम्प्रदाय और उनके सिद्धान्त

शङ्कर के टीकाकारों ने कहा है कि शैव, पाशुपत, कारुक-सिद्धान्ती तथा कापालिक चार सम्प्रदाय थे। इन चार सम्प्रदायों का वर्णन 'आगमपुराण' में भी हुआ है।⁵

पाशुपत सम्प्रदाय के सिद्धान्त—पाशुपत सम्प्रदाय के पांच सिद्धान्त हैं—

१-कार्य—प्रधान से उत्पन्न महादादि।

२-कारण—ईश्वर या महेश्वर।

३-योग—ॐ का जप, ध्यान, समाधि आदि।

४-विधि—प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल, दिन में तीन बार भस्म-लेपन आदि।

५-दुःखान्त—मोक्ष

१-कार्य—कार्य तीन प्रकार के हैं—विद्या, अविद्या और पशु (जीव)।

विद्या पशु का गुण है। यह दो प्रकार की है—बोध स्वभावा और अबोध स्वभावा बोधस्वभावा विद्या भी व्यक्त और अव्यक्त के भेद से दो प्रकार की है। अबोध स्वभावा विद्या भी दो रूप हैं—कार्य और इन्द्रिय। पशु वह है जिसमें पशुत्व हो। यह दो प्रकार का होता है—मलयुक्त और निर्मल।

२-कारण—समस्त विषयों की सृष्टि तथा संहार करने वाला तत्त्व कारण है। गुण और कर्म भेद से यह साद्य और अनेक रूपों का हो जाता है।

३-योग—चित्त के द्वारा ईश्वर के साथ जीव का सम्बन्ध जोड़ने वाले साधन वो योग कहते हैं। इसके दो रूप हैं—

१-क्रियायुक्त २-क्रियाहीन। जो योग अक्षरों तथा मन्त्रों का जप तथा ध्यान आदि के रूप में उसे क्रियायुक्त योग कहते हैं। अनुभव या तत्त्वज्ञान क्रियाहीन योग है।

४-विधि—जिसके द्वारा धर्म की सिद्धि हो वह क्रिया विधि है। इसके दो भेद हैं—प्रधान श्रूति गौण। जो साक्षात् धर्म का कारण हो वह प्रधानविधि है। इस विधि के दो भेद हैं—व्रत श्रूति द्वार। भस्म से स्नान, भस्म में शयन, उपहार, जष और प्रदक्षिणा-ये व्रत हैं।

५-दुःखान्त—अनात्मक और सात्मक के भेद से दुःख दो प्रकार का होता है। दुःखों का पूर्ण क्षमा अनात्मक है। जिसमें ज्ञान और कर्म की शक्ति से युक्त ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है वही सात्मक है।

शैव दर्शन में परम तत्त्व

इस मत में वस्तुतः एकमात्र शिव हैं। उसी से अन्य सभी तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं। अभिव्यक्त तत्त्वों को लेकर शैव दर्शन में निम्नलिखित तत्त्व हैं—साड़ख्य दर्शन के स्थूल भूतों से लेकर प्रकृति तथा पुरुष तत्त्व पर्यन्त पच्चीस तत्त्वों को उसी क्रम में शैव दर्शन भी मानता है।^६

शैव सिद्धान्त —

शैव दर्शन में चार पादों और तीन पदार्थों का प्रतिपादन है। चार पाद हैं—विद्या, क्रिया, योग तथा चर्या और पति, पशु और पाश ये तीन पदार्थ हैं। शैव दर्शन के मुख्य तत्त्व ये हैं—
 १—पति — ‘शिव’ पति पदार्थ से अभिप्रेत हैं। शिव जीवात्मा के कर्मों के अनुसार योग और उनके साधनों को उत्पन्न करते हैं। ईश्वर का शरीर जीवात्मा के शरीर के समान प्राकृत नहीं होता। जीवात्मा का शरीर मल और कर्मादि पाशों से युक्त है किन्तु ईश्वर का शरीर शक्ति-निर्मित है। शक्ति के ईशान आदि पांच मन्त्र हैं।^८ ये पांच मन्त्र ईश्वर की शक्तियां हैं। इनके द्वारा वह पांच कर्म करता है—सर्जन, पालन, संहार, आचरण और प्रसाद (अनुग्रह)। शिव के चार अंग हैं—मन्त्र, मन्त्रेश्वर, महेश्वर और मुक्त।^९

२—पशु — ‘पशु’ जीवात्मा है। वह सूक्ष्म है तथा क्षेत्रज्ञ आदि नामों से जाना जाता है। वह नित्य और सर्वव्यापी है, वह निष्क्रिय नहीं है, वह अनेक है। जब पाश हटा दिये जाते हैं तब वह नित्य तथा निरतिशय ज्ञान-क्रिया शक्तियों से सम्पन्न होकर चैतन्यमय शिव बन जाता है। मुक्त जीव शिव हैं, जो नित्यमुक्त और पांच मन्त्रों के शरीर वाले शिव की अनुकम्पा से मुक्त होते हैं। यद्यपि वे शिव हो जाते हैं फिर भी वे स्वतन्त्र नहीं होते, अपितु नित्यमुक्त शिव के अधीन रहते हैं। पशु तीन प्रकार के हैं—विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल।¹⁰

३—पाश — पाश चार प्रकार के हैं—मल, कर्म, माया और रोधशक्ति। मल वह पाश है जो तुष्टपदुलवत् आत्मा (पशु) की ज्ञान और क्रिया शक्ति को तिरोहित कर देते हैं। फल के लिये इच्छुक व्यक्ति जो करता है वह कर्म है। माया वह शक्ति है जिसमें प्रलयकाल में समस्त संसार परिमित हो जाता है। रोध शक्ति शिव की वह शक्ति है जो कि अन्य तीन पाशों में अधिष्ठित होकर पशु के यथार्थ स्वरूप को छिपा देती है। इसलिये स्वयं भी पाश कहलाती है।¹¹

यशस्तिलक चम्पू के परिप्रेक्ष्य में पाशुपत-मोक्ष

पाशुपत मत में पाश से छुटकारा पाना मोक्ष है। आचार्य सोमदेवसूरि के अनुसार— प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल भस्म लगाना, शिवलिङ्ग की पूजा करना, गड़क प्रदान (मुख के भीतर बकरी के शब्द का अनुकरण करना अथवा शिवलिङ्ग के सामने जलपात्र स्थापित करना), चारों ओर से शिवलिङ्ग की प्रदक्षिणा करना और आत्म विडम्बन (पञ्चाग्नि तपश्चर्या) आदि क्रियाकाण्ड के अनुष्ठानमात्र से मोक्ष होता है।¹² भगवान् लकुलीश ने कहा है—भस्म से तीन (अर्थात् प्रातः मध्याह्न और सायं) स्नान करना चाहिये तथा भस्म में ही शयन करना चाहिए।¹³

आचार्य सोमदेव सूरि ने इस मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि ज्ञानहीन पुरुष की

क्रिया फल देने वाली नहीं होती-अर्थात् ज्ञान के विना केवल चारित्र से मुक्ति नहीं होती । जैसे यदि जन्म से अन्धा पुरुष अनार आदि वृक्षों के नीचे पहुँच भी जाये तो क्या उसे छाया को छोड़कर अनार आदि फल प्राप्त हो सकते हैं, अपितु नहीं प्राप्त हो सकते । उसी प्रकार जीवादि सात तत्त्वों^{१४} के विना केवल आचरणमात्र से मुक्ति नहीं हो सकती । लगड़े पुरुष को ज्ञान होने पर भी वह चारित्र के विना अभिलिप्ति स्थान पर नहीं पहुँच सकता और अन्धा पुरुष ज्ञान के विना केवल गमनादि रूप क्रिया करके भी अभिलिप्ति स्थान पर नहीं पहुँच सकता । श्रद्धाहीन पुरुष की क्रिया और ज्ञान निष्फल होते हैं । अतः सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मुक्ति के कारण हैं ।^{१५}

यशस्तिलक चम्पू के परिप्रेक्ष्य में शैव-आप्त

शैवदर्शन तीन पदार्थों को मानता है – ईश्वर (शिव), जीव और संसार-वन्नन । उनमें से परमेश्वर अनादि, सर्वज्ञ और अशारीरी तथा प्राणियों द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा सृष्टिकर्ता है । परन्तु ईश्वर को अशारीरी मानने पर सृष्टिकर्तृत्व में वादा उपस्थित होती है । यहाँ पर एक आशङ्का की गयी कि यदि ईश्वर स्वतन्त्र सृष्टिकर्ता है, तो यह अशारीरी होने से सृष्टिकर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि संसार में शरीरी कुम्भकार घटादि कार्य करता है । ईश्वर को शरीरी मानने पर वह हम लोगों की तरह क्लेशयुक्त, असर्वज्ञ और परिमित शक्तिवाला हो जायगा । उक्त वादा को दूर करने के लिये उसमें शाक्त शरीर स्वीकार किया गया ।^{१६}

इस दर्शन की मान्यता है कि मलादि न होने के कारण शिव का शरीर हम लोगों के शरीर के सदृश नहीं है । अभिप्राय यह है कि शैवदर्शन विचित्र है क्योंकि उसमें मोक्षोपयोगी तत्त्व व शिव तत्त्व का स्वरूप सिद्धान्त और दर्शन में भिन्न है –

सिद्धान्तेऽन्यत्रमाणेऽन्यदन्यत्काव्येऽन्यदीहिते ।

तत्त्वमाप्तस्वरूपं च विचित्रं शैवदर्शनम् ॥^{१७}

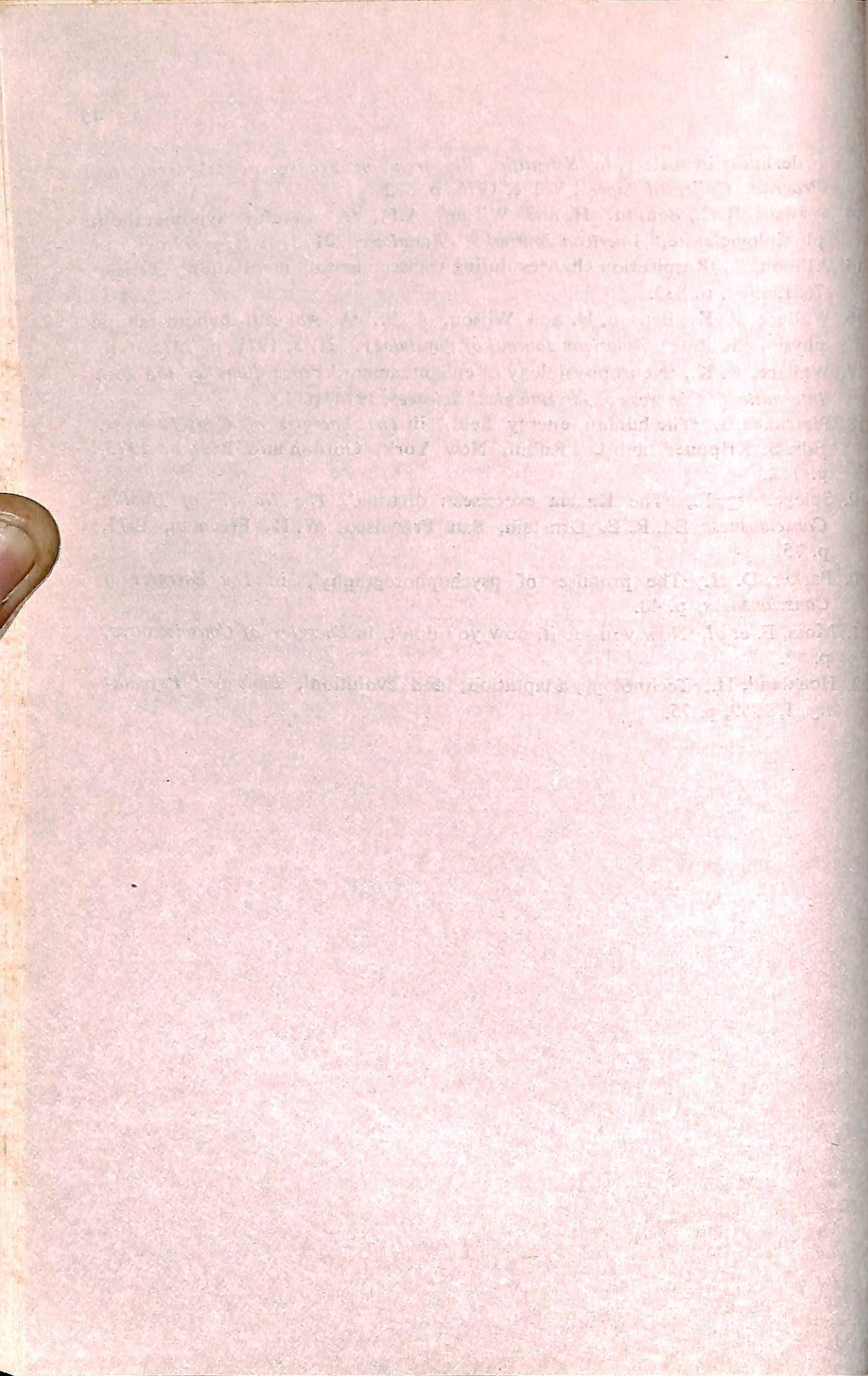
परमेश्वर जीवात्माओं के कर्मों के अनुसार भोग और उनके साधनों को उत्पन्न करते हैं । ईश्वर की सर्जनशक्ति मनुष्य के कार्यों पर आधारित है । ईश्वर सर्वद्रष्टा है । ईश्वर का शरीर जीवात्मा के शरीर के समान प्रवृत्त नहीं होता । ईश्वर का शरीर शक्तिनिर्मित है ।^{१८} शक्ति के ईशान आदि पांच मन्त्र हैं ।^{१९}

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्यसूरि ने यशस्तिलक-चम्पू में शैव दर्शन का समुचित प्रयोग किया है ।

संदर्भ

- १— पं० रामगोविन्द त्रिवेदी : दर्शन परिचय, पृ० ३४
- २— वही
- ३— रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ० १४७
- ४— वही
- ५— यथा माहेश्वरतन्त्रे विरुद्धं बहुजलितम् । चतुर्विद्यादि तत्सद्वर्यमार्गानुसारिणः । यश

- orderliness in society, in *Scientific Research on Transcendental Meditation Program, Collected Papers*, Vol. I, 1976, p. 672.
- 14. Wallace, R.K., Benson, H. and Wilson, A.F., 'A wakeful hypometabolic physiologic state,' *American Journal of Physiology*, 221, 3, 1971, p. 795.
 - 15. Allison, J., 'Respiration changes during transcendental meditation'. *Lancet*, 7651, 1970, p. 833.
 - 16. Wallace, R. K., Benson, H. and Wilson, A. E., 'A wakeful hypometabolic physiologic state', *American Journal of Physiology*, 221, 3, 1971, p. 797.
 - 17. Wallace, R. K., 'Neurophysiology of enlightenment,' *Proceedings of the 26th International Congress of Physiological Sciences*, 1974, p. 3.
 - 18. Pierrakos, J., 'The human energy field,' in *The Energies of Consciousness*, Eds. S. Krippner and D. Rubin, New York, Gordon and Breach, 1975, p. 162.
 - 19. Spiegelberg, F., 'The Kasina exercises : dharma', *The Nature of Human Consciousness*, Ed. R. E. Ornstein, San Francisco, W. H. Freeman, 1973, p. 75.
 - 20. Parker, D. H., 'The promise of psychophotography', in *The Energies of Consciousness*, p. 40.
 - 21. Moss, F. et al, 'Now you see it, now you don't', in *Energies of Consciousness*, p. 42.
 - 22. Hoagland, H., 'Technology, adaptation, and evolution', *Biological Psychiatry*, I, 1969, p. 75.



- कापालिका: कालामुखा: पाशुपतास्तथा । शैवास्त्रं च कापालमत्मेवं प्रचक्षते । पृ० १०
- ६— रामकृष्णगोपाल भण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ० १४०
- ७— पूजातत्त्व, पृ० ३८
- ८— तैत्तिरीय आरण्यक, १०/४३-४७
- ९— रामकृष्णगोपाल भण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ० १४२
- १०— वही, पृ० १४१
- ११— वही, पृ० १४४
- १२— त्रिकालभस्मोद्धूलनेज्या गडुकप्रदानप्रदक्षिणी करुणात्मविडम्बकादिक्रियाकाण्डमात्राधिष्ठानादनुष्ठानात् इति पाशुपता: — यश०, आ० ६, पृ० १८४
- १३— रामकृष्णगोपाल भण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ० १४०
- १४— यश०, ६/२४
- १५— वही, ६/२५
- १६— सर्वदर्शनसङ्ग्रह, पृ० १७८-१७९
- १७— यश०, ६/७२
- १८— रामकृष्णगोपाल भण्डारकर : वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत, पृ० १४२
- १९— तैत्तिरीय आरण्यक, १० / ४३-४७

०८४७। इन्हें लोकों की विश्वासीता और उनकी जीवन्यास के अनुसार विभिन्न विषयों पर विचार करने की अपेक्षा इन्हें अपनी विश्वासीता की विश्वासीता के बारे में विचार करने की अपेक्षा अधिक आवश्यकता है।

०८४८। अपनी विश्वासीता की विश्वासीता के बारे में विचार करने की अपेक्षा इन्हें अपनी विश्वासीता की विश्वासीता के बारे में विचार करने की अपेक्षा अधिक आवश्यकता है।

०८४९। अपनी विश्वासीता की विश्वासीता के बारे में विचार करने की अपेक्षा इन्हें अपनी विश्वासीता की विश्वासीता के बारे में विचार करने की अपेक्षा अधिक आवश्यकता है।

०८५०। अपनी विश्वासीता की विश्वासीता के बारे में विचार करने की अपेक्षा इन्हें अपनी विश्वासीता की विश्वासीता के बारे में विचार करने की अपेक्षा अधिक आवश्यकता है।

जागृधातोः स्त्रियां भावेऽर्थे कितनोऽपाणिनीयत्वम्

डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्यः

प्रयाग

✓जागृ (निद्राक्षये) धातोः भावे कः प्रत्ययः पाणिनीयव्याकरणे विहितः? कश्च शब्दस्ततो निष्पद्यते? अत्र विषये कियन्तोभ्रमाः सम्भवन्ति? इत्येतादृशेषु किमपि वक्तुकामोऽस्म्यहमिदानीम्। प्रथमं तावदेतद्विज्ञाप्यते यत् प्रधानतया 'भावे'र्थे ल्युड्ब्रजवादयः पुन्नांुसकलिङ्गयोः प्रत्ययाः विद्विताः स्त्रियाऽन्च किन्नादयः प्रत्ययाः प्रायः श्रूयन्ते। अतश्च ल्युडन्तः 'जागृ' धातोः 'जागरणम्'¹ इतिशब्दः साधुः, घनन्तो वा पुलिङ्गं 'जागरः' इत्यपि साधुशब्दो निष्पद्यते प्रयुज्यते च 'प्रजागरात्'² इत्यादिस्थले।

स्त्रीलिङ्गे तावत् भाववचनः कः प्रत्ययः 'जागृ'धातोविहितः, कश्चशब्दस्तत्र साधुत्वेन निष्पद्यत इत्येव विचिकित्साविषयः। एतस्यां स्थितौ 'इच्छा'³ सूत्रे 'जागर्त्तरकारोवा' इति वार्तिकं स्मर्यते। तस्याभिप्रायोऽयम् भवति यत् ✓ जागृधातोः भावार्थे स्त्रियां 'श' प्रत्ययः 'अ' प्रत्ययश्च विकल्पेन भवतः। ततश्च ✓ जागृ + श + टाप् = 'जागर्या'; ✓ जागृ + अ + टाप् = 'जागरा' इति शब्दद्वयं साधु। शितस्सार्वधातुकत्वात् 'सार्वधातुकेयक्'⁴ इति सूत्रवल त् 'श' विवाने यगागमः सूपपादः।

अत्र केचिद्विद्वांसो विवदमानाः स्त्रियां भावे ✓ जागृधातोः क्तिनः प्रयोगमपि समुचितम्भ-न्यमानाः 'जागर्ति' इत्यपि शब्दं साधुमेव मन्यन्ते। एतत्प्रसङ्गऽमरकोशव्याख्याकर्तुमुकुटस्य पंक्तिरिय-मवलोकनीया—'क्तिनि जागर्त्तरपीति मुभूतिः' इति मुकुटः⁵। कश्चत्सुभूतिनामा प्रकृत्वैयाकरणोऽत्र प्रमाणारूपेण निदिश्यमानो दृश्यते। एतत्प्रसङ्गवलेन वा प्रमादवशाद्वाधुनिका अपि केचिज्जनाः 'जागर्ति' इतिशब्दस्य साधुतां स्वीकुर्वन्ति प्रयुज्जते चैतत्पदम् व्यवहारकाले। तदर्थमेवैषा विचारणा लव्यावकाशा। अस्मिन् प्रसङ्गे तावद् भवन्तीमे प्रश्नाः। तथाः—

- (१) कि 'क्तिनः' प्रयोगः स्त्रीलिङ्गभाववचने सार्वत्रिकः?
- (२) कि 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' इतिसूत्रनिर्णीतवाधकतात्र क्तिनः प्रयोगं निषेद्यति?
- (३) कि वापाणिनीयत्वेऽपि निपातनादिरूपं किञ्चिदुपोद्वलकमत्र विद्यते?
- (४) आहोस्त्रिवत् शिष्टप्रयोगसत्त्वादनिर्मथ्या क्तिनन्तरूपग्राह्यता।

नैतद्वक्तव्यं यत् 'क्तिनः' स्त्रीलिङ्गभाववचने सार्वत्रिकः प्रयोगः पाणिनीयव्याकरणे विहितः, 'क्यप्, श, अ, अङ्, उच्, ष्वल्, इत्यादि' प्रत्ययानाम् तत्र तत्र विधानात्, क्तिनश्च तत्र बाधितत्वात्। ततश्च ब्रज्या, इज्या, इच्छा, परिचर्या, परिसर्या, मृगया, चिकीर्षा, पुत्रकाम्या, ईहा, जरा, त्रपा, मिदा, कृपा, चिन्ता, पूजा, कथा, चर्चा, प्रदा, उपदा, श्रद्धा, कारणा, हारणा, धारणा, वन्दना, वेदना, इक्षुभक्षिका, अजीवनिरित्यादिशब्दानां निष्पत्तिर्भवति। न चैतेषु शब्देषु क्तिनः प्रयोगो वैकल्पिकरूपेणापि संप्राप्यत इति। न कदापि 'वज्रतिः' 'परिचरितिः' 'मृगितिः' 'चिकीर्षितिरित्यादीनि क्तिनन्तानि रूपाणि सम्भवन्ति। तेन सिद्धमिदम् यन्निर्दिष्टस्थलेष्वेव अपवादरहितेषु 'क्तिन्' प्रत्ययः

प्रयोक्तुं शक्यः । तेन निष्चीयते यद् यत्र ये प्रत्ययाः यदर्थे विहितास्तेषामेव प्रयोगोऽनवदः । यत्र न सूचिता अपवादास्त्र स्यादेवौत्सर्गिकी प्रवृत्तिः । निर्दिष्टे खल्वपवादे नैवावकाशः उत्सर्गस्य । तदेव 'जागर्तेरकारो वा'^६ इति वार्तिकस्यापवदरूपस्य प्राप्ती न वयमौत्सर्गिकस्य क्तिनो √ जागृथ तोः स्त्रिया भावे प्रयोगं कर्तुमीश्महे । स्पष्टमेव तर्हि भावेस्त्रियां 'जागर्ति' शब्दसर्वथा प्रामादिकोऽपाणिनीयश्च सिद्ध्यतीति ।

तथापि भ्रान्तीनां बद्धमूलत्वात् सुस्थिरत्वाच्च सादृश्यव्यञ्जकसंस्काराणां यदि केनाऽपि विधिना क्तिनः वैकल्पिकप्रयोगोऽत्र स्त्रीक्रियेत, तदपि न क्षोदक्षमतामहंति । निरस्यत्येव तादृशी कामपिसम्भावनाम् - 'वाऽसृहपोऽस्त्रियाम्'^७ इत्येतत् सूत्रम् । विवृण्वन् चैतसूत्रं ज्ञानेन्द्रसरस्वती तत्त्वबोधिन्यां स्पष्टमाह— 'तेन 'स्त्रियां क्तिन्' इत्युत्पर्याम् 'अ प्रत्ययात्' इत्यपवादो नित्यं वाधते चिकिषा जिहीर्षा' इति^८ । ततश्च √ जागृधातोः स्त्रियां भावे क्तिन् नैव प्रयोक्तुं शक्यः ।

न च निपातनादि किञ्चिच्चद्दृश्यते येन भावेऽर्थे व्योत्ये 'जागर्ति' शब्दस्य साधुता उपपदेत् । लटि प्रथमपुरुषैकवचने दृश्यमानो 'जागर्ति' शब्दोऽथ च शिवन्तः धातुवचनः 'जागर्ति' शब्दसर्वथभिन्नावेव । तत्सादृश्यबलादत्र भावे स्त्रियामपि एवंरूपशब्दस्त्वयीत्येतादृशोभ्रमोऽहत्येव प्रामाणिकजनगर्हणाम् । अद्यावधि परिशीलितेषुकाव्यशास्त्रेतिहासादिसंस्कृतगन्येषु विद्वद्विविरचितेषु न क्वापि भावार्थको 'जागर्ति' शब्दो दृश्यते । अतः प्रकृतेऽर्थे गम्ये न कदापि स्वीकार्योऽयं क्तिन्नन्तः 'जागर्ति' शब्दः ।

'जागृति'शब्दस्तदर्थे तु अतितरामणुद्धः । प्रथमं तावन्निषिद्ध एव √ जागृधातो मावे स्त्रियां क्तिनः प्रयोगः । यदि नाम कश्चित् पण्डितमन्यस्तदर्थे √ जागृधातोः 'क्तिन्' इति प्रत्ययम् प्रयोक्तुं साहसमपि प्रदर्शयेत्, नैव शक्नोति स तादृशं शब्दरूपं लब्धुम्, जाग्रोऽविचिण्णलूडित्सु^९ । इति गुणविधायकसूत्रस्य तत्र सत्त्वात् । तदेव 'जागृति' शब्द निमणे तु द्विविधानुपपत्तिः 'क्तिनः' प्रयोगस्याप्रामाणिकत्वरूपा गुणविधानपरित्यागरूपा च ।

एतदुक्तं भवति—स्त्रियां भावे √ जागृधातोः न कदापि क्तिनः प्रयोगः सूत्रमाण्डानुकूलतां भजते न वा शिष्टप्रयोगपरम्परानुमोदनमवाप्नोति । अतो 'जागर्ति' शब्दस्तदर्थे सर्वथा प्रामादिकोऽप्रामाणिकश्च । दूर आस्ताम् तावज्ज्ञानस्त्रियां यस्तु द्वारेजिभताशेषशाब्दिकसमयत्वात् प्रामादिकतरोऽपशब्दश्चास्ते । अतस्संस्कृतभाषायां प्रकृतेऽर्थे √ जागृधातोनिष्पन्नो 'जागर्या' 'जागरा' चेति द्वावेवस्त्रीलिङ्गशब्दो प्रामाणिकत्वेन प्रयोक्तव्याविति सर्वमवदातम् ।

१. "चिन्त्ताजागरणप्रतान्तनयनस्तेजोगुणादात्मनः ।" अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६/६
२. "प्रजागरात्खिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः ।" अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६/२२
३. अष्टाध्यायी, ३/३/१०१
४. अष्टाध्यायी, ३/१/६७
५. द्रष्टव्या पादटिप्पणी, पृ० सं० ३६२, सुधाव्याख्योपेतामरकोषे, ३/२/१९
६. वार्तिकम् (सिद्धान्तकौमुद्याम्, ५०८)
७. अष्टाध्यायी, ३/१/९४
८. तत्त्वबोधिनी, पृ० सं० ५५४
९. अष्टाध्यायी, ७/३/८५

PASTTIMES AND RECREATIONS—POPULAR AND ROYAL

TRIBHUWAN NATH PANDE
Lucknow.

There are numerous references scattered in the literature of the period under review which supply us information about pastimes and recreations—popular and royal. Some of the games were outdoor and some were indoor. Some were popular amusements which were enjoyed by people in humbler sphere of life, whereas some were of royal type which could only be afforded by kings and nobles as they required costly paraphernalia beyond the means of common people.

In *Avadana Kalpalata*, there is the reference to a prince named *Kavi Kumara* who was brought up in a family of fisherman and used to play with other children of *Kampilya*. He used to pose himself as a King whereas other playmates obeyed his command. This play was named as “*Nripakrida*” or “*Rajakeli*”. In *Katha-Sarit-Sagar*, prince *Vikramashakti* of Pataliputra went along with his friends to the banks of the Ganga for playing. Among his playmates was a brahmana boy *Shridatta* belonging to a prosperous family. All of them began to play ‘*Rajakeli*’. The prince was appointed as King by one section of his playmates whereas another section elected *Shridatta* as their King upon which a duel started in which *Shridatta* came out victorious. By way of revenge the prince resolved to kill the brahmana boy who having scented the danger fled away.²

Other popular game among the children was playing with dools, which was a fascinating to the children then as it is in modern times. In *Katha-Sarit-Sagar*, the daughter of *Mayadanava* is described as playing with wooden dolls. Some of them were fitted with contrivances that made the dools fly to the sky and to bring garlands etc. while the others danced, sang and talked. The dolls of wax were called *Shikshakarma* whereas those made of wood were termed as *Pustakarma*.³ *Vaijanti* and *Abhidana-Chintamani* give us synonyms for dolls made of wood, cloth, ivory or clay.⁴

Another favourite pastime among the youngfolks was *Kanduka Krida*, i. e. playing with the ball. Players were sometimes so engrossed in the play that they forgot about their surroundings. Once prince *Naravahanadatta*, son of king *Vatsa* of Kausambi, along with his friend *Goumukha*, having become tired of hunting excursion, began to play ball (*Gulika*) which slipped from his hand and fell on the head of a female ascetic (*Parivrajika*) passing by that way. She said laughingly that the prince who was showing such a passion of youth

while playing the game, what he would do if he got *Karpura-manjari*. And we hear in *Katha-Sarit-Sagar* that since then the prince was after the above named damsel.⁵ This game was also enjoyed by girls.⁶

Smritichandrika,⁷ after *Sankha* and *Likhita*, describes other modes of recreations for a young wife which she forbids in case her husband is away from the house. These were not to be played in the highways and also not in the house. Those recreations were singing, dancing, seeing pictures, pleasure gardens, ball play and the like. Singing was a popular source of recreation among common people and royal personage. Princesses and village maids alike used to amuse themselves by oscillating in fresh, cool and fragrant air. Men were not left behind in such a colourful sport. *Hemacharya* has vividly described singing scene which took place in the *Ashokarama* of the king. Sharing the same plank, each couple, without hesitation was singing. Women were in full spirit. With the oscillation their *Nupuras* were tinkling. Whenever they touched the *Ashoka* tree with their feet, the latter blossomed. (*Kumarapalcharit* 3 : 19-25). By the passage of time, such innocent way of recreation was intruded by corruption and became a source of provoking passion in the heart or both the sexes as is evident from the description in *Yashastilaka* (1:596).

Taming animals as pets was also popular. We come across a reference to sale of mice and fish juice for feeding tenderly the kittens.⁸ In KSS Rishi Marid had tamed a parrot which was caught later on by a *nishada*.⁹ There was a wise male parrot tamed by king *Vikrama Kesari* and a wise female parrot by his queen *Chandraprabha* of Pataliputra.¹⁰ King *Amaradatta* of Ayodhya presented tamed creatures to prince *Mriganikadatta* at the time of latter's marriage.¹¹

Singing and dancing for the sake of amusement were also popular. In Kashmir, performance was the profession of Dombas in which they had acquired excellence. Due to this skill only a domba girl Hansi was raised to the rank of chief queen.¹² Similarly Jayamati, adopted by a dancing girl of the family of female dancer *Kanasharati*, was destined to become chief queen of *Uccala*, the king of Kashmir.¹³ It was King Kalasha who introduced into Kashmir according to *Kalhana*, the taste for choral songs (*Upanigagita*) and a careful selection of female dancers, as customary in other lands.¹⁴ King Harsha of Kashmir himself composed songs, full of pathos, about which the Kashmirian chronicler, with much admiration relates, "Even to this day if one of the songs which he composed for the voice is sung, tears roll on the eye lashes even of his enemies."¹⁴ The dancing girls were not despised but were sometimes even received into households as wedded wives. The practice of *gandharwa* art was also taken up by men. According to *Avadanakalpalata*, prince *Kavi Kumar* along with a troupe entered into the city of *Kampilya* in the garb of a dancer.

where his co-uterine brother *Lolamantra* the lustful king, had been ruling. The latter was so much amused with the dance of Kavi Kumar that he invited him in his private chambers. Kavi Kumar, the garbed dancer killed Lolamantra at the spot and proclaimed himself a King.¹⁵ We read in Merutungacharya's Prabandha Chintamani that King Kumarapala, being pleased by the skill shown by *Sangitacharya Solaka* in music which had got a wonderful melody of enchantment gave him 116 drammas.¹⁶

Kashmirians revered the Natya Shastra of Bharat Muni. Kalhana himself appears to be aware of the precepts of the sage on dancing and singing.¹⁷ In Kashmir there were theatre-halls fitted with leather cushioned couches which were probably meant for the rich people whereas common people were to enjoy the theatrical performances by sitting under open sky when they were sometimes disturbed by rains and had to disperse in all directions.¹⁸ In theatrical performances, ladies also used to take part as is evident from a reference in Vikramakadavacharit where poet Bilhana of Kashmir praises the women of his native land for their cleverness in acting.¹⁹ Kings of Kashmir were great lover of music and dancing. The performances took place in the illuminating assembly halls in royal place.²⁰ It is said of Harsh that he taught in person the dancing girls the art of acting.²¹ At the auspicious occasions, women folk used to dance and sing folksongss. At the time of the birth of *Naravahanadatta*, ladies belonging to the neighbouring chieftains came in accompanied with dancing girls.²² Similarly on the occasion of his marriage his would-be-mother-in-law *Kalingasena*, along with his mother and step mother *Vasavadatta* and *Padmavati*, danced for joy like the three powers of a king minted together.²³ *Naravahanadatta* himself perfected his wife *Madanamanchuka* in dancing and other accomplishments, giving her lessons in a concert hall that stood in the garden.²⁴ We hear of a minister well versed in dancing and playing on lyre, who was requested by a king to teach his queen to play on lyre.²⁵ Also a teacher hailing from Madhya desha, skilled in music and dancing was made the instructor in dancing of the ladies of the harem.²⁶ We have the performance of dance of Princess *Hansavati* dancing before her father to the music of a great tabor, looking like a creeper of the tree of love agitated by the wind of youth, shaking her ornaments like flowers curving her limbs like shoot.²⁷ And also of a girl who played upon the lyre, singing skillfully to it with rapt devotion, following the Southern style in respect of notes, time and words.²⁸

Drinking Parties (*Panagoshtis*)—

Excluding brahmanas and ascetics, for whom drinking was prohibited, all sections of the society indulged in drinking intoxicating liquor. Pana Goshtis were held on festive occasions in which ladies were also invited. Intoxication,

to a great extent, helped the ladies to tear off the mantle of modesty and cares the passionate feelings. Not only the kings and nobles but civilians of humble means also enjoyed the bliss of wine drinking. Sometimes the drunkard exceeded the limit and died of intoxication.²⁹

When *Naravahanadatta* became the king of *Vidyadharas*, so describes KSS, a *panagoshthi* was held. Banqueting hall was full of goblets made of various jewels, strewn with many flowers. It was crowded with jugs full of wine. *Naravahanadatta*, along with his wives and friends, drank the liquor that snaps those fetters of shame that bind the ladies of the harem, the essence of love life, the ally of merriment. When the queens began to show signs of intoxication, with their contracted eyebrows and were at the verge of querreling, the King led them to another chamber.³⁰ It is said of king Dharmadhvaja of Ujjaini that he, at the occasion of spring festival, held a *panagoshthi* in the royal garden. In that party the king quaffed with utter joy the ramnant of the wine left by his queen.³¹ We also hear of a merchant who indulged himself in drinking with a lady *Anaangaprabha*, who was merry with all the wantoness of wine.³²

Spring festival was celebrated with much delight. Gardens used to become the spot of merriment.³³ Both the rich and the poor waited for this festival eagerly. Describing the occasion Somadeva says that as time went on, the lion of spring came to that place, slaying the elephant of winter and it sported in the wood, with luxuriant clusters of flowers for mane and with mango buds for claws.³⁴

The game of gambling, notorious for converting its devotees from a millionaire to a pauper and vice versa with moment, unfortunately was one of the much relished game. *Moharajaparajaya* makes mention of five varieties of it. One was constantly played by the Kings with only a loin cloth in the court-yard, another by rich merchants' sons while third was played by small boys with cowries and so on.³⁵ In *Katha-Sarit-Sagar*, there are so many stories introducing the readers with the woes and misfortunes, tricks and tactics of the gamblers. This game attracted people from all sections and classes of society, Brahmana,³⁶ Kshattriya and Vaisya³⁷ alike, who, being addicted to their vice, were rapidly stripped off their wealth, nay their clothes at the game table. Sometimes whole family was affeted. For example one *Mukharaka*, who was ruined by the vice of gambling in early youth, left his home and went off to some other land. His mother died of grief on that account and his father, afflicted with two sorrows, abandoned the state of a householder.³⁸ Sometimes the royal families were reduced to the position of physical wreckes by this game.³⁹ The losers were sometimes punished, mercilessly beaten with the stick, and other instruments of tourture.⁴⁰ We also find⁴¹ descriptions of gambling halls where calamity

seemed to be continually watching with tumbling dice for rolling eyes, like the black antelope in colour and saying to themselves, whom shall we seize on here ? and the hall full of noise of the altercations of the gamblers, seemed to utter the cry 'who is there whose wealth I could not take away ? I could impoverish even Kubera, the lord of Alaka'.⁴² Sometimes some of the gamblers were so expert in playing the tricks of the game that the people of the gambling saloon were afraid of them. One such gambler was in Ujjain who was rightly named '*Thinthakarala*' i. e. the terror of the gambling saloon.⁴³ There were certain universally accepted rules among gamblers such as if a gambler did not object to the dice being thrown, it showed that he agreed to play.⁴⁴ Whosoever, when invited to gambling says 'I sit out of the game' cannot be forced to play. This was the universal convention among gamblers.⁴⁵ It is said of gambling that whoever knows the art of gambling has treasure in his grasp⁴⁶ and also that gamblers do not neglect a chance of profit even to their end.⁴⁷ Gamblers were thought to be a thing of disgrace to the society. No body placed its confidence on gambler who in his opinion professed exclusively one science of cheating, whose minds were proof against friendship, pity and gratitude for a benefit received. Reckless and disregard were of all ties are said to be ingrained in the nature of gamblers.⁴⁸

Among the games exclusively enjoyed by kings was hunting. Although the teachings of Buddhism, Jainism of non-violence lessened to a great extent the merciless killing of wild creatures but kings had but little regard for their teachings in this respect. One sage *Kanva*, entertaining king *Chandravalo* preaches him, 'Enjoy the delights of rule, give gifts, diffuse your fame through the world; but abandon the vice of hunting, the cruel sport of death. What is the profit of that mischievous hunting in which slayer, victim and the horse are equally beside themselves ?'⁴⁹ On the other hand we hear the piece of advice of *Amaragupta* being given to king *Vikrama Simha*, "If you want to show your skill in weapons and strength, show it in the forest appropriate field for it and in hunting. Since kings are not generally exposed to fatigue, hunting is appropriate to give them exercise and excitement, but warlike expeditions are not recommended. Moreover, the malignant wild animals desire that the earth should be dispopulated; for this king should slay them." On this ground, too, hunting is approved.⁵⁰ Sometimes queen also accompanied kings in their hunting expedition⁵¹ Dogs were also employed for hunting boar or a hare.⁵²

Another mode of recreation in which members of royal family engaged themselves was water sport. We hear of king *Kanakavarsha* in K. S. S. who after roaming for a long time in the spring garden with his wives entered the

Godavari to bathe and began the water game. The mind of *Kanakavarsha* took pleasure in his wives while they displayed the contours of their limbs in the splashing game. And in the ardour of the game he splashed one queen with water from his palms on her body.⁵³ In *Gaudavaho* Vakapatiraja vividly describes that the concubines of Yashovarman engaged in water sport. Similarly Hemacharya describes water sport of his time. Certain damsels were splashing water on her beloved, while some one was scolding her errant husband who was staring at some other woman. The members of royal family freely mixed with common people and enjoying the game.⁵⁴ In the same Kavya we find the description of *Dhara-Guha* of *Kumarapala* which was in the opinion of the poet was excellent.⁵⁵

People of means and of loose moral used to visit prostitutes for amusement. Those unfortunate girls, in order to hoard money, used to cast off a sense of modesty and used to earn as much by selling their body as they could afford. Procresses played a vital role in entrapping the errand youths. In their opinion the household wife loses all by drinking wine and so the prostitutes by following the path of truth. *Kshemendra* has gone in length in describing the arts in which prostitutes were expert. It makes the reader believe that all the hateful practices of mankind was thought to be their virtues, their final goal was to become a bawd in their old age.⁵⁶ There were certain prostitutes who had amassed a lot and were not less than a prosperous noble in her belongings.⁵⁷ The motto of the harlots of the age was '*Na Dharmaya na Kamaya vaya arithaya nirmitah*'.⁵⁸ Courteaus of good taste preferred to embrace a corpse than a poor man.⁵⁹

Now coming once again to royal amusement, we find a plan for king's palace in *Samarangana Sutradhara* which consists of construction of a theatre, a music hall, a gymnasium, a dancing hall and a picture gallery. It shows that the physical exercise and exercises in fine arts have come into the normal routine of a King.⁶⁰ King Someshvare of Deccan, in his encyclopedic work *Manasollasa* provides an exhaustive list of recreations meant for King some of which were military, literary exercises, elephant and horse sports, combatants' duel, wrestlers' contests, flight of birds and beasts, hunting, hawking, etc. It is probable that these sports were also enjoyed in northern India during 11th-12th centuries.

REFERENCES :

1. Avadana Kalpalata, 66.XVIII.
2. Katha Sarit Sagar.
3. KSS. p. 383 (Penzer Ed.)
4. Vaijayanti, 137; 11-14 : Abh. 404, 80
5. KSS. Vol III, p. 259

6. Vajyanti, 171, 161-62; Abh. 277, 252-53
7. Smriti Chandrika Vyavahara, P. 593
8. Kalhana's Rajatarangini, VIII, 139
9. KSS, p. 308
10. Ibid, p. 412
11. Ibid, p. 447
12. KRT, V, 3
13. KRT, VII, 1463
14. LRT, VII, 606
15. KRT, VIII, 3338
16. 66. 80-101
17. 3. 200
18. KRT. IV, 423
19. KRT, VII, 1606
20. Vik. XVII, 23 : 29
21. KRT. VII, 944-49; VIII, 1294
22. KRT. VII, 1140-41
23. Katha Sarit Sagar, Vol. II, p. 164 (Penzer Ed.)
24. Ibid, Vol. III, p. 140
25. Ibidd, Vol. III, p. 140
26. Ibid, Vol. IV p. 87
27. Ibid, Vol. IV p. 156
28. Ibid, Vol. Vi, p. 41
29. Ibid, Vol. IX, p. 107
30. KSS. YIII, 91-92
31. KSS. p. 429
32. KSS. p. 159
33. KSS. 1, 112
34. Avadana Kalpalata, 44 : 51-61
35. Katha Sarit Sagar, Vol. VII, p. 67
36. Moharajaparajaya, Act IV, p. 87
37. Katha Sarit Sagar, Vol. I. p. 174
38. Ibid. p. 87
39. Ibid. Vol. VI, p. 116.
40. Moharajaparajaya, Act IV, p. 87
41. Katha Sarit Sagar, Vol. VII, p. 72
42. Ibid, Vol. IX, p. 14
43. Ibid, Vol. VII, p. 72
44. Ibid, Vol. IX, p. 17
45. Ibid, Vol. IX, p. 18
46. Ibid, Vol. IX, p. 18

47. Ibid, Vol. I, p. 62
48. Kalhana's Rajataragini, Taranga III, 993
49. KSS, IX, 17
50. Katha Sarit Sagar, Vol. VII, p. 89
51. Ibid, Vol. III, p. 12
52. Ibid.
53. Mansollasa, IV; 1298 : Hammira Mahakavya, IV, 48 f.
54. KSS. Vol, V, P. 210
55. 4 : 42-77
56. 4 : 25-31
57. Kshemenda's Kala Vilas. 4 : 2-11
58. KSS. p. 174
59. Avadana Kalpalata, 72 : 16
60. KSS. Vol. I, p. 140

An Overlooked Reference to Subhuticandra, Bhanuji-Dikshita and Rayamukuta in the Tibetan Translation of the Amara-kosha

Dr. Biswanath Bhattacharya
Santiniketan

The Sutra-vritti¹ section of the Bstan-Hgyur contains a Tibetan translation of maha-pandita² Amarasingha's³ Nama-linga- 'nushasana,⁴ which is simply known as the Amara-kosha.⁵ This abhidhana-shastra⁶ is known to have been translated into Tibetan from the Sanskrit original by the Indian maha-pandita⁷ Kirticandra and the Tibetan translators⁸ Kirtidhvaja⁹ of Yar-luns at Yam-bu [= Svayambhu] in Nepal. This translation is said to have been revised by Dharmapalabhadra.

The colophon to this Tibetan translation of the Amara-kosha (Dharma-shala edn., p. 184) records an overlooked reference to Subhuticandra's¹⁰ commentary^{T1} named the Kama-dhenu,^{T2} Shri-Bhanuji-Dikshita's^{T3} commentary^{T4} entitled the Vyakhy-a-sudha^{T5} and Rayamukuta [s^{T6} Pada-chandrika]. The translators of the Amara-kosha derived much help from these commentaries.

Of these three commentaries Subhuticandra's Kama-dhenu has been translated into Tibetan by Dharmapalabhadra. Subhuticandra has been cited in many works.

It is interesting to note that the Tibetan translators of the Amara-kosha consulted Rayamukuta's Pada-candrika and, in particular, Bhanuji-Dikshita's Vyakhy-a-sudha. Bhanuji has criticized Rayamukuta in many places.

REFERENCES :

1. Mdo—(= Sutra--) Hgrel (= —vritti) [> Sutra-vritti].
2. Mkhas—pa— (= —pandita) chen—po (= maha—) [> maha—pandita].
3. Hchi—[ba—] (= —mara—) med—[pa—] (= A—) sen—ge (= —simha) [> Amarasingha].
4. Min—(= Nama—) dan rtags—(= —linga+) rjes—su—(= + anu—) bstan—pa (= —shasana) [> Nama—iinga—nushasana].
Lit. < ca >. This rendering has to be omitted from the Sanskrit restoration in view of the dvandva—samasa.
5. Hchi—ba—med—pahi (= Amarasya) mdzod(= koshah) [> Amara—koshah].
6. Mnon—brjod—kyi (= abhidhanasya) bstan—bcos (= shastram) [> abhi—dhana—shastram].

7. Pandita—(= —pandita) chen—po (= maha—) [> maha—pandita].
8. Lo—tsa—ba (= anuvadaka).
9. Grags—pa (= Kirti—) rgyal—(= —jaya—) mthsan (= —cihna) [> Kirti—jaya—cihna > Kirtidhvaja].
10. Rab—(= Su—) hbyor—(= —bhuti—) zla—ba (= —candra) [> Subhuti—candra].
11. Hgrel—pa (= tika).
12. Hdod—hjo (= Kamadudha > Kama—dhenu).
13. Shri—Bha—nu—dzi—Di—kshi—ta (= shri—Bhanuji—Dikshita; shri—Bha—nu—dzi—Di—o ... sic) in Tibetan transliteration.
14. Hgrel—pa (= tika).
15. Rnam—(= Vy+) bshad—(— + akhya—) bdud—rtsi (= —sudha)[> Vyakhy—sudha].
16. Ra—ya—mu—ku—ta (= Rayamukuta) in Tibetan transliteration.

आचार्य दण्डी के काव्यादर्श में ध्वनि-सिद्धान्त के अस्फुट संकेत

डॉ० धर्मेन्द्र कुमार गुप्त
पटियाला

ध्वनि-सिद्धान्त का उदय भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। यह घटना काव्य-तत्त्व के अनुसन्धान के प्रसंग में एक नवीन चिन्तन और नूतन दृष्टि उपस्थापित करती है। इस क्रान्तिकारी घटना के सर्जक थे अज्ञातनामा ध्वनिकार (जिसका काल अज्ञात है, परन्तु जिसे ८००-८२५ ई० के लगभग रखा जा सकता है) तथा ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन (लगभग ८७५ ई०)।^१

ध्वन्यालोक में जहाँ एक और ध्वनि शब्द विशिष्ट काव्य-प्रकार के रूप में पहली बार अपने पारिभाषिक अर्थ में आया है, वहाँ दूसरी ओर ध्वनि-सिद्धान्त भी अपनी पूर्ण सैद्धान्तिक प्रौढ़ता के साथ उपस्थित हुआ है। यह अपने आप में एक असंभाव्य-सी स्थिति है।

ध्वनिकार ने अपने ग्रन्थ की पहली कारिका में ही कहा है : 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति वृद्धैर्यः समानातपूर्वः'।^२ इस कथन के अनुसार, ध्वनि-सिद्धान्त दुधों अर्थात् काव्य-तत्त्ववेत्ता सहदयों द्वारा 'समानात-पूर्व' था। इस पर आनन्दवर्धन की वृत्ति है : 'वृद्धैः काव्यतत्त्वविद्भिः काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति सज्जितः परम्परया यः समानातपूर्वः सम्यग् आ समन्ताद् मनातः प्रकटितः।'^३ अर्थात् काव्यमर्जनों ने काव्य के आधारभूत तत्त्व को ध्वनि नाम दिया, और परम्परा से इसको बार-बार प्रकाशित किया। उक्त कथन की व्याख्या करते हुए लोचनकार अभिनवगुप्त (९८०-१०२० ई०) ने 'परम्परया' के भाव को इस प्रकार विशद किया है : 'अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्त', विनापि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेणनाद् इत्यभिप्रायः।^४ अर्थात् उन दुधों ने निरन्तर क्रम से इसका प्रकाशन किया है, किन्तु विशिष्ट पुस्तकों में इसका आख्यान अथवा स्थापन नहीं किया। इसी प्रसंग में अभिनवगुप्त ने ध्वनि की इस संकल्पना की 'इदं प्रथमता' का निराकरण किया है।^५

ध्वन्यालोककार ने आगे चलकर पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा ध्वनि-प्रकाशन सम्बन्धी अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है : 'तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्-भूतमतिरमणीयमीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां वुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्। अथ च रामायण-महाभारतपृष्ठतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारम्।'^६ अर्थात् ध्वनि की संकल्पना का उन्मीलन पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों द्वारा नहीं हुआ था, यद्यपि यह संकल्पना समस्त श्रेष्ठ कवियों की कविता का

‘उपनिषद्’ (=सारतत्त्व) है एवं रामायण, महाभारत आदि लक्ष्य ग्रन्थों में इसकी सुन्दर योज हुई है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है : यदि ध्वनि-संकल्पना अनुन्मीलित-पूर्व थी, तो प्रश्न कारिका में ध्वनि-विरोधी मतों की अवतारणा का आधार क्या हो सकता है ? और फिर एक लेख का ध्वनि-विरोधी अभिमत तो वृत्ति में भी उद्धृत है।⁷ अभिनवगुप्त ने इस लेखक को ग्रन्थका का समकालीन मनोरथ नामक कवि माना है।⁸

वस्तुतः ध्वनि-विरोधी मतों की अवतारणा अथवा ध्वनि के सम्बन्ध में वैयाकरणों और काव्यतत्त्वार्थदर्शी भनीषियों के मत का उल्लेख⁹ ध्वनिकार और आनन्दवर्धन ने अपने सिद्धान्त के अर्वाचीनता का निराकरण करने के लिये—उसे प्राचीनता का लाभ प्रदान करने के लिए—किया है।¹⁰ इस सम्बन्ध में आनन्दवर्धन के ये शब्द उल्लेखनीय हैं : ‘तदभाववादिनां चामी विकल्पः संभवन्ति तत्र केचिदाचक्षीरन्……। अन्ये ब्रूयुः……। पुनरपरे तस्याभावमन्तर्था कथयेयुः……।’¹¹ अर्थात् ‘ध्वनि का अभाव मानने वालों के ये विकल्प संभव हैं। इनमें कोई (अभ ववादी) कह सकते हैं……। दूसरे कह सकते हैं कि……। तीसरे (अभाववादी) उस (ध्वनि) का अभाव अन्य प्रकार कह सकते हैं।’ इसकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं : ‘तदव्याख्यानायै च संभाव्य दूषण प्रकटयिष्यति।……ते च (विकल्पाः) तत्त्वव्योधवन्द्यतया स्फुरेयुरपि, अत एव आचक्षीरन् इत्यादयोऽत्र संभावनाविषया लिङ्गप्रयोगा अतीतपरमार्थं पर्यवस्थन्ति।’¹² अर्थात् ‘उसके व्याख्यान लिए ही ग्रन्थकार संभावना करके दोष प्रकट करेगा।…… और वे (विकल्प) तत्त्व के ज्ञान के न होने के कारण ही स्फुरित होते हैं, अत एव यहाँ ‘आचक्षीरन्’ आदि संभावना-विषयक लिङ्ग के प्रयोग बुद्ध्यारोपित अतीत को लक्षित करते हैं।

ध्वनि को भास्त्र अथवा लक्षणा मानने वाले आचार्यों के मत की अवतारणा में आनन्दवर्धन और भी अधिक स्पष्ट हैं : “यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वान कश्चित् प्रकारः प्रकाशितः, तथाप्यमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्पैवमुक्तं ‘भास्त्रमाहुस्तमन्ये’ इति।”¹³ अर्थात् “यद्यपि काव्यलक्षणकारों ने ध्वनि शब्द का उल्लेख करके गुणवृत्ति अथवा किसी अन्य (ध्वनि) प्रकार को प्रत्यापित नहीं किया, तथापि काव्यों में अमुख्य (गौण) वृत्ति के द्वारा वाग्व्यवहार दिखाने वाले [आचार्य उद्भट] ने ध्वनि मार्ग का थोड़ा सा स्पर्श करके भी उसका (स्पष्ट) लक्षण नहीं किया। (इसलिए उनके अनुसार गुणवृत्ति ही ध्वनि है) ऐसी कल्पना करके ‘अन्य लोग उसे भास्त्र कहते हैं’ यह कहा गया है।”

ध्वन्यालोक के उक्त अवतरण में ध्वनि-सिद्धान्त के अस्फुट स्फुरण अथवा संकेत के सम्बन्ध में वस्तुस्थिति का सटीक आढ़यान है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यंजना-व्यापार का अस्फुट संकेत सर्वप्रथम¹⁴ आचार्य दण्डी द्वारा किए गए कतिपय अलंकारों के निरूपण में तथा कुछ एक गुणों के आख्यान में दीख पड़ता है।

इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण अलंकार है समासोक्ति, जिसकी दण्ड-प्रदत्त परिभाषा है : “वस्तु किञ्चिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः। उक्तिः संक्षिप्तरूपत्वात् सा समासोक्तिरिष्यते।”¹⁵ अर्थात् “किसी (इष्ट) वस्तु (प्रस्तुत) को अभिप्राप्य में रखकर उस वस्तु के समान किसी अन्य वस्तु

(अप्रस्तुत) का कथन समासोक्ति है।” उक्त परिभाषा के अनुसार अप्रस्तुत (उपमान) का कथन और उससे प्रस्तुत (उपमेय) की प्रतीति इस अलंकार का विषय है।¹⁶ इसका उदाहरण है : “पिबन्मधु यथाकामं भ्रमरः फुलपंकजे । अप्यसंनद्वसौरम्यं पश्य चुम्बति कुड्मलम्।”¹⁷ यहाँ यौवन से सम्पन्न रमणी से यथेष्ट रतिक्रीड़ा करने वाले अनुरागपूर्ण नायक के किसी अप्राप्तयौवना बाला के प्रति आकृष्ट हो जाने की प्रतीति हो रही है। यहाँ प्रतीयमान वस्तु प्रस्तुत है, और प्रतीति व्यंजना-व्यापार का विषय है। उक्त उदाहरण में अलंकार के लक्षण को समन्वित करते हुए दण्डी ने इस प्रतीति अथवा व्यंजना के व्यापार को ‘विभाव्यते’ (विभावित अथवा प्रतीत होता है)¹⁸ क्रियारूप द्वारा अभिव्यक्त किया है। अन्यत्र, अपूर्व समासोक्ति के उदाहरण का समन्वय करते हुए, दण्डी ने ‘विभावन’ के लिए ‘सूचन’ शब्द का प्रयोग किया है।¹⁹ दण्डी का यह ‘विभावन’ अथवा ‘सूचन’ स्पष्टतः व्यंजन या व्यंजना-व्यापार है, तथा उसके समासोक्ति के लक्षण में संकेतित अभिप्रेत वस्तु व्यंग्य अर्थ है।

इस प्रसंग में यह बात महत्वपूर्ण है कि काव्यादर्श के अपेक्षाकृत प्राचीन टीकाकार रत्नश्रीज्ञान (१००-१४० ई०) ने दण्ड-प्रदत्त समासोक्ति-लक्षण (उपर उद्धृत) की व्याख्या करते हुए लिखा है : “तस्मादियं गुणीभूताऽर्थान्तरं [स्फुटयति] न तु स्वार्थतन्ना । इयमेव चात्यैर्विशेषता व्यवहिते । यदाहुः—‘यत्रार्थः शब्दो वा तस्मर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो । व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥’²⁰ अर्थात् इस प्रकार यह (संक्षिप्त उक्ति) स्वयं गुणीभूत होकर अन्य अर्थ की व्यंजना करती है ; यह अपने (वाच्य) अर्थ की अवीनता में नहीं रहती (क्योंकि वाच्य अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है)। इसके लिए ही अन्य आचार्योंने ध्वनि शब्द का व्यवहार किया है। जैसा कि (ध्वनिकार ने) कहा है : “जहाँ अर्थ स्वयं अपने आप को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस [प्रतीयमान] अर्थ को व्यक्त करते हैं वहाँ उस काव्यविशेष को विद्वान् लोग ‘ध्वनि’ कहते हैं।”

यहाँ यह भी अवधेय है कि रत्नश्रीज्ञान ने समासोक्ति में, वर्णित अर्थ से मिल अभिप्रेत अथवा प्रतीत अर्थ को प्रधान अर्थ माना है तथा साक्षात् उक्त शब्द और अर्थ को गौण स्वीकार किया है, क्योंकि वह (साक्षात् उक्त अर्थ) उसकी दृष्टि में स्वार्थ पर नहीं है (प्रत्युत अभिप्रेतार्थ पर अथवा अभिप्रेतार्थनिमित्तक है)।²¹

अभिप्रेत वस्तु (व्यंग्य अर्थ) का कथन न करने का कारण यहाँ स्पष्ट ही यह तथ्य है कि उसका साक्षात् शब्द द्वारा कथन चमत्कार का आधायक नहीं होता, जबकि उसकी व्यंजना काव्य-चमत्कार की सृष्टि करती है।²²

दण्डी की समासोक्ति-संकल्पना उनके निकट परवर्ती आचार्य भामह (आठवीं शताब्दी का द्वितीय चरण) में स्पष्टतर रूप में आई है। भामह के अनुसार, जहाँ किसी पदार्थ का कथन होने पर उसके समान विशेषण वाला अन्य अर्थ प्रतीत होता है वहाँ समासोक्त होती है।²³ आचार्य मोज (१०००-१०५० ई०) भामह की अपेक्षा भी अधिक स्फुट है : “यत्रोपमानादेवैतदुपमेयं प्रतीयते । अतिप्रसिद्धेस्तामाहुः समासोक्तिं मनीषिणः।”²⁴ भामह और मोज ने यहाँ, दण्डी के अनुसार ही, प्रतीयमान को प्रस्तुत माना है तथा साक्षात् उक्त अर्थ को अप्रस्तुत कहा है। रुद्यक (लगभग ११५० ई०), विश्वनाथ (लगभग १२८०-१३२० ई०) आदि ने इस अलंकार में प्रतीयमानता को तो

स्वीकार किया है, परन्तु उनके अनुसार इस अलंकार में साक्षात् उक्त अर्थ ही प्रस्तुत होता है, जिसे अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है।²⁵ आनन्दवर्धन ने यहाँ व्यंग्य से अनुगत वाच्य की स्थिति मानी है।²⁶

व्यंग्य से अनुगत अन्य महत्वपूर्ण अलंकार है आक्षेप, जिसका विस्तृत निरूपण दण्डी ने अपने काव्य दर्श में किया है। दण्ड-कृत परिभाषा के अनुसार, आक्षेप प्रतिषेध की उक्ति (कथन) मात्र का नाम है : “प्रतिषेधोक्तिराक्षेपः।”²⁷ अर्थात् यहाँ प्रतिषेध का कथन तो होता है, परन्तु तत्त्वतः प्रतिषेध नहीं होता। दूसरे शब्दों में, प्रतिषेव का आभास आक्षेप अलंकार का विषय है। इस अलंकार के सम्बन्ध में उक्त तथ्य का स्पष्ट उल्लेख पहली बार भास्मह के काव्यालं ए में हुआ है; भास्मह ने विशेष अर्थ का प्रतिपादन करने की इच्छा से इष्ट के प्रतिषेधाभास को आक्षेप कहा है।²⁸

आक्षेप के स्वरूप की स्पष्टता दण्ड-प्रदत्त उसकी परिभाषा में न होकर उनके द्वारा दिए गए उदाहरणों में हुई है। इन उदाहरणों के पर्यालोचन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि दण्डी के अनुसार इष्ट अर्थ की प्रतिषेधाभास विविध और अनिष्ट अर्थ का विद्याभास प्रतिषेध इस अलंकार का विषय है। इसमें क्रमशः प्रतिषेव की वाच्यता द्वारा अर्थविशेष की व्यंग्यता तथा विधि की वाच्यता द्वारा प्रतिषेध की व्यंग्यता का ग्रहण होता है। उक्त दोनों रूपों में प्रतिषेध-तत्त्व, जिसे दण्डी ने आक्षेप कहा है, समान है। यह प्रतिषेव अथवा आक्षेप यहाँ प्रथम रूप में वाच्य है, वहाँ द्वितीय रूप में निससन्देह व्यंग्य है। आक्षेप की यह व्यंग्यता दण्डी-प्रदत्त उदाहरणों में नितान्त स्पष्ट है। अतादराक्षेप का उदाहरण देखें—

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला यम ।
गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वादस्था तु निवेदिता ॥²⁹

यहाँ प्रिय की प्रवास-यात्रा का निषेध वाच्य नहीं, व्यंग्य है। उसकी यह व्यंग्यता नायिका के उदासीनता-सूचक शब्दों से निष्पत्र हुई है। प्रवास-यात्रा-निषेध रूप वस्तु की व्यंग्यता के कारण यहाँ वस्तु-ध्वनि है। यहाँ यह बात महत्वपूर्ण है कि हेमचन्द्र (जन्म : १०८८ ई०) ने अपने काव्यानुशासन में इस उदाहरण को वस्तु-ध्वनि के निर्दर्शन के रूप में उद्धृत किया है।³⁰

आशीर्वचनाक्षेप का यह उदाहरण भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है—

गच्छ गच्छसि चेत्कान्तं पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥³¹

यहाँ भी प्रवास-यात्रा का विद्याभास निषेध है जो व्यंग्य है। भोज, स्यूयक, जयदेव (तेरहवीं शताब्दी), विश्वनाथ तथा अप्य दीक्षित (लगभग १६०० ई०) ने इस पद्य को इसी आक्षेप-प्रकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।³² यहाँ भी पूर्वोक्त उदाहरण की भाँति प्रवासयात्रा-निषेध रूप व्यंग्य की अवस्थिति के कारण वस्तु-ध्वनि है। प्रवासयात्रा-निषेध रूप व्यंग्य की स्थिति अनुजाक्षेप, परुषाक्षेप, साच्चिद्याक्षेप, यत्नाक्षेप, परवशाक्षेप, उपायाक्षेप, रोषाक्षेप तथा मूर्च्छाक्षेप के उदाहरणों में भी है।³³ इन सभी स्थलों में वस्तु-ध्वनि है।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार, ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन की दृष्टि में सभी प्रकार का सव्यंग्य निषेध आक्षेप अलंकार का विषय है।^{३४} पण्डितराज ने आनन्दवर्धन की आक्षेपध्वनि की व्याख्या^{३५} के आधार पर उसकी इस मान्यता का प्रख्यापन किया है। इस दृष्टि से यह आक्षेप, वाच्य की चाहता के प्राधान्य के कारण, गुणीभूतव्यंग्य काच्य की सीमा में आ जाता है। अग्निपुराण के लेखक (नवीं शताव्दी का उत्तर भाग) ने तो आक्षेप को ध्वनि ही मान लिया है।^{३६}

दण्डी के व्यतिरेक-निरूपण में भी व्यंग्य की उपस्थिति है। दो वस्तुओं के बीच सादृश्य के शब्दोपात्त अथवा प्रतीत होने पर (उपमेय का उत्कर्ष जताने के लिए) भेद का कथन, दण्डी के अनुसार, व्यतिरेक है—

शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोद्देयोः ।
तत्र यद् भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते ॥^{३७}

सादृश्य की प्रतीयमानता की बात दण्डी ने उपमा और प्रतिवस्तुपमा के प्रसंग में भी की है।^{३८} अन्यत्र उपमा के प्रसंग में उन्होंने सामान्य धर्म की प्रतीयमानता का उल्लेख किया है।^{३९} व्यतिरेक अलंकार के निरूपण में एक-व्यतिरेक नामक व्यतिरेक-भेद के वर्णन में दण्डी ने उपमेय और उपमान के बीच भेद की प्रतीयमानता की चर्चा भी की है।^{४०} सादृश्य एवं भेद की प्रतीयमानता की यह स्वीकृति व्यंग्य अर्थ की अचेतन अथवा अस्फुट स्वीकृति है।

दण्डी के अन्य अलंकार, जहाँ व्यंजना-व्यापार की अस्फुट स्वीकृति है, ये हैं : अन्योन्योपमा,^{४१} असाधारणोपमा,^{४२} अप्रस्तुतप्रशंसा,^{४३} व्याजस्तुति,^{४४} सूक्ष्म,^{४५} लेश,^{४६} पर्यायोक्त,^{४७} तथा उदात्त।^{४८}

यहाँ यह अवधेय है कि स्थ्यक ने भास्म, उद्भट आदि अनंकारवादी आचार्यों की ध्वनि-सम्बन्धी अस्फुट धारणा की समीक्षा करते हुए कहा है कि उक्त आचार्यों ने प्रतीयमान अर्थ को अलंकार की कोटि में अन्तर्हित माना है, क्योंकि प्रतीयमान अर्थ, उनकी दृष्टि में, वाच्य अर्थ का उपस्कारक अथवा शोभाकारक होता है।^{४९} उनके इस मन्तव्य के निर्दर्शन के रूप में स्थ्यक ने पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा और अनन्य आदि का उल्लेख किया है जिनमें ध्वनित होने वाले अर्थ को अलंकारवादी आचार्य वाच्य अर्थ का उपस्कारक मानते हैं। यद्यपि स्थ्यक ने इस प्रसंग में भास्म और उद्भट के साथ दण्डी का नाम-ग्रहण नहीं किया, तथापि दण्डी का नाम निस्सन्देह इन अलंकारवादी आचार्यों में समाविष्ट किया जा सकता है।^{५०}

इस प्रसंग में दण्डी के उदारत्व नामक गुण की चर्चा भी अप्रसंगिक न होगी। उसने इसे इस प्रकार पारिभाषित किया है—

उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुवते प्रतीयते ।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा सर्वपद्धतिः ॥^{५१}

इसका उदाहरण है—

अथिनां कृपणां दृष्टिरत्वमुखे पतिता सकृत् ।
तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते ॥^{५२}

अर्थात् ‘हे राजन्, याचकों की दीनता—पूर्ण दृष्टि तुम्हारे मुख पर एक बार पड़ने के बाद, पुनः दैन्यावस्था को प्राप्त होने पर, वह किसी अन्य दाता का सुंह नहीं ताकती।’ यहाँ ‘वह पुनः तुम्हारे पास आकर तुम्हें अपनी इच्छा पूर्ण कर लेते हैं। ऐसी है तुम्हारे दान—गुण की महिमा’ यह अर्थ प्रतीत होता है। वर्ण वस्तु की महत्वता के सूचक इस मान—गुण की प्रतीत उदारत्व गुण का लक्षण है। स्पष्ट है कि यह गुण प्रतीयमान अर्थ को अपने में गम्भित किए हुए है। दण्डी का यह गुण उनके अपने उदात्त अलंकार से तुलनीय है, और इस सम्बन्ध में यह बात महत्वपूर्ण है कि प्रो० पी० सी० लहरी ने दोनों के बीच अन्तर स्थापित करते हुए लिखा है कि जहाँ उदात्त अलंकार में आशय या विभूति की महिमा वाच्य होती है, वहाँ उदारत्व गुण में यह गम्य होती है।^{५३} वास्तव में दोनों के बीच यह विभाजक रेखा खींचना संभव नहीं है, क्योंकि दोनों में आशय या विभूति की महिमा गम्य है, वाच्य नहीं, जैसा कि उनके उदाहरणों से स्पष्ट है।^{५४}

दण्डी के माधुर्य गुण के विपर्यय भूत शब्दगत ग्राम्यत्व रूप दोष की स्थिति का आधार शब्द—विशेष की योजना द्वारा अर्थ—विशेष की व्यंजना है। इस प्रसंग में दण्डी कहते हैं : “पदों को परस्पर जोड़ देने से अथवा वाक्य के अर्थ—विशेष के माध्यम से वाक्य—विशेष अशिष्ट अर्थ का व्यंजक हो जाता है। जैसे—‘या भवतः प्रिया।’”^{५५} इस उदाहरण में “जो आपकी प्रिया है” यह प्रस्तुत वाच्य अर्थ है। इसमें ‘या’ और ‘भवतः’ को परस्पर जोड़ देने से “सतत मैथुनरत व्यक्ति की प्रिया (याभ—वतः प्रिया)” इस अश्लील अर्थ की व्यंजना होती है। यद्यपि यहाँ पर प्राप्त व्यंजना का स्वरूप उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत इसके स्वरूप से भिन्न है, तथापि दोनों के बीच एक अस्फुट साम्य अवश्य है।^{५६}

आचार्य दण्डी ने दो अवसरों पर गौणवृत्ति की चर्चा की है। समाधि गुण की उनकी संकल्पना का आधार स्पष्टतः लक्षण या गौणवृत्ति है। इस गुण का उदाहरण है : “कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युनिषन्ति च।” (कुमुद के फूल मुंद रहे हैं और कमल के फूल उन्मीलित हो रहे हैं)।^{५७} यहाँ समाधि गुण की परिभाषा के अनुसार कुमुदों और कमलों में नेत्र की क्रिया (निमीलन और उन्मीलन) का आरोप हुआ है। दण्डी की यह समाधि—कल्पना वामन में वक्रोक्ति अलंकार के रूप में आई है जो उनके अनुसार सादृश्यहेतुक लक्षण है।^{५८} उसमें इसका उदाहरण है : “उन्मीलकमत्तं सरसीनां कैरवं च निमीलमुहूर्तात्” जो दण्डी के उपर्युक्त उदाहरण से तुलनीय है।

इसी प्रसंग में दण्डी ने कहा है : “निष्ठ्यून=थूका गया, उद्गीर्ण=उगला गया, और वान्त=दमन किया गया आदि शब्द गौणवृत्ति (लक्षण) के आश्रय से अर्थात् लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त किए जाने पर अत्यन्त हृदयहारी होते हैं। अन्यत्र ‘वाच्य अथवा मुख्य अर्थ में प्रयुक्त किए जाने पर) ये अथवा ऐसे शब्द ग्राम्य शब्दों की कोटि में आते हैं।”^{५९} उक्त शब्दों के लाक्षणिक अर्थ में प्रयोग का दण्ड—प्रदत्त उदाहरण है : “पद्मान्यकर्णिणिष्ठ्यूताः पीत्वा पावकविप्रुषः। भूयो वमन्तीव मुखैरुद्गीर्णाश्चरेणुभिः॥” अर्थात् “सूर्य की किरणों से फेंके गए तेजःकणों को पीकर ये कमल अब उन कणों को अरुण पराग उगलने वाले अपने मुखों से अधिक मात्रा में मानों बाहर निकाल (विखेर) रहे हैं।”^{६०}

गौणवृत्ति का अन्यत्र उल्लेख हेतु अलंकार के अन्तर्गत चित्रहेतु के प्रसंग में है जहाँ दण्डी कहते हैं : “वे (दूकार्य, तथहज, आदि) चित्रहेतु काव्यशब्दों में गौणवृत्ति के समाश्रयण से इतिहास मनोहरी हो जाते हैं।”^{६१} इन चित्रहेतुओं के दण्ड-प्रदत्त उदाहरणों में गौणवृत्ति का सुन्दर समाश्रयण है।^{६२}

दण्डी द्वारा गौणवृत्ति की यह स्फुट कल्पना ध्वनि-संकल्पना का अस्फुट स्पर्श करती है। गौणवृत्ति की उनकी इस स्वीकृति में लक्षणः मूल अविवक्षितवाच्य, विशेषतः अत्यन्तरिक्षस्फुटवाच्य, नायक ध्वनि-भेद की अस्फुट स्वीकृति है।^{६३}

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि यद्यपि दण्डी ने ध्वनि शब्द का उल्लेख करके गौणवृत्ति अथवा किसी अन्य ध्वनि-प्रकार को प्रख्यापित नहीं किया, तथापि कतिपय अलंकारों के उनके निरूपण में एवं गौणवृत्ति के स्पष्ट उल्लेख द्वारा, उनके काव्यादर्श में ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यंजना-व्यापार का अस्फुट स्फुरण हुआ है थीर इस प्रकार दण्डी ने ध्वनि-सिद्धान्त का स्पर्श किया है।

इष्पणी तथा सन्दर्भोल्लेख :

१. ध्वनिकार और वृत्तिकार की परस्पर भिन्नता को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है। जहाँ ए० बी० कीथ (हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर [आक्सफोर्ड, १९२०], पृ० ३८६), सुशील कुमार दे (हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स [कलकत्ता, १९६०], प्रथम भाग, पृ० १०२ प्रभृति), वी० बी० काणे (हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स [दिल्ली, १९६१], पृ० १६१ प्रभृति) आदि दोनों की भिन्नता मानते हैं, वहाँ ए० शंकरन् (सम आ॒ष्टेक॒ट्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत [मद्रास, १९२६], पृ० ५०-६०), के�० कृष्णामूर्ति (ध्वन्यालोक, अङ्ग्रेजी अनुवाद, [पूर्ण, १९५५], आमुख, पृ० १७ तथा मुकुल्द माधव शर्मा (दि० ध्वनि थ्यूरी इन संस्कृत पोइटिक्स [वाराणसी, १९६८], पृ० २३-२८) दोनों को अभिन्न मानने के पक्ष में हैं।
२. ध्वन्यालोक [अभिनवगुप्त की लोचन टीका सहित, स० जगन्नाथ पाठक, वाराणसी, १९६५], १. १.
३. उक्त ग्रन्थ, पृ० ६.
४. उक्त ग्रन्थ, पृ० ११.
५. उक्त ग्रन्थ, पृ० ११ : समान्तातपूर्वै इति। पूर्वेग्रहणेदंप्रथमता नात्र संभाव्यते इत्योहं
६. उक्त ग्रन्थ, पृ० ३७.
७. उक्त ग्रन्थ, पृ० २७-२६ : तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः-यस्मिन्नस्ति न वस्तु
८. उक्त ग्रन्थ, पृ० २६.
९. उक्त ग्रन्थ, पृ० १३७-४२.
१०. तु० मुकुन्दमाधव शर्मा : उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ३८-३२.
११. ध्वन्यालोक, पृ० ८, १७, २३, २६.
१२. उक्त ग्रन्थ, पृ० १३-१४ ; तु० पृ० ३० भी : अभाववादस्य संभावनाप्राणित्वैन भूतत्वमुक्तम्। भाक्तवादस्त्वविच्छिन्नः पुस्तकेऽवित्यभिप्रायेण भाक्तमाहरिति नित्यप्रवृत्तवर्तमानपेक्षया० भिघानम् ।

१३. पृ० ३४.
१४. मुकुन्दमावव शर्मा (उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ३३-३४) ने भरत द्वारा रस रूप में व्यंजित स्थान भाव की चर्चा (नाट्यशास्त्र [अभिनवभारती सहित, बड़ौदा, १६३४, १९५६], पृ० २८७) में व्यंजना-व्यापार की संकल्पना का प्रथम उदय माना है। इस प्रसंग में उन्होंने भरत द्वा प्रयुक्त 'व्यंजित' शब्द का विशेष उल्लेख किया है, परन्तु इस शब्द का अर्थ यहां नाटक प्रसंग में, 'अभिनीत' है, जैसा कि स्वयं डा० शर्मा ने स्वीकार किया है। भामह के काव्यलंकार (सं० देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना, १६६२) में समासोक्ति के लक्षण (२.७६ : यत्रो गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः) में गम्य अर्थ का स्पष्ट उल्लेख है। परन्तु जैसा कि प्रत्यक्तियों के लेखक ने अपने ग्रन्थ, ए क्रिटिकल स्टडी आफ दिण्डन् एण्ड हिंज वर्क्स (दिल्ली १९७०), पृ० ६४-८१, में सविस्तर दर्शाया है, भामह दण्डी के बाद का लेखक है। दण्डी काल ६८०-७२० ई० है, जब कि भामह का समय आठवीं शताब्दी ई० का द्वितीय चतुर्वर्ष है। तु० काव्यादर्श (सं० घर्मन्द्रकुमार गुप्त, दिल्ली १६७३) पृ० २३-३६.
१५. काव्यादर्श, २.२०५.
१६. कतिपय उत्तरवर्ती आचार्य (यथा रुद्धक्, अप्पय दीक्षित, विश्वनाथ, विद्यानाथ आदि अप्रस्तुत की प्रतीति से युक्त प्रस्तुत उक्ति को इस अलंकार का विषय मानते हैं, और इसकार इसे अप्रस्तुतप्रशंसा से पृथक् करते हैं। दण्डी की समासोक्ति उत्तरवर्ती इन आचार्यों की अप्रस्तुतप्रशंसा से तुलनीय है।
१७. काव्यादर्श, २.२०६.
१८. उक्त ग्रन्थ, २.२०७। तु० रत्नश्रीज्ञान (काव्यलक्षण, दरभंगा, १६५७) : "विभाव्यते प्रतीतेन तु साक्षादुच्यते।" तु० प्रेमचन्द्र तर्कवागीश, जीवानन्द विद्यासागर, रंगाचार्य रङ् गास्त्री आदि टीकाकार भी।
१९. काव्यादर्श, २.२१३ ; तु० रत्नश्रीज्ञान भी।
२०. काव्यलक्षण, पृ० १३१। 'यत्रार्थः शब्दो वा' इत्यादि कारिका ध्वन्यालोक (१.१३) उद्धृत है।
२१. काव्यलक्षण, पृ० १३२ : "ततोऽयमेवार्थो विधेयत्वात्प्रधानम्। शब्दार्थस्तुपसर्जनीभूत तत्परत्वाभाद् वाक्यस्येति।" तु० पृ० १३४ भी : "तत्परत्वाद् अनपेक्षितस्वर्थनृतेर्वृक्षादि शब्दस्य पुरुषविशेषप्रत्यायकत्वम्।
२२. प्रेमचन्द्र तर्कवागीश (सं० कुमुदरंजन राय, कलकत्ता, १६७१) दण्डी के समासोक्तिलक्षण व्याख्या करते हुए कहते हैं : "किंचित् किमपि प्रस्तुत वस्तु अभिप्रेत्य चमत्कारिता प्रतिपिपादयिषया व्यंजनया प्रतिपादयितुमिलिष्य……।" यहां उन्होंने ध्वन्यालोक की निम्नलिखित उक्ति को उद्धृत किया है : "वाच्योऽर्थो न तथा स्वदते प्रतीयमानः स यथा।"
२३. काव्यालंकार, २.७९ (पूर्व उद्धृत)।
२४. सरस्वतीकण्ठाभरण (रत्नेश्वर एवं प्रगद्वर की टीका सहित, बम्बई, १६३४), ४.४६.

२५. रुद्यक : अलंकारसर्वस्व (सं० रामचन्द्र द्विवेदी, दिल्ली, १९६५), सूत्र ३१ ; विश्वनाथ : साहित्यदर्पण (सं० कृष्णमोहन शास्त्री, वाराणसी, १६४७-४८), १०.५६। तु० विद्यानाथ : प्रतापस्त्रद्रव्यशोभूषण (सं० वै० राघवन्, मद्रास, १६७०), द.११७ भी।
२६. ध्वन्यालोक, १.१३ (पृ० १०६-१०)।
२७. काव्यादर्श, २.१२०.
२८. काव्यालंकार, २. ६७-६८ : “प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।”
२९. काव्यादर्श, २.१३६.
३०. काव्यानुशासन (स्वोपज्ञ चूडामणि वृत्ति सहित, बम्बई, १६३४), पृ० ३७-३८.
३१. काव्यादर्श, २.१४१.
३२. सरस्वतीकण्ठाभरण, ४, उदा० १४७ ; अलंकारसर्वस्व, सूत्र ३६ वृत्ति ; चन्द्रालोक (कलकत्ता, १६२१), ५.७२ ; साहित्यदर्पण, १०.६५ ; कुवलयानन्द (भोलाशंकर व्यास, वाराणसी, १६६३), कारिका ७५.
३३. तु० काव्यादर्श, क्रमशः, २.१३५, १४३, १४५, १४७, १४६, १५१, १५३, १५५.
३४. रसगंगाधर (सं० बद्रीनाथ भा एवं मदनमोहन ज्ञा, वाराणसी, १६६४, १६६६), तृतीय भाग, पृ० ४०६.
३५. ध्वन्यालोक, २.२७ वृत्ति ।
३६. अग्निपुराण (सं० बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, १९६६), ३४५.१४ : “स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः ।”
३७. काव्यादर्श, २.१८०.
३८. उक्त ग्रन्थ, २.१४ तथा २.४६.
३९. उक्त ग्रन्थ, २.१६.
४०. उक्त ग्रन्थ, २.१८२.
४१. उक्त ग्रन्थ, २.१८ (उत्तरवर्ती उपसेयोपमा)।
४२. उक्त ग्रन्थ, २.३७ (उत्तरवर्ती अनन्वय)।
४३. उक्त ग्रन्थ, २.३४०-४२ (उत्तरवर्ती व्याजस्तुति से तुलनीय)।
४४. उक्त ग्रन्थ, २.३४३ प्रभृति (दण्डी के अपने लेश अलंकार के द्वितीय रूप से तुलनीय)।
४५. उक्त ग्रन्थ, २.२६०.
४६. उक्त ग्रन्थ, २.२६८-७२.
४७. उक्त ग्रन्थ, २.२६५-६६.
४८. उक्त ग्रन्थ, २.३०१-०३.
४९. अलंकारसर्वस्व, पृ० २-४.
५०. तु० अलंकारसर्वस्व पर विमर्शनीकार जयरथ (सं० रेवाप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी, १९७१), पृ० ६.
५१. काव्यादर्श, १.७६.

५२. उक्त ग्रन्थ, १.७७.
५३. कान्सेप्ट्स् आफ़ रीति एण्ड गुणा इन संस्कृत पोइटिक्स (डाका, १९३७, पुनर्मुद्रण, दिल्ली, १९७४), पृ० ७५ टिं० ।
५४. द्र० काव्यादर्श १.७७ तथा २.३००—०३.
५५. उक्त ग्रन्थ, १.६६ : “पदसंधानवृत्त्या वा वाक्यार्थत्वेन वा पुनः । दुष्प्रतीतिकरं ग्राम्यं यथा या भवतः प्रिया ॥”
५६. तु० कृष्ण चैतन्य : संस्कृत पोइटिक्स [वम्बई, १६६५], पृ० १३७.
५७. काव्यादर्श, १.६४.
५८. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपाल कृत कामवेनु टीका सहित, कलकत्ता, १९२२), ४.३.८ ; तु० अलंकारसर्वस्व, पृ० ७ मी ।
५९. काव्यादर्श, १.६५.
६०. उक्त ग्रन्थ, १.६६.
६१. उक्त ग्रन्थ, २.२५४ : “तेऽमी प्रयोगमार्गेषु गीणवृत्तिव्यपाश्रयात् । अत्यन्तसुन्दरा दृष्टाः……।
६२. उक्त ग्रन्थ, २.२५५—५६.
६३. तु० अलंकारसर्वस्व, पृ० ७ : वामनेन तु सादृश्यनिवन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलंकारत्वं व्रुत्ता कश्चिद् घ्वनिभेदोऽलंकारतयैवोक्तः ।” द्र० संजीवनी (सं० रामचन्द्र द्विवेदी) तथा विमर्शनी (सं० रेवाप्रसाद द्विवेदी) मी ।

—४३४—

शिव की अष्टमूर्तियाँ और उनकी वैदिक पृष्ठभूमि

डा० गया चरण त्रिपाठी

प्रयाग

संस्कृत के महाकवियों में कालिदास ही ऐसे हैं जिन्हें शिव का 'अष्टमूर्ति' विशेषण विशेष प्रिय है। अपने ग्रन्थों में कई स्थानों पर उन्होंने इसका प्रयोग किया है। रघुवंश २/३५ में निन्दनी द्वारा उद्भावित माया-सिंह दिलीप को अपना परिचय देता हुआ कहता है—

कैलासगौरं वृषभारुक्षोः पादार्पणानुग्रहपृष्ठम् ।

अवेहि माँ किकरमष्टमूर्तेः कुमोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥

इस स्थान पर कालिदासत्रयी के यशस्वी टीकाकार कौलाचल-मलिलनाथ यादवकोश से उद्धरण देते हुए इस झब्द की व्याख्या में कहते हैं कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा तथा सोमयाग का अनुष्ठान करने वाला यजमान, शिव की ये आठ मूर्तियाँ हैं—

पृथिवी सलिलं तेजो वायुराकाशमेव च ।

सूर्यचन्द्रमसौ सोम-याजी चेत्यष्टमूर्तयः ॥

अपने सर्वोत्कृष्ट नाटक अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सर्वप्रथम, मांगलिक श्लोक का आरंभ ही वे शिव की इन आठ मूर्तियों के वर्णन से करते हैं और इन मूर्तियों के परिगणन के बाद कहते हैं कि "जो शिव अपनी इन आठ भौतिक मूर्तियों द्वारा इस विषय में प्रत्यक्षतया अवभासित हो रहे हैं जिनकी सत्ता की पुष्टि के लिये किसी अन्य अनुमान या शब्द आदि प्रमाणों की आवश्यकता नहीं"), वे शिव आप लोगों की रक्षा करें" —

या सूष्टिः स्वष्टुराद्या वहति विधिहृतं या हृविर्या च होत्री

ये द्वे कालं विधत्तः शुतिविषयगुणा या स्थिता व्याध्य विश्वम् ।

यामाहुः सर्वब्रीजप्रकृतिरिति यथा प्राणितः प्राणवन्तः

प्रत्यक्षाभिः प्रपञ्चस्तनुभिरवतु वस्ताभिरहटाभिरीशः ॥

उक्त श्लोक में कालिदास शिव की विभिन्न मूर्तियों का नामतः उल्लेख नहीं करते अपितु तत् भौतिक तत्त्वों की विशेषताओं का वर्णन करते हुए उस मूर्ति-विशेष को ध्वनित करते हैं। शिव गी प्रथम मूर्ति वह है जो स्वष्टा की सर्वप्रथम सूष्टि है (जल), द्वितीय वह है जो विधिपूर्वक हवन गी हुई हवि को देवताओं के पास तक ले जाती है (अग्नि), तृतीय मूर्ति वह है जो इस हवि को ज्ञानिन में डालती है (यजमान)। शिव की चतुर्थ और चंचम मूर्तियाँ वे हैं जो समय का निर्धारण व नियमन करती हैं (सूर्य-चन्द्रमा), षष्ठि वह है जो समस्त विश्व को व्याप्त किये हुये हैं और जिसका गुण शब्द है (आकाश), सप्तम मूर्ति समस्त प्राणियों की उद्गम-स्थली है (भूमि) और अन्तिम

अष्टम् वह है जिसमें इस विश्व के प्राणी प्राणेवान् रहते हैं (वायु) ।

इस प्रकार कालिदास वस्तुतः इस सृष्टि के समस्त आधारभूत तत्त्वों से शिव : तादात्म्य करते हैं । शिव विश्वमूर्ति हैं (तु० की० न विश्वमूर्तेरवधार्यतेवपुः, कुमारसंभव ५/७८ । कि का निर्माण करने वाले पञ्च महाभूत-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश—तो उनके स्वरूप हैं हैं सूर्य एवं चन्द्रमा तथा यजमान (शिवभक्त) भी उनकी अन्य तीन मूर्तियाँ हैं और इस प्रकार वे अष्टमूर्ति हैं । क्योंकि ये अष्ट-मूर्तियाँ प्रत्येक मनुष्य के समक्ष हर समय उपस्थित हैं, वह हर समय इन अनुभव करता रहता है; इसलिए कहा जा सकता है कि उसे शिव की सत्ता की हर समयक्ष अनुभूति होती रहती है । ऐसे शिव के अस्तित्व के लिए किसी भी अन्य प्रमाण को उपन्यास करने की आवश्यकता नहीं ।

अष्टमूर्ति की यह अवधारणा संस्कृत साहित्य में सामान्यतया परिज्ञात या प्रचलित न है और वहुलतया उपलब्ध नहीं होती । पुराणों में भी इसका विस्तृत या विशद वर्णन प्राप्त न होता । इससे यह प्रश्न उठता स्वाभाविक है कि कालिदास को यह अवधारणा कहाँ से प्राप्त हुई कब से यह अवधारणा शिव के साथ जुड़ी है और क्या यह अपने मूल रूप में थी या इसमें विकल्प की कुछ कड़ियाँ खोजी जा सकती हैं ?

वेद हिन्दूधर्म के मूल हैं—वेदोऽखिलो धर्ममूलम् । यदि किसी धार्मिक मान्यता अवधारणा का मूल खोजना है तो वेदों में जाना पड़ेगा । वहाँ जाकर स्पष्ट होगा कि मूल धारणा क्या थी, वह कैसे और किस रूप में उत्पन्न हुई । कालिदास ने श्रुति का अनेक स्थलों पर अत्यधिक उल्लेख किया है । संभवतः वे स्वयं श्रोत्रिय थे । अभिज्ञानशाकुन्तलम् में वे यज्ञ-संपादन हेतु पशुमारण के लिये वायु श्रोत्रिय का पक्ष लेते हैं —

पशुमारणकर्मदारुणः अनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः । ६।१

शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में कण्व से वे एक वैदिक छंद (विष्टूप्) में शकुन्तला को आशीर्वाद दिलवाते हैं जिसमें उनका वैदिक-संहिताओं से परिचय निर्भर्ति रूप से सिद्ध होता है ।

अष्टमूर्ति की अवधारणा का इतिहास खोजने के लिए भी वैदिक साहित्य में जाहोगा ।ऋग्वेद में रुद्र के स्वरूप पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि इनके लिये ऋषिगण 'उत्थान' विशेषणों का प्रायः प्रयोग करते हैं; उदाहरणार्थ —

मृगं न भीमसुयहत्नुमुग्रम् — ऋग्वेद २/३३/११

स्थिरेभिरंगैः पुरुषं उग्रो — ऋग्वेद ३/३३/६

उग्रं मरुद्भी रुद्रं हुवेम — ऋग्वेद १०/१२६/५

रुद्र के स्वरूप में जो रौद्रता या भयंकरता है, उसको देखते हुए उनके लिये 'उत्थान' विशेषण का प्रयोग स्वाभाविक है । प्रथम उदाहरण में संग्रहित 'भीम' शब्द भी उनकी भयंकरता वाची है । 'ईशान' का अर्थ होता है ईश्वर, [संसार पर] राज्य करने वाला, सृष्टि का नियामक रुद्र के ऐश्वर्य की दृष्टि में रखते हुए ऋग्वेद का ऋषि कहता है —

ईशनादस्य भूरेन्व वा उ योषद् रुद्रादसुर्यम् । ऋ० २/३३/६

'अस्य भूरे: भूवनस्य ईशानः' का अर्थ है — 'इस विशाल भूवन् (जगत्) के नियामक रुद्र (शिव) की शक्ति एवं सामर्थ्य को देखते हुए उनके लिए इस विशेषण का प्रयोग भी समीक्षा

है। लौकिक संस्कृति में भी ईशान, ईश, ईश्वर, महेश तथा महेश्वर शब्द शिव को द्योतित करते हैं। अथर्ववेद में रुद्र के स्वरूप का विशेषण करते से पुनः दो प्रमुख विशेषणों पर हमारी दृष्टि जाती है जो रुद्र के लिये इस संहिता में प्रयुक्त हुए हैं, 'पशुपति' तथा 'महादेव'। 'पशुपति' शब्द लगभग १० स्थलों पर रुद्र के लिए प्रयुक्त हुआ है, उदाहरणार्थ —

य ईशः पशुपतिः पशूनां चतुष्पदासुत यो द्विपदाम् ।

अथर्ववेद २/३४/१

मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स मामवतु

अथर्ववेद ५/२४/१२

'महादेव' उपाधि रुद्र के लिये सर्वप्रथम अथर्ववेद ६/७/७ में प्रयुक्त हुई है। बाद में धीरे-धीरे यह शिव के लिये प्रयुक्त सर्वाधिक प्रचलित विशेषण बन गया।

उपर्युक्त दो विशेषणों के अतिरिक्त अथर्ववेद में रुद्र के लिये 'भव' एवं 'शर्व' नामक दो संज्ञाएँ और प्रयुक्त हुई हैं। अथर्ववेद के एक संपूर्ण सूक्त (४/२८) में रुद्र के 'भव' और 'शर्व' संज्ञक स्वरूपों का साथ-साथ स्तवन किया गया है। अ० वे० १०/२ भी इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

शर्व-शब्द का शहु (शल्य, रुद्र की विद्युत् रूपी हेति या शूल) से संबन्ध जान पड़ता है और यह उनके घोर रूप का वाची है। भव शब्द रुद्र-शिव की कारणित्री क्षमता या रचनाशक्ति का परिचायक है। शतपथब्राह्मण १/७/३/८ का कथन है कि "शर्वं और भव अग्नि (कालाग्नि-रुद्र) के ही दो पृथक् नाम हैं। पूर्व में रहने वाले (बिहार निवासी) अग्नि को शर्वं कहते हैं और पश्चिम की ओर रहने वाले (पंजाब वासी) उसी को भवं" —

अग्निवै स देवः । तस्येतानि नामानि शर्वं इति यथा प्राच्या आचक्षते । भव इति यथा ब्राह्मीकाः । पशूनां पतिः रुद्रोऽग्निरिति ।

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में रुद्र के उग्र, ईशान, पशुपति, महादेव, शर्व तथा भव ये छः प्रमुख नाम अथवा विशेषण हैं। एक सातवां विशेषण और है जिसे कहीं 'भीम' और कहीं 'अशनि' (वज्र) शब्द से अभिहित किया गया है। 'भीम' का अर्थ है भयंकर और यह ऋग्वेद २/३३/११ तथा अन्यत्र रुद्र के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'अशनि' वज्र को कहते हैं। रुद्र की ऋग्वेद में 'वज्र ब्राहु' कहा गया है —

श्रेष्ठो जातस्य रुद्रं धियाऽसि

तवस्तमस्तवसां वज्रं ब्राहो । कृ० २/३३ ३

अन्तरिक्ष की अग्नि (विद्युत्) से उनका विशेष संबन्ध वर्णित है और भंझावात के देवता मरुतों के वै पिता कहे गये हैं। उनके 'कल्मलीकिन्' (देवीप्यमान, तेजस्वी, कृ० २/३३/८) तथा 'शिवत्यंच (प्रवेत द्युति वाले, कृ० २/३३/८) विशेषण भी विद्युत् से उनके संबन्ध को ध्वनित करते हैं। इस प्रकार रुद्र के वैदिक साहित्य में ये आठ प्रमुख अभिधान हैं —

१—रुद्र

२—महादेव

३—ईशान

४—पशुपति

५—महादेव

६—भव

७—शर्व

८—भीम/अशनि

शिव से संबद्ध सर्वाधिक प्रसिद्ध और महत्वीय स्तोत्र शिवमहिमनस्तव में पुष्पदन्त शिव के इन आठ अभिधानों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इनमें से प्रत्येक का श्रुति में व्याख्यान प्राप्त होता है। जब श्रुति ही इन नामों का गुणान करती है तो इन नी महिमा का क्या कहना —

भवः शर्वीं रुद्रः पशुपतिरथौग्रः सह महाँ-
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम् ।
अमुषिमन् प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धास्ने प्रविहितनमस्योऽस्मि भवते ॥

ब्राह्मण ग्रन्थों में शिव के उक्त आठ अभिधानों को लेकर एक सुन्दर कथा का निर्माण किया गया है । कथा का प्राचीनतम रूप संभवतः ऋग्वेदीय कौषीतकिब्राह्मण ६/१ में प्राप्त होता है । इसमें कहा गया है कि अग्निं, वायुं, आदित्यं और चन्द्रमा इन चार ज्योतियों के सम्मिलित तेज से एक सहस्रहस्त, सहस्रचरण और सहस्राक्ष विशाल-पुरुष का जन्म हुआ । जब प्रजापति ने उससे पूछा कि तुम क्या चाहते हो, तो उसने कहा कि 'मेरा कोई नाम रखो । जब तक किसी व्यक्ति का कोई नाम नहीं होता तब तक वह संसार को भोग्य वस्तुओं का उपयोग करने का अधिकारी नहीं होता' —

स प्रजापतिः हिरण्मयं चमसमकरोद् इषुमात्रम् ऊर्ध्वमेव तिर्यञ्च । तस्मिन् रेतः समर्सिच्चत् ।
तत उदतिष्ठत् सहस्राक्षः सहस्रपात् सहस्रेण प्रतिहिताभिः । स प्रजापतिः पितरमभ्यायच्छत् ।
तमव्र वीत् कथा माम् अभ्यच्छसीति । नाम मे कुर्वीत इत्यन्नवीत् न वै अविहितेन नाम्ना अन्नम्
अत्स्यामीति ।

इसके आगे की कथा और महत्त्वपूर्ण है । प्रजापति उसके क्रमशः आठ नाम रखते हैं और प्रत्येक नाम का एक-एक अर्थ बताते हैं, अथवा उस नाम का एक-एक भौतिक या दैविक तत्त्व से तादात्म्य करते हैं । ये नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—भवः, शर्वः, पशुपतिः, उग्रोदेवः, महान् देवः, रुद्रः, ईशानः, तथा अशनिः । इनका क्रमशः निम्न तत्त्वों से तादात्म्य किया गया है—

१-	भवः	=	आपः
२-	शर्वः	=	अग्निः
३-	पशुपतिः	=	वायुः
४-	उग्रोदेवः	=	आदित्यः
५-	महान् देवः	=	चन्द्रमा:
६-	रुद्रः	=	
७-	ईशानः	=	अन्नम्
८-	अशनिः	=	इन्द्रः

जब प्रजापति उस सहस्राक्ष पुरुष (रुद्र) के आठ नाम रख चुकते हैं और इन नामों का अर्थ उस पुरुष को बता देते हैं तो वह सन्तुष्ट हो जाता है । अपना 'अशनि' नाम सुनकर वह कहता है—“बस, ठीक है, मेरे इतने नाम पर्याप्त हैं । और अविक नाम रखने की आवश्यकता नहीं है” ।

कौषीतकि ब्राह्मण के इसी प्रसंग को शुक्ल यजुर्वेद से संबन्धित शतपथ ब्राह्मण ६/२/३/८-१७ योड़े और व्यवस्थित तथा रोचक रूप में प्रस्तुत करता है । संवत्सर के उषा में निक्षिप्त तेज से एक तेजस्वी बालक की उत्पत्ति होती है । उत्पन्न होते ही वह रोने लगता है । प्रजापति उससे पूछते हैं, कुमार क्यों रो रहे हो? उस पर वह कहता है कि मेरा अभी तक कोई नाम नहीं है । इसलिये मैं अभी तक दुर्लक्षणों से युक्त दूःख है । यही मेरा दुःख है । प्रजापति कहते हैं—

रोये हो, इसलिये तुम्हारा नाम रुद्र है। रुद्र श्रेष्ठ नाम है। अतः इस प्रकार तुम अग्नि हुए। पर कुमार कहता है—‘नहीं, मैं अग्नि से अधिक बड़ा, उससे अधिक महान् हूँ मेरा कोई और रखो। प्रजापति कहते हैं—‘ठीक है, मैं तुम्हें शर्व नाम देता हूँ। जलों को शर्व कहते हैं। नाम से तुम्हारा जलों से तादात्म्य हो जाएगा।’ रुद्र को यह भी नाम पसन्द नहीं आया। वे ने को जलों से अधिक बड़ा समझते हैं। तब प्रजापति उनके पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महान् तथा ईशान, ये छः नाम और रखते हैं और इनका क्रमशः ओषधयः, वायुः, विद्युत्, पर्जन्यः, चन्द्रमः, तथा आदित्यः से तादात्म्य प्रतिपादित करते हैं। जब वे कुमार को उसका अष्टम नाम ‘आठ’ बताते हैं तो वह उससे पूर्ण सन्तुष्ट हो जाता है और प्रजापति से कहता है—‘अब ठीक है। तुतः मैं इतना ही हूँ (अर्थात् इन सभी आठ भौतिक पदार्थों का सम्मिलित रूप हूँ)। अब इससे यक नाम मत रखो—

संवत्सर उषसि रेतः असिच्चत् । संसंवत्सरे कुमारः अजायत । स अरोदीत् । तं प्रजापतिरब्रवीत्—कुमार किं रोदिषि ? सोऽब्रवीत् अनपहतपाप्मा वा अस्मि, अहितनामा । नाम मेरीति । तमब्रवीत् रुद्रोऽसि । तद् यदस्य नाम अकरोत् अग्निस्तद्रूपमभवत् । अग्निर्वेरुद्रः । सोऽब्रवीत् आयान् वा अतः अस्मि । धेहि एव मे नाम इति । तमब्रवीत् शर्वोऽसि । आपस्तद्रूपमभवत् । *** गुपतिरसि *** ओषधयस्तद्रूपमभवत् । उग्रोऽसि *** वायुस्तद्रूपमभवत् । अशनिरसि *** विद्युद् वा शनिः । भवोऽसि *** पर्जन्यो वै भवः *** । महान् देवोऽसि *** चन्द्रमास्तद्रूपमभवत् *** ईशानोऽसि *** आदित्यो वा ईशानः । सोऽब्रवीत् एतावान् वा अस्मि । मा मा इतः परो नाम धाः ।

शतपथ ब्राह्मण ६/१/३/८—१७

पष्ट है कि कौशीतकि तथा शतपथ दोनों ही ब्राह्मण शिव के आठ प्राचीन अभिधानों का प्रकृति के आठ तत्त्वों से तादात्म्य करते हैं। उनकी दृष्टि में शिव के ये अभिधान एक-एक तत्त्वों के वाची हैं और उनसे घनिष्ठतया संबन्धित हैं। किन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि शिव के अभिधानों में अर्णतया साम्य होने पर भी शिव प्राकृतिक (या दैवी) तत्त्वों के ये वाची हैं, उनमें पर्याप्त वैभिन्न्य दृष्टिगोचर होता है। नीचे की तालिका से यह स्पष्ट हो जाएगा।

प्राकृतिक तत्त्व

अभिधान		
१ — रुद्र	कौशीतकि	शतपथ
२ — उग्र	चन्द्रमा	अग्नि
३ — पशुपति	ओषधियाँ	वायु
४ — ईशान	वायु	ओषधियाँ
५ — महान् देव	अन्न	आदित्य
६ — भव	आपस्	चन्द्रमा
७ — शर्व	अग्नि	पर्जन्य
८ — अशनि	इन्द्र	आपस्
		विद्युत्

सूची पर दृष्टि डालने से विदित होगा कि शतपथ-ब्राह्मण में अभिधानों का प्राकृतिक तत्त्वों से तादात्म्य करते समय कुछ अधिक तर्कसंगत दृष्टि से सोचा गया है। रुद्र का अग्नि से पशुपति का ओषधियों से (पशुओं का भक्ष्य होने के कारण), भव का आपस् से तथा ईशान का आदित्य से

संबंध उपयुक्त और समीचीन प्रतीत होता है। कौषीतकि ब्राह्मण कथा के प्राचीनतर रूप को सुरक्षित रखे हुए है।

अस्तु अब यदि हम शतपथ-ब्राह्मण के उन प्राकृतिक तत्त्वों पर दृष्टि डालें जिनका रुद्र-शिव के साथ तादात्म्य किया गया है तो हमारे सामने निम्न स्थिति उभरती है —

१ — जल (आपस्)	—	शर्व
२ — वायु	—	उग्र
३ — अग्नि	—	रुद्र
४ — ओषधियाँ	—	पशुपति
५ — विद्युत्	—	अशनि
६ — सूर्य	—	ईशान
७ — चन्द्रमा	—	महान् देव
८ — मेघ (पर्जन्य)	—	भव

इस सूची का ध्यान से अवलोकन करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि कालिदास द्वारा अभिनानशास्त्रानुन्तर की नान्दी में उल्लिखित आठ में से पाँच तत्त्व (जल, वायु, अग्नि, सूर्य तथा चन्द्रमा) तो शतपथ ब्राह्मण में ही प्राप्य हैं। अब प्रश्न है कि शेष तीन अर्थात् पृथ्वी, आकाश एवं यजमान कहाँ से आये?

आइये, एक बार फिर इस सूची पर दृष्टि डालें। यहाँ हमें तीन असंगत तत्त्व प्राप्त होते हैं — ओषधियाँ, विद्युत् तथा मेघ (जिसे कौषीतकि-ब्राह्मण में ‘अन्न’ की संज्ञा दी गई है)। इन्हीं तीन तत्त्वों को हटा कर पर-वैदिक युग में पृथ्वी, आकाश एवं यजमान की सूची में सन्निविष्ट किया गया। ओषधियाँ पृथ्वी पर उत्पन्न होती हैं। कालिदास ने पृथ्वी को “सब बीजों की आदि प्रकृति” (यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति...) कहा है। जैसे-जैसे पंच महाभूतों के सिद्धान्त का विकास हुआ होगा, वैसे-वैसे इस सूची में ‘पृथ्वी’ को जोड़ने की आवश्यकता अनुभूत की गई होगी। उपनिषदों के समय तक ग्राते-ग्राते पंच महाभूतों की मृष्टि के मूल भौतिक कारणों के रूप में पूर्णतया प्रतिष्ठा हो चुकती है। अतः प्रतीत होता है कि उस समय तक ओषधियों का स्थान पृथ्वी ने ले लिया होगा।

सूची में ‘आकाश’ को सन्निविष्ट करने के लिये निश्चय ही विद्युत् को बहिष्कृत किया गया है। विद्युत् एक अस्थायी प्राकृतिक दृश्य है। जगत् के मूल भौतिक कारणों के साथ इस दृश्य की परिगणना पूर्णतया असंगत और तर्करहित थी। अतः उसको निकाल कर उसके स्थान पर आकाश को प्रतिष्ठित किया गया।

अब मेघ या अन्न ही एकमात्र तत्त्व बचता है जिसने ‘यजमान’ के लिये स्थान रिक्त किया। यजमान अथवा ‘सोमयाजी’ का परिगणन क्यों रुद्र-शिव की प्रत्यक्ष मूर्तियों में किया गया, इसका पता तभी चल सकता है जब वैदिक कर्मकाण्ड का सूक्ष्म एवं दार्शनिक विश्लेषण किया जाए। यज्ञ का तादात्म्य ब्राह्मण ग्रन्थों में निरन्तर विध्यु से किया गया है (यज्ञो वै विध्युः)। शतपथ ब्राह्मण में ही शताधिक ऐसे उद्धरण विद्यमान हैं। रुद्र के लिये यज्ञ में कोई भाग कल्पित नहीं किया जाता। रुद्र यज्ञ का उपयोग करने वाले नहीं, उसे संपादित करने वाले हैं। वे यजमान हैं। यज्ञ संपादित

करने वाले रुद्र का स्वरूप होता है। परवर्ती धार्मिक मान्यताओं के अनुसार भक्त भगवान् का स्वरूप है। यदि यजमान शब्द को हम अधिक संकीर्ण अर्थ में न लें तो इसकी हम शिव-भक्त या भगवद्भक्त के रूप में भी व्याख्या कर सकते हैं। भक्त और भगवान् में ऐकात्म्य है। उपास्य और उपासक एक हैं। हिन्दू देवोपासना में अच्चक वास्तविक पूजा से पूर्व विविध मंत्रादि के न्यास से अपने शरीर को इष्टदेवतामय बनाता है। अपनी देह को वह इष्ट देवता के स्वरूप में परिवर्तित करके इष्ट-देवता की पूजा करता है (देवो भूत्वा देवं यजेत्)। स्पष्ट है कि यजमान या शिवार्चक शिव का ही स्वरूप होगा, वह उसी की एक मूर्ति होगा।

पुष्पदन्त ने अपने शिवमहिस्तन्त्र में यजमान को 'आत्मा' से स्थानापन्न कर दिया है जो उनकी वेदान्त से प्रभावित, सूक्ष्म, दार्शनिक-दृष्टि का परिचायक है। हमें पता नहीं कि पुष्पदन्त से पूर्व मी किसी ने अष्टम मूर्ति के रूप में 'सोमयाजी' या 'यजमान' के स्थान पर प्रत्यङ्-आत्मा की परिकल्पना की थी या नहीं पर यजमान के स्थूल रूप को छोड़ कर उसके सूक्ष्म-रूप की ओर बढ़ना, यजमान के स्थान पर मनुष्य-मात्र की, अपितु कहना चाहिये कि प्राणिमात्र की जीवात्मा को परम-शिव का या परमेश्वर का एक रूप परिकल्पित करना निश्चर ही भारतीय प्रजा की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसी संदर्भगत श्लोक में आगे पुष्पदन्त यह भी कहते हैं कि हे शिव, आपको जानने वाले भले ही यह कहते रहें कि आप अमुक हैं, किन्तु वस्तुतः मैं तो इस जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं जानता जो आप न हों (इसलिए यह अष्टमूर्ति की परिकल्पना तो वस्तुतः आपके स्वरूप की अव्याप्ति है) —

त्वमकस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हृतवहः
त्वमापस्त्वं व्योम त्वम् धरणिरात्मा त्वमिति च ।
परिच्छिन्नमेवं त्वयि परिणता विश्रुतु गिरं
न विद्मस्तत् तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥

उपर्युक्त विवरण से जहाँ एक ओर यह स्पष्ट है कि समग्र भारतीय दर्शन, साहित्य तथा संस्कृति की मूल उत्स, भगवती श्रुति का सम्यक् अध्ययन किये बिना भारतीय धर्म और दर्शन से संबंधित किसी भी प्रश्न का सम्यक् उत्तर पा सकना असंभव है वहाँ यह भी प्रमाणित होता है कि कालिदास ने वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया था। संस्कृत महाकवियों में एकमात्र वे ही हैं जो रुद्र-शिव के अष्टमूर्तित्व पर इतना बल देते हैं।

१०८ अस्ति विष्णु विष्णु विष्णु विष्णु विष्णु विष्णु विष्णु विष्णु

आचार्य विद्यानन्द और उनकी जैनदर्शन को देन

डॉ० दरबारी लाल कोठिया
वाराणसी

आचार्य विद्यानन्द और उनके ग्रन्थ-वाक्यों का अपने ग्रन्थों में उद्धरणादि रूप से उल्लेख करने वाले उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों के समुलेखों तथा विद्यानन्द की स्वयं की रचनाओं से जो उनका सक्षिप्त, किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक परिचय उपलब्ध होता है और जिसे हम अन्यत्र दे चुके हैं,^१ उससे विदित है कि विद्यानन्द दो गंग-वंशी राजाओं-शिवमार द्वितीय (ई० द१०) और उसके उत्तराधिकारी राजमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० द१६) के समकालीन विद्वान् हैं तथा उनका कार्य-क्षेत्र मुख्यतया इन्हीं गंगराजाओं का राज्य मैसूर प्रान्त का वह बहुभाग था, जिसे 'गंगवाड़' प्रदेश कहा जाता था। यह राज्य लगभग ईसा की चौथी शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक रहा और आठवीं शती में श्रीपुरुष (शिवमार द्वितीय के पूर्वावधिकारी) के राज्य-काल में वह चरम उन्नति को प्राप्त था। शिलालेखों तथा दानपत्रों से ज्ञात होता है कि इस राज्य के साथ जैनधर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जैनाचार्य सिंहनन्द ने इसकी स्थापना में भारी सहायता की थी और आचार्य पूज्यपाद-देवनन्द इस राज्य के गंग-नरेश दुर्विनीत (लगभग ई० ५००) के राजगुरु थे। अतः आश्चर्य नहीं कि ऐसे जिन-शासन और जैनाचार्य भक्त राज्य में विद्यानन्द ने बहुवास किया हो और वहाँ रहकर अपने बहु-समय-साध्य विशाल तार्किक ग्रन्थों का प्रणयन किया हो। कार्यक्षेत्र की तरह यही प्रदेश उनकी जन्मभूमि भी रहा हो, तो कोई असम्भव नहीं है, क्योंकि अपनी ग्रन्थ-प्रशस्तियों में उल्लिखित इस प्रदेश के राजाओं की उन्होंने पर्याप्त प्रशंसा एवं यशो-गान किया है।^२ इन्हीं तथा दूसरे अन्य प्रमाणों से विद्यानन्द का समय इन्हीं राजाओं का काल स्पष्ट ज्ञात होता है। अर्थात् विद्यानन्द ई० ७७५ से ई० ८४० के विद्वान् हैं।

विद्यानन्द के विशाल पाण्डित्य, सूक्ष्म-प्रज्ञा, विलक्षण प्रतिभा, गम्भीर विचारणा, अद्भुत अध्ययन शीलता, अपूर्वतर्क आदि के सुन्दर और आश्चर्यजनक उदाहरण उनकी रचनाओं में पद-पद पर मिलते हैं। उनके ग्रन्थों में प्रचुर व्याकरण के सिद्धि-प्रयोग, अनूठी पद्यात्मक काव्यरचना, तर्कांगमवादचर्चा, प्रमाणपूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन और हृदयस्पर्शी जिनशासनभक्ति उन्हें निःसन्देह उत्कृष्ट वैयाकरण, श्रेष्ठकवि, अद्वितीयवादी, महान् सैद्धान्ति और सच्चा जिनशासन भक्त सिद्ध करने में पुष्कल समर्थ हैं। वस्तुतः विद्यानन्द जैसा सर्वतोमुखी प्रतिभावान् तार्किक उनके बाद भारतीय वाड़मय में कम से कम जैन परम्परा में तो कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। यही कारण है कि उनकी प्रतिभापूर्ण कृतियाँ उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभ्यदेव, देवसूरि, हेमचन्द्र, लघु-

समन्त मद्र, अभिनव वर्मभूषण, उपाध्याय यशोविजय आदि जैन तार्किकों के लिए पथप्रदर्शक एवं अनुकरणीय हुई हैं। माणिक्यनन्दिका परीक्षामुख ग्रन्थ जहाँ अकलङ्कदेव के बाड़मय का उपजीव्य है, वहाँ वह विद्यानन्द की प्रमाणपरीक्षादि तकिक रचनाओं का भी आभासी है। उस पर उनका उल्लेखनीय प्रभाव है।^३ वादिराजसूरि (ई० १०२५) ने लिखा है^४ कि 'यदि विद्यानन्द अकलङ्कदेव के बाड़मय का रहस्योदयाटन न करते तो उसे कोन समझ सकता था।' विदित है कि ग्राचाय विद्यानन्द ने अपनी सूक्ष्म प्रतिभा द्वारा अकलङ्कदेव की अत्यन्त जटिल एवं दुर्लभ रचना अष्टशती के तात्पर्यको 'अष्टसहस्री' व्याख्या में उद्घाटित किया है। पाश्वनायचरित में भी विद्यानन्द के तत्त्वार्थालङ्कार (तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक) तथा देवागमालङ्कार (अष्टसहस्री) की प्रशंसा करते हुए उन्होंने यहाँ तक लिखा है^५ कि 'ग्राचाय है कि जब विद्यानन्द के इन दीप्तिमन्त्र अलङ्कारों की चर्चा करने कराने और सुनने-सुनाने वालों के भी अङ्गों में के नित आ जाती है — तो उन्हें धारण करने वालों की तो बात ही क्या है।' प्रभाचन्द्र, अभयदेव, देवसूरि, हेमचन्द्र और धर्मभूषण के ग्रन्थ भी विद्यानन्द के तार्किक ग्रन्थों से उपकृत हैं। इन सभी उनके ग्रन्थों से स्थल-के-स्थल उद्घृत किये हैं और अपने ग्रन्थों को उनसे गौरवान्वित किया है। विद्यानन्द की अष्टसहस्री को, जिसके विषय में विद्यानन्द ने स्वयं कहा है^६ कि 'हजार शास्त्रों को सुनने की अपेक्षा अकेली इस अष्टसहस्री को सुन लीजिए, उससे ही समस्त सिद्धान्तों का ज्ञान हो जायेगा' पाकर यशोविजय तो इतने विभोर एवं मुग्ध हुए, कि उन्होंने उस पर 'अष्टसहस्रीतत्पर्यविवरण' नाम की नवग्रन्थायशैली में प्रपूर्ण विस्तृत व्याख्या भी लिखी है। इन उल्लेखों से आ० विद्यानन्द एक उच्चकोटि के प्रभावशाली दर्शनिक एवं तार्किक स्पष्ट प्रतीत होते हैं तथा उनकी अनूठी दार्शनिक कृतियाँ जैन बाड़मयात्रिण की दीप्तिमान नक्षत्र हैं।

जैनदर्शन को उनकी देन

विद्यानन्द ने जैनदर्शन को दो तरह से समृद्ध किया है। एक तो अपनी अपूर्व दार्शनिक कृतियों के निर्माण से और दूसरे उनमें कई विषयों पर किये गये नये चिन्तन से। हम यहाँ उनके इन दोनों प्रकारों पर कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

(क) दार्शनिक कृतियाँ

जैनदर्शन के लिए विद्यानन्द की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने नौ महत्वपूर्ण रचनाओं का निर्माण किया है। वे इस प्रकार हैं :—

१. विद्यानन्द-महोदय, २. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्रटीका), ३. अष्टसहस्री (देवागमटीका), ४. युक्त्यनुशासनालङ्कार (युक्त्यनुशासनटीका), ५. आप्त-परीक्षा, ६. प्रमाण-परीक्षा, ७. श्रीपुरपाङ्कवनाथस्तोत्र, ८. पत्र-परीक्षा और ९. सत्यशासन-परीक्षा।

इनमें तीन तो टीका ग्रन्थ हैं और शेष छह उनके स्वतन्त्र एवं मौलिक ग्रन्थ हैं।

१. विद्यानन्द-महोदय — यह विद्यानन्द की मौलिक एवं सम्भवतः आद्य रचना है, क्योंकि उत्तरवर्ती प्रायः उनके सभी ग्रन्थों में इसका उसका उल्लेख मिलता है और जो सूचनाएँ दी गई हैं उनके द्वारा कहा गया है कि 'विस्तार से विद्यानन्द-महोदय से जानना चाहिए।' किन्तु आज यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी तक इसका पता चलता है।

वादिदेवसूरि ने अपने 'स्याद्वादरत्ताकर' में इसके नामोल्लेख पूर्वक उसकी एक पंक्ति दी है ।^४ इस उल्लेख से जहाँ इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि एवं महत्ता प्रकट है, वहाँ विद्यानन्द (नवमी शती) से चार सौ वर्ष बाद तक इसका अस्तित्व भी सिद्ध है । इसकी खोज होनी चाहिए ।

२. तत्त्वार्थशलोकवार्तिक — यह आ० गृद्धपिच्छ (उमास्वाति अथवा उमास्वामी) रचित तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गई पाण्डित्यपूर्ण विशाल टीका है । जैनवाङ्मय की उपलब्ध दार्शनिक कृतियों में यह एक वेजोड़ रचना है और तत्त्वार्थ सूत्र की समस्त टीकाओं में प्रथमश्रेणी की टीका है । कुमारिलभट्ट ने जैमिनि सूत्र पर मीमांसाशलोकवार्तिक लिखा है । विद्यानन्द ने सम्भवतः उसी के जवाब में इस टीका को रचा है । विशेषता यह है कि विद्यानन्द ने अपने पद्यवार्तिकों पर गद्य में भाष्य भी लिखा है ।

३. अष्टतहस्ती — यह स्वामी समन्तभद्र के देवागम (आप्तमीमांसा) पर रची गयी महत्त्वपूर्ण रचना है । विद्यानन्द ने भट्टाकलङ्कदेव द्वारा 'देवागम' पर लिखी गई गहन एवं दुरुह व्याख्या 'अष्टतशती' को भी इसमें समाहित (आत्मसात) करके अपनी विलक्षण प्रतिभा से उसके प्रत्येक पद-वाक्यादि का हृदयस्पर्शी एवं आश्चर्यजनक मर्मोद्घाटन किया है ।

४. युक्त्यनुशासनालङ्कार — यह भी स्वामी समन्तभद्र के तर्कगर्भ 'युक्त्यनुशासन' पर लिखी गई उनकी मध्यम परिभाषा की सुन्दर एवं विशद टीका है :

५. अध्यत-परीक्षा (स्वोपन्न टीका सहित, — जिस प्रकार स्वामी समन्तभद्र ने 'मोक्षमार्गस्पनेतारम्' इस तत्त्वार्थ सूत्र के मञ्जुलाचरण-पद्य पर उसके व्याख्यान रूप में 'अप्तमीमांसा' लिखी है, उसी प्रकार आचार्य विद्यानन्द ने उसी मञ्जुल-पद्य के व्याख्यान रूप में 'आप्तपरीक्षा' रची है और साथ ही उसकी स्वोपन्न टीका लिखी है । रचना बड़ी सुवोध और विशद है ।

६. प्रमाण-परीक्षा — इसमें दर्शनान्तरीय प्रमाणों के स्वरूपादि की आलोचना करते हुए जैनदर्शन-सम्मत प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल की संक्षेप में अच्छी चर्चा की गई है ।

७. पत्रपरीक्षा — यह विद्यानन्द की गद्य-पद्यात्मक लघु तके रचना है । इसमें जैन दृष्टि से पत्र (अनुमान-प्रयोग) की व्यवस्था की गई है और अन्यदीय पत्र-मान्यताओं की समीक्षा की है ।

८. श्रीपुरपाश्वनाथस्तोत्र — यह अतिशयक्षेत्र श्रीपुर (महाराष्ट्र) के पाश्वनाथ^५ (पाश्वनाथ के सातिशय प्रतिविम्ब) को लक्ष्य कर रचा गया भक्तिपूर्ण स्तोत्र-ग्रन्थ है । इसमें पाश्वनाथ को आप्त सिद्ध किया गया है । इसकी शैली समन्तभद्र के देवागम जैसी ही है । इसमें कुल पद ३० हैं । २६ पद तो ग्रन्थ-के प्रतिपादक हैं और अन्तिम ३०वां पद उपसंहारात्मक है ।

९. सत्यशासन-परीक्षा — यह विद्यानन्द की अन्तिम रचना जान पड़ती है, क्योंकि यह अपूर्ण उपलब्ध है । इसमें पुरुषाद्वैत आदि १२ शासनों (मतों) की परीक्षा करने की प्रतिज्ञा की गई है । परन्तु उनमें से ६ की पूरी और प्रभाकर शासन की अधूरी परीक्षा मिलती है । प्रभाकर-शासन का शेषांश, तत्त्वो-पद्लव-परीक्षा और अनेकान्तशासन-परीक्षा इसमें अनुपलब्ध हैं । यह कृति भी अन्य कृतियों की तरह विद्यानन्द की तर्कणाओं से ओतपोत है और बहुत ही विशद है ।

(ख) नया चिन्तन

विद्यानन्द ने इन कृतियों में कितना ही नया चिन्तन प्रस्तुत किया है । यदि हम उन सबका संकलन करें तो उनके चिन्तन की एक लम्बी सूची बनाई जा सकती है । किन्तु हम यहाँ उनकी कुछ ही अपूर्व बातों की चर्चा करेंगे ।

१. भावना-विधि-नियोग – आ० विद्यानन्द का दर्शनान्तरीय अभ्यास अपूर्व था। वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, चार्वाक, सांख्य और वौद्ध दर्शनों के बे निष्ठणात् विद्वान् थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में इन दर्शनों के जो विशद पूर्वपक्ष प्रस्तुत किये हैं और उनकी मार्मिक समीक्षा की है, उनसे विद्यानन्द का समग्र दर्शनों का अत्यन्त सूक्ष्म और गहरा अभ्यास जाना जाता है। मीमांसा दर्शन की भावना-नियोग और वेदान्त दर्शन की विवि सम्बन्धी दुरुह चर्चा को जब हम तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री में विस्तार के साथ देखते हैं तो उनकी अगाध विद्वत्ता तथा असाधारण प्रतिभा पर आश्चर्य चकित हो जाते हैं। उनका मीमांसा और वेदान्त दर्शन का गहरा और सूक्ष्म पाण्डित्य था। जहाँ तक हम जानते हैं, जैन वाड्मय में यह भावना-नियोग-विधि की दुरुह चर्चा सर्वप्रथम तीक्षण बुद्धि विद्यानन्द द्वारा ही प्रस्तुत की गई है। इसलिए जैनदर्शन को यह उनकी एक अपूर्व देन है। मीमांसादर्शन का जैसा और जितना सबल खण्डन तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में पाया जाता है वैसा और उतना जैनवाड्मय की ग्रन्थ किसी भी उपलब्ध कृति में नहीं है।

२. जाति-खण्डन – आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४२-४८७) और न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ७६८-७७२) में जो ब्रह्मण्टत्व जाति का विस्तृत और विशद खण्डन किया है तथा जाति वर्ग की व्यवस्था गुण-कर्म से सिद्ध की है उसका प्रारम्भ जैन तर्क ग्रन्थों में सर्वप्रथम आ० विद्यानन्द से ही हुआ जान पड़ता है। विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० ३५८) में ब्राह्मण्टत्व, चाण्डालत्व आदि जातियों की व्यवस्था गुणों व दोषों में बतलाते हुए लिखा है कि ब्राह्मण्टत्व, चाण्डालत्व आदि जातियाँ सम्यग्दर्शन आदि गुणों तथा मिथ्यावार्दि दोषों से व्यवस्थित हैं, नित्य जाति कोई नहीं है। जो उन्हें अनादि, नित्य, सर्वगत और अमूर्त स्वभाव मानते हैं वह प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों से बाधित है। विद्यानन्द का यह नया चिन्तन भी जैनतकंग्रन्थों के लिए विलकुल नई देन है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने उनके इस कथन को ही अपने उक्त ग्रन्थों में पल्लवित एवं विस्तृत किया है।

३. प्रत्यभिज्ञान के दो भेद – अकलङ्कदेव^९ और उनके वाड्मय का मन्थन कर न्याय विद्यामूल-परीक्षामुख के उद्घावक आ० माणिक्यनन्दि^{१०} तथा लघु अनन्तवीर्य^{११} आदि ने प्रत्यभिज्ञान के अनेक (दो से भी अधिक) भेद बतलाये हैं परन्तु प्रतिभासूर्ति विद्यानन्द ने^{१२} अपने सभी ग्रन्थों में प्रत्यभिज्ञान के एकत्र प्रत्यभिज्ञान और सादृश्य प्रत्यभिज्ञान के रूप में दो ही भेद प्रतिपादन किये हैं। यह भी उनकी नई उपलब्धि है।

४. सह-क्रमानेकान्त की चर्चा – आचार्य गृद्धपिंच्छ ने^{१३} द्रव्य का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि ‘जो गुण और पर्याय युक्त है वह द्रव्य है।’ इस पर शङ्का की गई कि ‘गुण’ संज्ञा तो इतर दर्शनिकों (वैशेषिकों) की है, जैनों की नहीं। उनके यहाँ द्रव्य और पर्याय रूप ही वस्तु वरिणत की गई है और इसीलिए उनके प्राहक दो नयों—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का ही लपदेश दिया गया है। यदि गुण को भी उनके यहाँ वस्तु माना जाय तो उसको प्रहण करने वाले एक और तीसरे ‘गुणार्थिक’ नय का उपदेश होना चाहिए? इस शङ्का का समाधान सिद्धसेन, अकलङ्क और विद्यानन्द इन तीनों ग्रन्थकारों ने किया है। सिद्धसेन ने^{१४} कहा है कि ‘गुण’ पर्याय से भिन्न नहीं है—पर्याय में ही ‘गुण’ संज्ञा जैनागम में स्वीकृत की गई है और इसलिए तथा पर्याय एकार्थक होने से पर्यायार्थिक नय द्वारा ही इनका प्रहण हो जाने से पृथक् गुणार्थिक ये दो ही नय उपदिष्ट हैं। अकलङ्कदेव^{१५} कहते हैं कि

द्रव्य का स्वरूप सामान्य और विशेष दोनों रूप है तथा सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय, गुण ये सब पर्याय शब्द हैं तथा विशेष, भेद, पर्याय ये एकार्थक शब्द हैं। अतः सामान्य को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक और विशेष को विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है। इसलिए गुण को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक नय ही है। उससे भिन्न गुणार्थिक नाम के तीसरे नय को मानने की आवश्यकता नहीं है। गुण और पर्याय ग्रलग-ग्रलग नहीं हैं—पर्याय का ही नाम गुण है।

सिद्धेन और ग्रकलङ्घ के इन समाधानों के बाद फिर शङ्का उठाई गई कि यदि गुण, द्रव्य या पर्याय से अतिरिक्त नहीं हैं—उनसे वह ग्रभिन्न ही है तो सूत्रकार द्वारा द्रव्य-लक्षण में उन दोनों (गुण और पर्याय) पदों का निर्देश क्यों किया गया? 'गुणवद् द्रव्यम्' या 'पर्यायवद् द्रव्यम्' इतना ही लक्षण सूत्रकार को बताना पर्याप्त था?

इसका उत्तर सूक्ष्मप्रज्ञ विद्यानन्द^{१६} अपनी विलक्षण प्रतिभा से देते हुए कहते हैं कि 'वस्तु दो तरह के अनेकान्तों का रूप है—१. सहानेकान्त और २. क्रमानेकान्त। सहानेकान्त की सिद्धि के लिए गुणयुक्त को और क्रमानेकान्त की सिद्धि के लिए पर्याययुक्त को द्रव्य कहा है। अतः गुण तथा पर्याय दोनों पदों का द्रव्य-लक्षण में निवेश किया गया है, जो युक्त एवं सार्थक है।

विद्यानन्द से पूर्व ग्रकलङ्घदेव सम्यग्नेकान्त और मिथ्यानेकान्त के भेद से दो प्रकार के अनेकान्तों का तो प्रतिपादन किया है परन्तु सहानेकान्त और क्रमानेकान्त इन दो तरह के अनेकान्तों का कथन और उक्त चित्तार्थक सुन्दर समाधान विद्यानन्द की सूझ-वृभ एवं सूक्ष्मप्रज्ञा की देन हैं। जैनदर्शन के लिए यह उनकी अनूठी देन है। उनका उक्त समाधान और दो अनेकान्तों की स्थापना इतनी सीधे एवं सबल सिद्ध हुई कि स्याद्विदिकार वादीभूषिह ने^{१७} इन दो प्रकार के अनेकान्तों (सहानेकान्त और क्रमानेकान्त) की प्रतिष्ठा के लिए दो स्वतन्त्र प्रकरणों की सृष्टि की और उनकी विस्तृत विवेचन उनमें किया।

५. संजय के सत की समीक्षा—भगवान् महाबीर के समय में अनेक मतप्रवर्तक थे। उनमें ये छह मत-प्रवर्तक विशेष प्रसिद्ध थे और उनका लोगों पर बहुत प्रभाव था:—

१. अजितकेशकम्बल, २. मक्खलिगोशाल, ३. पूरणकाश्यप, ४. प्रकुधकात्यायन, ५. संजयवेलट्टिपुत्र और ६. गौतमबुद्ध।

इनमें अजितकेशकम्बल और मक्खलिगोशाल भौतिकवादी, पूरणकाश्यप और प्रकुध-कात्यायन नित्यतावादी, संजयवेलट्टिपुत्र अनिश्चिततावादी और बुद्ध धर्मिकवादी थे।

प्रकृत में हमें संजय के मत को जानना है। 'दीघनिकाय' में उनका सिद्धान्त इस प्रकार दिया है।

"यदि आप पूछें, 'क्या परलोक है?' तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि 'परलोक' है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता, दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि 'वह नहीं है।' मैं यह नहीं कहता कि वह नहीं-नहीं है। 'परलोक नहीं है, परलोक नहीं नहीं है। देवता (देवता=औपपादिक प्राणी) है...। देवता नहीं हैं, हैं भी, न हैं और न नहीं है...। अच्छे-बुरे कर्म के फल हैं, नहीं हैं, हैं भी, और नहीं हैं, न हैं और न नहीं हैं,

तथागत (=मुक्त पुरुष) मरने के बाद होते हैं, नहीं होते हैं, न हैं... ? यदि मुक्त से ऐसा समझता होऊँ ... तो ऐसा आपको कहूँ । मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसा भी नहीं कहता.....।”

आचार्य विद्यानन्द ने भी ठीक इसी से मिलता-जुलता संजय का मत अष्टसहस्री (पृ० १२९) में दिया है और उसकी उन्होंने तर्कपूर्ण समीक्षा की है :—

“तर्ह्यस्तीति न भणामि, नास्तीति च न भणामि, यदपि च भणामि, तदपि न भणामि। इति दर्शनमस्ति कश्चित् सोऽपि पापीयात् । तथाहि-सद्भावेतराभ्यामनभिलाषे वस्तुनः, केवल सूक्तत्वं जगतः स्यात्, विधिप्रतिषेधव्यवहारायोगात् । न हि सर्वात्मनानभिलाष्यस्वभावस्तुद्विरध्यवस्थ्यति.....।”

मावना-नियोग-विधि की चर्चा की तरह संजय के दर्शन की चर्चा भी जैनवाड्मय वे उपलब्ध एवं सुरक्षित है । इससे प्रतीत होता है कि विद्यानन्द का कितना विश्वाल अध्ययन था । जिनका दार्शनिक साहित्य और परम्परा शाताव्दियों पूर्व लुप्त हो चुकी थी, उनके तत्त्वज्ञान को भी उन्होंने प्राप्त किया था और अपनी रचनाओं में उसे सुरक्षित रखा ।

६. तर्कशैली :— विद्यानन्द के उपलब्ध सभी ग्रन्थ दार्शनिक एवं न्याय विषयक हैं । इनमें उन्होंने जो अद्भुत तर्कशैली प्रस्तुत की है, वह सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण तर्कणाओं से ओत-प्रोत है । इतना होते हुए भी उसमें इतना वैश्य और प्रवाह है कि विद्वान् पाठक उस पर मुराब हुए बिना नहीं रहेगा । उनकी तर्कशैली के दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं :—

१. (क) ‘कस्यचिद्दुष्टस्य निघ्रहं शिष्टस्य चानुग्रहं करोतीश्वरः प्रभुत्वात् लोकप्रसिद्धप्रभुवत् न चेवं नानेश्वरसिद्धिः, नानाप्रभूणामेकमहाप्रभुतंत्रत्वदशेनात् । तथाहि-विवादाध्यासितानाना प्रभवः एकमहाप्रभुतंत्र एव नाना प्रभुत्वात् ।....., न च परीक्षाक्षमम्, महेश्वरस्याशरीरस्य स्वदेहनिर्माणानुपत्तोः । तथाहि.....,’ । आप्तपरीक्षा, पृ० ६६-६७ ।

(ख) ‘किञ्च, सन्नेव वा नियोगः स्यादसन्नेव वोभयरूपो वानुभयरूपो वा ? प्रथमपक्षे विधिवाद एवं, द्वितीये पक्षे निरालम्बनवादः । तृतीयपक्षे तूभयदोषानुषंगः । चतुर्थपक्षे व्याघ्रातः-सत्त्वासत्त्वयोः परस्परव्यवच्छेदरूपयोरेकतरस्य निषेधेऽन्यतरस्यविधानप्रसक्तेः सकृदेवकत्रोभयप्रतिषेधायोगात् ।’—अष्टसहस्री, पृ० ८ ।

यह कितनी प्रसन्न, विशद, अर्थगम्भ, प्रवाहयुक्त और तर्कपूर्ण शैली है । शंका और समाधान दोनों व्यवस्थित और सरल तरीके से प्रस्तुत किये गये हैं । इसी तरह अपने समस्त ग्रन्थों में उन्होंने इस मोहक एवं ‘प्रवोधजनक शैली को अपनाया है । उत्तरवर्ती अनेक जैनदर्शन लेखकों ने भी उनकी इस प्रसन्न तर्कशैली को स्वीकार किया है ।

२. दूसरा उदाहरण भी देखिए — (क) कुमारिलभट्ट ने मीमांसाश्लोकवार्तिक में सर्वज्ञ का निषेध करते हुए लिखा है कि ‘सुगत सर्वज्ञ है, कपिल नहीं, इसमें क्या नियामक है ? यदि दोनों को सर्वज्ञ कहा जाय, तो उनके उपदेशों में परस्पर विरोध क्यों है ? इसलिए कोई सर्वज्ञ नहीं है । यथा —

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा ।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥१॥

तर्क-निषणात् विद्यानन्द कुमारिल के इस प्रचण्ड आक्षेप का तर्कपूर्ण सबल उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'इस तरह श्रुति भी प्रमाण नहीं हो सकती। हम पूछते हैं कि भावना श्रुतिवाक्य का अर्थ है, नियोग नहीं, इसमें क्या प्रमाण है? यदि दोनों श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट और प्रभाकर दोनों की स्थिति समाप्त हो जाती है। इसी तरह नियोग श्रुतिवाक्य का अर्थ है, विधि (ब्रह्म) नहीं, इसमें क्या विनिगमक है? यदि दोनों श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट और वेदान्ती दोनों नहीं रहते हैं'। यथा—

भावना यदि वाक्यार्थों नियोगो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि वाक्यार्थों हतो भट्टप्रभाकरौ ॥
कार्योऽर्थं चोदनाज्ञानं स्वरूपे किञ्च तत्प्रमा ।
द्वयोश्चेद्वन्त तौ नष्टौ भट्ट-वेदान्तवादिनौ ॥

आचार्य विद्यानन्द की यह समीक्षा-शैली कितनी तर्कपूर्ण और एक युग की स्मारक है। कुमारिल, प्रभाकर, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर आदि मीमांसक तथा बोद्धदार्शनिकों ने जैनदर्शन पर प्रचण्ड आक्षेप किये हैं। उन सबके विद्यानन्द ने इसी प्रकार अपनी सन्तुलित एवं गम्भीर तर्कशैली में मर्मस्पर्शी जवाब दिये हैं। कुमारिल और धर्मकीर्ति जैसे तार्किक तो कहीं-कहीं परयज्ञ-व्यष्टिन में अपना सन्तुलन भी नहीं रख सके हैं और दूसरे दार्शनिकों को उन्मत्त, जड़, अश्लील वक्ता आदि कहते हुए भी देखे जाते हैं। किन्तु विद्यानन्द की तर्कगम्भीर विचारणा में ऐसी कोई चीज दृष्टिगोचर नहीं होती। उन्होंने अपनी कृतियों में सर्वत्र मानसिक अर्हिसा का पालन किया तथा सन्तुलन बनाये रखा। उनका यह प्रशस्त मार्ग उत्तरवर्ती प्रायः जैनतर्कग्रन्थकारों के लिए दीप-शिखा की तरह प्रकाशक बना है और वे उनके इस मार्ग पर अवाधि गति से चले हैं। विद्यानन्द की देनों में उनकी यह तर्कशैली भी अपूर्व देन है।

७. व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तुत्रिवेचन :—

अध्यात्म के क्षेत्र में तो व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तु का विवेचन किया ही जाता है किन्तु तर्क के क्षेत्र में भी विद्यानन्द इन दोनों नयों से अनेक जगह वस्तु-व्यवस्था करते हुए देखे जाते हैं। 'निष्क्रियाणि च' इस सूत्र¹⁸ की व्याख्या में समस्त वस्तुओं को निष्क्रिय और सक्रिय बतलाते हुए वे लिखते हैं कि निश्चयनय से सभी वस्तुएँ कथंचित् निष्क्रिय हैं और व्यवहार नय से कथंचित् सक्रिय हैं। लोकाकाश और धर्मादि द्रव्यों में आधाराधीयता का विचार करते हुए वे कहते हैं¹⁹ कि व्यवहार-नय से लोकाकाश तथा धर्मादि द्रव्यों में आधाराधीयता है तथा निश्चयनय से उनमें उसका अभाव है। उनका तर्क है कि निश्चयनय से प्रत्येक द्रव्य अपने में अवस्थित होता है। अन्य द्रव्य स्थिति अन्य द्रव्य में नहीं होती, अन्यथा उनका अपना प्रातिस्विक रूप न रहकर उनमें स्वरूप-सांकर्य हो जायेगा। इसी तरह सब द्रव्यों में उत्पाद, व्यय और धौव्य की व्यवस्था करते हुए वे लिखते हैं²⁰ कि निश्चयनय से सभी द्रव्यों के उत्पाद, व्यय और धौव्य की व्यवस्था विस्तार है। व्यवहारनय से ही उत्पादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं। अतः व्यवहार और निश्चयनय के स्वरूप को समझकर द्रव्यों की आधाराधीयता तथा कार्यकारण भाव की व्यवस्था जहाँ जिस नय से की गई हो उसे उसी प्रकार

जीनना चाहिए। इस तरह विद्यानन्द का व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तु-विचार भी जैनदर्शन के लिए उनकी अन्यतम उपलब्धि है।

८. उपादान और निमित्त का विचार : -

कारणों का विचार सभी दर्शनों में है और उनकी विस्तार से चर्चा की गई है। जैनदर्शन में भी उनका चिन्तन किया गया है। कार्य की उत्पत्ति में कितने कारणों का व्यापार होता है। इसम्बन्ध में न्याय तथा वैज्ञानिक दर्शन का मन्तब्य है कि समवायि, असमवायि और सहकारी इन तीन कारणों का व्यापार कार्योत्पत्ति में होता है। वौद्धदर्शन का मत है कि उपादान और महकारी इदो ही कारणों से कार्य उत्पन्न होता है। साँख्यदर्शन भी कारणों का विचार करता है। लेकिन उसका वृष्टिकोण कार्य की उत्पत्ति से न होकर उसके आविर्भाव से और कारण से तात्पर्य के उपादान से है। जो भी सरूप अथवा विरूप कार्य उत्पन्न होता है, वह एक मात्र प्रकृतिरूप उपादान होता है। उसका कोई प्रकृति से भिन्न सहकारी कारण नहीं है। जैनदर्शन यद्यपि वौद्धदर्शन की तरफ प्रत्येक कार्य में उपादान और निमित्त इन दो कारणों को स्वीकार करता है। परन्तु वौद्धदर्शन मान्यता से जैनदर्शन की मान्यता में बड़ा अन्तर है। वौद्धदर्शन पूर्व रूपादि क्षण को उत्तर रूपादि क्षण में उपादान तथा रसादिक्षण को सहकारी मानता है पर जैनदर्शन अव्यवहितपूर्व यथा विशिष्ट द्रव्य को उपादान और कालादि सामग्री को निमित्त स्वीकार करता है। हम देखते हैं कि आचार्य समन्तभद्र आदि के समान इस सम्बन्ध में अधिक सूक्ष्म चिन्तन विद्यानन्द ने भी किया है इसके लिए हम उनके मिर्झे दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

उपादान के नाश से उपादेय की उत्पत्ति होती है, यह नियम है^{२१}। अब यहाँ प्रश्न होता है कि सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान का उपादान है तो सम्यक्ज्ञान के समय सम्यक्दर्शन रूप उपादान अस्तित्व समाप्त हो जाना चाहिए? इसके उत्तर में विद्यानन्द कहते हैं कि उपादेय की उत्पत्ति उपादान का नाश कथंचित् इष्ट है, सर्वथा नहीं। अन्यथा कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि दर्शन परिणाम से परिणात आत्मा ही वस्तुतः दर्शन है ज्ञान वह विशिष्ट ज्ञान परिणाम की उत्पत्ति का उपादान है। अन्यथा रहित केवल पर्याय या केवल जीव द्रव्य उसका उपादान नहीं है, क्योंकि केवल पर्याय या केवल जीवादि द्रव्य कूर्मरोम आदि की तरफ अवस्था है। इसी तरह दर्शन-ज्ञान परिणात जीव दर्शन-ज्ञान है और दर्शन-ज्ञान चारित्र के उदापान क्योंकि पर्याय विशेष परिणात द्रव्य उपादान है। जिस प्रकार घट-परिणाम में समर्थ पर्यायरूप मिल द्रव्य घट का उपादान होता है। विद्यानन्द उपादान का स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं^{२२} कि "जो पूर्व रूप को छोड़ता हुआ तथा अपूर्व रूप को न छोड़ता हुआ तीनों कालों में भी विद्यमान रहता है उस द्रव्य को उपादान कहा गया है। किन्तु जो सर्वथा अपने रूप को छोड़ देता है अथवा जो बिलकुल न छोड़ता है, वह किसी भी वस्तु का उपादान नहीं है। जैसे सर्वथा क्षणिक अथवा सर्वथा नित्य विद्यानन्द ने उदापान के इसी लक्षण को सामने रखकर सर्वत्र उपादानोपादेय भाव की व्यवस्था है। यह तो हुआ लक्षण का उपादान का विचार। इसी प्रकार वे निमित्त-सहकारि कारण का भी विचार करते हैं और कहते हैं कि विना सहकारी सामग्री के उपादान कार्य-जनन में समर्थ नहीं है। जब

अयोग केवल गुण स्थान का उपात्त्य और अन्त्य समय प्राप्त नहीं होता तब तक नामादि कर्मों के निर्जरण की शक्ति प्रकट नहीं होती और न मुक्ति ही सम्भव है। अतः अयोग केवली का अन्त्यक्षण ही शेष कर्मों के क्षण में कारण है। इस तरह सहकारी-सापेक्ष उपादान कार्य जनक है, अकेला नहीं। इस प्रकार हम आचार्य विद्यानन्द को उपादान और निमित्त के सम्बन्ध में भी अपना सन्तुलित एवं स्याद्वादगम्भीर चिन्तन प्रस्तुत करते हुए पाते हैं।

विद्यानन्द की उज्ज्वल कीर्ति और प्रभाव में जहाँ उनकी ये उपलब्धियाँ कारण हैं वहाँ उनका रत्नत्रय से भूषित जीवन^{२३} भी उसमें चार चाँद लगाता हुआ दीख पड़ता है और इसलिए वे तथा उनकी अमर रचनाएँ दोनों गौरवास्पद हैं।

सन्दर्भ-सूची :—

१. विद्यानन्द, आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, वीरसेवामन्दिर, २१ दरियांगंज, दिल्ली, १६४६
२. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रशस्तिपद्य ३ निर्णयसागर प्रेष, बम्बई, ई. १६१८
३. आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृ. ५३ तथा पृ. २८, प्रकाशन पूर्वोक्त
४. वादिराज, न्यायविनिश्चयविवरण, भाग २, पृ. १३१, पद्य १४५०, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
५. वादिराज, पाश्वनाथचरित, १/२८, माणिकचन्द्र ग्रन्थ माला, बम्बई
६. श्रोतव्याघटसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः ।
- विज्ञायेत् ययैव स्वसमयपरसमयसङ्क्लिप्तः ॥
- अष्टस०, द्वितीयपरिच्छेद, पद्य १,१६१५
७. (क) ‘इति परीक्षितमस्तु द्विद्यानन्दमहोदये’—तत्त्वां श्लो. वा., पृ. २७२, १/३३/६७
- (ख) ‘…अवगम्यताम् ॥ यथागमं प्रपञ्चेन विद्यानन्द महोदयात्’—वही, पृ. ३८५, ४/२२/२९
- (ग) ‘इति तत्त्वार्थलिङ्कारे विद्यानन्दमहोदये च प्रपञ्चतः प्ररूपितम् ।’ अष्टस. पृ. २६०
- (घ) ‘देवागम—तत्त्वार्थलिङ्कार-विद्यानन्दमहोदयेषु च तदन्वयस्यव्यवस्थापनात् ।’
- आप्तपरीक्षा, पृ. २६२, संस्करण उपर्युक्त
८. वादि देवसूरि, स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ३४६ तथा आप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, पृ. ४३, संस्क० उप०
९. अकलंक, लघीयस्त्रय कारिका २
१०. माणिक्यनन्दि, परीक्षामुख, ३-५ से ३-१०
११. अनन्तवीर्य, प्रमेयरत्नमा० ३-१०
१२. विद्यानन्द, तत्त्वार्थश्लो० वा०, पृ० ६०, अष्टसह०, पृ० २७६, प्रमाणपरीक्षा० पृ० ४२, वीर-सेवामन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, १६७७
१३. गृद्धिपिच्छ, तत्त्वार्थसूत्र, ५-३७
१४. सिद्धसेन, सन्मतिसूत्र, ३-६, १०, १२ गाथाएँ
१५. अकलङ्क, तत्त्वार्थ वार्तिक, ५-३७
१६. विद्यानन्द, तत्त्वार्थश्लोक वा०, ५/३८/२, पृ० ४३८
१७. वादीभर्मिह, स्याद्वादसिद्धि, ३-१ से ३-७४ तथा ४-१ से ४-८६, माणिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला, भारतीयज्ञानपीठ, नई दिल्ली

१८. गृद्धिच्छ, तत्त्वार्थसूत्र ५-७ की टीका, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, ५/७/६६, ६७
 १९. वही, ५-१६-२
 २०. वही, ५/१६/२, पृ० ४१०
 २१. तत्त्वार्थश्लोक वा०, १/१/७१-७४, पृ० ६६-६६
 २२. अष्टसहस्री, पृ० २१०
 २३. आप्तपरीक्षा, पृ० २६६
-

उत्तराखण्ड के भूमि - नाप - पैमानों की ऐतिहासिकता

डॉ० शिवप्रसाद नैथानी

श्रीनगर (गढ़वाल)

उत्तराखण्ड में भूमि-नाप के लिये जिन पैमानों का सामान्य जन प्रयोग करते हैं, वह परम्परागत होने से विशेष महत्त्व रखते हैं। पन्द्रहवीं शती ई० में गढ़वाल के एकीकरण के लिये विख्यात नरेश अजयपाल के समय एक सर्वमान्य अन्नपरिमाण धर्मपाठ्य का प्रचलन हुआ परन्तु भूमि-नाप में, प्रमाण में, 'नाली' का ही प्रयोग चलता रहा जबकि उन्मान में तूल और मन का आधिपत्य रहा। यद्यपि पाथा और नाली कालान्तर में पर्याय माने जाने लगे और उससे एक ध्रम पैदा हुआ तथापि यह निश्चित है कि भूमि-नाप में केवल 'नाली' का ही वर्चस्व रहा।

नाली—

पन्द्रहवीं शती ई० से पहले मध्य हिमालय में नाली का अधिक प्रचलन था जो दो सेर अन्न परिमाण की होती थी। भूमि-नाप में नाली का प्रयोग का अर्थ होता था "वह भूमि जिसमें एक नाली अन्न बीज आये।" अतः नाली शब्द की व्युत्पत्ति में वर्तमान पाथा (२ सेर अन्न परिमाण) का कोई योगदान नहीं था। नाली की व्युत्पत्ति तो विशुद्ध रूप से भूमि-प्रमाण के पैमाने "नलिका" से हुयी थी।

ज्ञातव्य है कि नाप के लिये "प्रमाण" का, तौलने के लिये "उन्मान" का और पात्र से भरने के लिये "परिमाण" शब्द का विधान वैयाकरणिकों ने बहुत पहले कर लिया था। भूमि-परिमाण में नलिका मूल इकाई थी। अर्थशास्त्र में उल्लेख है लम्बाई नलिका, घनुष और परशु से से नाली जाती थी जो १७ अंगुल होता था। भूमि-नाप-व्यवस्था में इसी नलिका (१७ अंगुल) का उपयोग होता था जिसका संक्षिप्त रूप "नाली" पर्वतीय क्षेत्रों में प्रचलन में आया।

सुभिक्षराज ताम्रपत्र (१० शती ई०) में नाली का उल्लेख इस प्रकार आया है— "(७ नाली बीज वाली भूमि वच्छ्रक के पास भेट सारी में, मागरु के पास ३ नाली, बनोलका नामक नाम क्षेत्र शोषि जीवाक के पास आठ द्रोण का गंगरक तथा जीवाक सीमादित्य खेत सत्तकपुत्र नपियों के पास, खारी बीज के ४ नये खेत यह भूमि सदायिका युक्त रचन पहिलिका सहित विष्णु गंगा के तट पर स्थित श्री नारायण भगवान् को अर्पित कर दी है।"

उपर्युक्त अभिलेख से दो बातें स्पष्ट होती हैं कि नाली, भूमि-प्रमाण की इकाई थी और दूसरे, इसका सम्बन्ध "द्रोण" तथा "बारि" से था। चूंकि छठी शती ई० के विष्णुधर्मन् ताम्र-

पत्र द्वारा तथा खारि के साथ कुल्य एवं वाप शब्द का भी उल्लेख आया था अतः “कुल्य”-प्रमाण का भी एक समय यहां प्रचलन रहा।

परन्तु भूमि की प्रचुरता तथा जनसंख्या की विरलता ने यहां प्राचीन युग में भूमि-नाम की इस इकाई का प्रयोग, शायद ही कभी वास्तविक नाम के रूप में किया हो। संभवतः प्राचीन काल से नलिका-प्रमाण का नजर अन्दाजी† प्रयोग होता रहा जो १८१५ में ब्रिटिश आधिपत्य होने पर भी १८६० के मध्य तक “त्रेत तथा वैटन” बन्दोबस्त में भी प्राचीन काल के ही समान अपनाया जाता रहा। १८६१ में वैकेट बन्दोबस्त में सर्वप्रथम चेन सर्वे का वास्तविक रूप अपनाया गया^३ और २४० वर्ग गज की एक नाली मानकर २० नाली की एक बीसी मानी गयी जो ४८०० वर्ग गज के या एक एकड़ के बराबर होती है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि प्राचीन काल से चली आ रही “नलिका” से मापणाली पूर्णतः मेल खाती थी क्योंकि गुप्तकाल के दो ताम्र पत्रों से हमें “नलिका” प्रमाण का उल्लेख प्राप्त है जो निसन्देह यहां भी व्यवहृत था, क्योंकि समुद्रगुप्त की कर्तृपुर तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय की कार्तिकेयपुर विजय के उल्लेख सिद्ध करते हैं कि इस समय गुप्त शासन उत्तराखण्ड स्थापित हो चुका था। ४८२ ई० के दामोदरगुप्त ताम्रपत्र में “अर्घ्टक-नवक नलाभ्याम्” उल्लेख स्पष्ट होता है कि ८×६ नलिका माप भूमि की इकाई होती थी। इसी प्रकार ४८८ ई० के नन्दीपुर ताम्रपत्र में यह उल्लेख आया है—“८×८ नल के प्रामाणिक माप से मापकर तुम ऐसे स्थान के भूखण्ड दे सकते हो जहां यह स्थापित कृषकों की खेती को क्षति न पहुँचाये।”^४ ६६ अंगुल की नलिका से यह प्रमाण इस प्रकार निश्चित होता है—६६×८=५२८ वर्ग अंगुल अर्थात् १६ गज लम्बी और १६ गज चौड़ी भूमि^५। १६×१६ गज=२५६ वर्ग गज या नलिका भूमि। इस प्रकार यह वर्तमान प्रमाण २४० वर्ग गज से केवल १६ वर्ग गज ही अधिक था।

आज पर्वतीय क्षेत्र प्लेनटेवल सर्वे की जाती है परन्तु ठिहरी रियासत (गढ़बाल) में तो बीसवीं शती ई० के प्रारम्भ तक भी चेन सर्वे न थी, बल्कि नजरअन्दाजी सर्वे थी जो “नाली” में ही की जाती थी^६।

अतः प्राचीन ‘नलिका’ का क्षेत्रफल २५६ वर्गगज होता था और इसका प्रयोग नजर अन्दाजी के रूप में पर्वतीय क्षेत्र होता था। कालान्तर में यह सुनिश्चित होने पर कि एक नाली भूमि में एक पाथा अन्त-परिमाण बीज आता है, अतः नाली की संगति नलिका के स्थान पर नाली-पाथ से की जाने लगी तथा इन्हें पर्याय मानने लगे। नाली और पाथा पर्याय माने जाते हुये भी भूमि प्रमाण में नाली का ही उल्लेख होता है, पाथा में भूमि-प्रमाण कभी नहीं हुआ। नाली का प्रमाण इस प्रकार था :—

४ मुद्दियों की १ कुँचि, ४ कुँचियों की एक नाली।

८ कुँचियों (२ नाली) की एक पुष्कल और

† नजरअन्दाजी—केवल नजरों से देखकर भूमि-क्षेत्रफल का अन्दाजा लगाने की प्रथा।

^३ पर्वतीय अंचल में ग्रामीण क्षेत्रों में ३ अंगुल की १ गिरह और १६ गिरह का १ गज, उत्तराखण्ड में आज भी व्यवहृत है।

४ पुष्कलों का एक आड़क (८ वाली) ।^{४४}

उल्लेखनीय है कि ३०० डी० सी० सरकार ने 100×100 गज अर्थात् १००० वर्ग गज का एक आड़ा माना है जिससे नाली का क्षेत्रफल १२५० वर्गगज भूमि होता है, परन्तु यह मत पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार पर्वतीय क्षेत्रों की नलिका-प्रयोग से मेल नहीं खाता है।

यह अवश्य है कि “चतुराडको भवेद् द्रोणः” सन्दर्भ से स्पष्ट होता है कि ४ आड़क का एक द्रोण होता था। आड़ वाप वह खेत होता था जिसमें ४ सेर बीज बोया जाये, जो नाली-परिमाण में दो नाली होता है। वाप का अर्थ होता है बोई जाने वाली भूमि, और वपु धारु का अर्थ होता है बीज बोना।

द्रोण—

चार आड़क का एक द्रोण माना गया है। परन्तु द्रोण के परिमाण में विभिन्नता मिलने का भी उल्लेख आया है। कौटिल्य ने ४ प्रकार के द्रोण का उल्लेख करते हुये १६ द्रोण की एक “खारि” मानी है। चरक ने १०२४ तोला अर्थात् $12\frac{1}{2}$ सेर की एक द्रोण की तौल मानी है, अब इस तौल परिमाण का बीज जितने क्षेत्र में आये वह उतना द्रोण भूमि मानी जाती थी। चूँकि किस अन्न का परिमाण किया जाता था ऐसा उल्लेख नहीं मिलता तथा बहुत कुछ वह घना या अपेक्षाकृत छिटकवां बोने से भी अन्तर लिये होता है, अतः सम्भावना यही होती है कि एक द्रोण का अर्थ ऐसा क्षेत्रफल जिसमें ८ सेर अन्न बीज से लेकर १० सेर अन्न बीज तक बोया जाय। यह अन्तर एक द्रोण को १६ नाली (पाथा) तथा २० नाली अन्न दोनों पैमानों के मानने पर होता है।

तालेश्वर के ताम्रपत्रों में (छठी शती ई०) नलिका के स्थान पर द्रोण, खारि और कुल्यावाप का उल्लेख है। विष्णुवर्मन् ताम्रपत्र में वह उल्लेख इस प्रकार है।

“साधुतुंग ग्राम के नीचे जंगल सहित आठ द्रोण बीज वाला खेत, चौदह द्रोण बीज वाला सेम्मक क्षेत्र, एक कुल्य बीज वाला कपिलेश्वर क्षेत्र, लवणोदक ग्राम में ६ द्रोण वाला नन्दिकेरक क्षेत्र... एक कुल्य बीज वाला देवक्य तोली, पांच द्रोण बीज वाला मध्यम-पुरक क्षेत्र, तुलाकंठक यक्ष के (देवालय) पास नरक क्षेत्र और आठ द्रोण बीज वाला भ्रष्टिका क्षेत्र, जो कार्तिकेयपुर के अन्तर्गत निम्बसारी में बलाध्यक्ष लवचन्द्र से धनदत्त दिविरपति ने $4\frac{1}{2}$ सुवर्ण मुद्राओं में समूल, समात्रक खरीदा है दुर्विशाण्डक ग्राम में जंगल और रैली सहित एक कुल्य बीज वाला वेतस क्षेत्र जिसे इसी दिविरपति ने ८ स्वर्णमुद्राओं में कायस्थ नन्तक से समूल, समात्रक खरीदकर वामन स्वामी के मन्दिर के लिये अपित किया है।”

उपर्युक्त उल्लेख से निम्नांकित तथ्य स्पष्ट होते हैं :—

१—उत्तराखण्ड में छठी शती ई० में वाप खेतों का द्रोण अथवा कुल्यावाप, खारिवाप के रूप में विशाल आकार था। साथ ही उस समस्त भूमि का जिसमें खेत बनावर कृषि-कार्य किया जा सके, का नजरअन्दाजी स्वरूप दिया जाता था।

^{४४} अष्टमुष्टिर्भवेत् कुञ्चित् कुञ्चयोऽष्टौ च पुष्कलम् ।

पुष्कलानि च चत्वारि, आड़क परिकीर्तिः । मस्तुमृति-७-१२६

२—इस अनुमान को प्राचीन काल से ही यह परम्परा बल प्रदान करती है कि तब वही भूमि दान में दी जाती थी जो कुटुम्बिना, अर्थात् ग्राम वासियों द्वारा जोती न जाती हो और ऐसी भूमि या तो अप्रदा (उजाड़) होती थी, या अप्रदत्त (जो कभी भी न जोती गई हो), या खिल (बंजर) होती थी और इस कारण वह समुद्रवाह्य या अप्रतिकर होती थी (अर्थात् उससे न लगान मिलता था न कर वसूल होता था)⁶। अतः वह भूमि जो वाप न थी, दान में भूमि प्रमाण उल्लेख के समय, खेतों के रूप में न होकर वस्तुतः क्षेत्र में होती थी। इसीलिए विशाल क्षेत्र को खारि, द्रोण, कुल्य में प्रमाण देते हुए भी उसे क्षेत्र शब्द प्रदान किया गया है।

३—ऐसी विस्तृत भूमि की पहचान देनी आवश्यक थी, जो दी गई, यथा सेम्मक क्षेत्र, साधुतुंग ग्राम के नीचे देवालय के पास का क्षेत्र, जंगल रोली सहित का क्षेत्र आदि। गढ़वाल में ऐसे अनेक ग्राम-नाम आज भी मिलते हैं जो प्रारम्भ में इसी प्रकार के क्षेत्र थे। यथा—बिलखेत, देवीखेत, सुंगरखेत, बड़खेत, हन्दूखेत आदि।

४—ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि कुल्यवीज वाला वेतस क्षेत्र जंगल और रोली सहित विस्तृत था, इसी कारण इसके लिये समूल समात्रक का उल्लेख किया गया।

गुप्त काल के बंगाल के ताम्रपत्रों में से एक कुल्यवाप का मूल्य तीन या चार दीनार तक आया है। इससे अनुमान होता है कि पर्वतांचल में भी उर्वर उपत्यकाओं में भूमि का मूल्य मैदानी भाग की तुलना में कोई काम नहीं होता था। कुल्यवाप, आठ द्रोण अथवा दो मन बीज वाली भूमि-प्रमाण को कहते थे।

खारिवाप —

अर्थशास्त्र और चरक संहिता में खारि का प्रमाण अलग-अलग है। अर्थशास्त्र १६ द्रोण की एक खारि बताता है परन्तु चरक संहिता के अनुसार एक खारि चार द्रोण की होती है। अतः द्रोण खारि का एक अवयव था। यों दीस द्रोण की एक खारि मानने का भी गढ़वाल में रिवाज रहा है^७। सुभिक्षराज ताम्रपत्र में सत्तकपुत्र नपियों के पास खारिबीज के ४ नये खेत का जो उल्लेख प्रारम्भ में दिया गया है, उसके सम्बन्ध में पतंजलि की यह उक्ति सटीक बैठती है कि जिन खेतों में प्रस्थ, द्रोण, खारि या पात्रभर बीज बोया जाता था उन्हें क्रमशः प्रास्थिक; द्रोणिक, खारिक और पात्रिक कहते थे^८।

ज्यूला—उत्तराखण्ड के मध्यकालीन इतिहास में हमें भूमि-नाम का एक अन्य शब्द—‘‘ज्यूला’’ का प्रयोग मिलता है।

रत्नांजलि ने ज्यूला के दो रूपों का उल्लेख किया है :—

१—चौबुंदा ज्यूला तथा चक्र ज्यूला^९।

चक्र ज्यूला—चक्र ज्यूला का प्रमाण इस प्रकार था :—

४ पाथा (प्रस्थ) या ८ सेर बीज = १ लेमणी

२ लेमणी या १६ सेर बीज = १ मैणी

२ मैणी या ३२ सेर बीज = १ कैणी

२ कैण्टी या ६४ सेर बीज (२ द्रोण) = १ अधाली

२ अधाली या ३ मन व सेर बीज (४ द्रोण) = १ चक्र ज्यूला ।

चौखुंटा ज्यूला — चौखुंटा ज्यूला प्रमाण, उपर्युक्त लेमणी, मैरी, कैरी तथा श्रधाली सहित चक्र ज्यूला का चौगुना अधिक होता था । अर्थात् १६ द्रोण बीज का एक चौखुंटा ज्यूला होता था । अनुमान होता है कि चरक संहिता का खारि ही उत्तराखण्ड में चक्र (चरक) ज्यूला कहलाया, जबकि चारणक्य रचित अर्थशास्त्र में, खारि का पैमाना उत्तराखण्ड में चौखुंटा ज्यूला कहलाया । ध्यान देने की वात है कि इन दोनों के प्रमाण परस्पर मिलते हैं ।

तथापि ज्यूला की व्युत्पत्ति किस शब्द से हुई, निश्चित कहना कठिन है । उत्तराखण्ड में पाठा चलाने को “जोल” कहते हैं । संभव है कि बड़े क्षेत्र की नाप को हल की अपेक्षा जोल को ही इकाई माना गया हो, क्योंकि १० हलों के बराबर १ जोल १ दिन में काम करता है ।

नेपाल में जुमला का प्रयोग बड़े क्षेत्र के लिए होता है । टिहरी तथा गढ़वाल में भी ज्यूला का प्रयोग अनेक पटिट्यों के लिए आया है । यथा बारह ज्यूला, साठ ज्यूला, दस ज्यूला, ढाई ज्यूला । अंतः संभव है कि नेपाली “जुमला” और उत्तराखण्ड के “ज्यूला” में कोई संगति हो । ज्ञातव्य है कि १२वीं शती ई० में अशोकाचल तथा क्राचल का अधिकार नेपाल-कुमाऊं, गढ़वाल तक विस्तृत था ।

संस्कृत में “ज्या” का अर्थ पृथ्वी भी होता है और धनुष की डोरी भी । जैसा कि हम जानते हैं धनुष में भी भूमि प्रमाण दिया जाता रहा है ।

ज्या, पटिट्यों के सर्वेक्षण से तथा ज्यूला जागीरों के उल्लेख के अवलोकन से यह भी पता चला है कि ऐसी भूमि उर्वर एवं श्रेष्ठतर होती थी । अतः संभव है संस्कृत शब्द “ज्यायस्” की छाया हो । ज्यायस् का अर्थ होता है श्रेष्ठतर और वृहत्तर । उपजाऊं और उत्तम भूमि में जागीर दिये जाने के उल्लेख हमें गढ़वाल के इतिहास से प्राप्त होते हैं ।

उल्लेख मिलता है कि “अजयपाल ने जब श्रीनगर की स्थ पना की तो वह धनाई रौतेजा की जागीर था और ६१ ज्यूला भूमि भाग पर फैला था ।” “उसी वर्ष साल बुटोला को राज्यारोहण में मदद करने पर १२ ज्यूला वनगढ़ में, १२ ज्यूला जंखण्ड में तथा १२ ज्यूला ढांगू में जागीर प्रदान की थी ।”^{१०}

विशेषता—

उत्तराखण्ड के भूमि-नाप के पैमानों की एक रोचक ऐतिहासिकता यह भी है कि जागीर में दी जाने वाली भूमि-प्रमाण को वास्तविक आकार से दुगना करके निखा जाता था और जब वह भूमि पुनः राज्य के पास वापस आती थी तो उसका आकार विवरण वैसे ही रहने दिया जाता था । इस विशेषता को ध्यान में रखकर ही पंचार वंश के परवर्ती नरेशों के भूमि-विवरण-फरमानों तथा भूमि-विवरण रजिस्टरों का अध्ययन अपेक्षित है ।

सन्दर्भ—

- १—डबराल, शिवप्रसाद, उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग—१, पृ० ३८४—३८८.
- २—ऐटकिन्सन, ई० टी०, हिमालयाज गजेटियर, वा० २, माग १, पृ० २६४.
- ३—मुखर्जी, राधाकुमुद, गुप्त साम्राज्य, पृ० १२८ तथा १३३.
- ४—रत्नडी, हरीकृष्ण, गढ़वाल का इतिहास, पृ० ११३.
- ५—गुप्ते, एपि० इंडिका, जि० १३, पृ० ११८ तथा २०.
- ६—मुखर्जी, वही, पृ० १७८.
- ७—डबराल, शिवप्रसाद, उत्तराखण्ड का इतिहास, भाग ४, पृ० ४२६.
- ८—अग्निहोत्री, प्रभुदयाल, पतंजलि कालीन भारत, पृ० ३४६.
- ९—रत्नडी, हरीकृष्ण, गढ़वाल का इतिहास, पृ० ११२ तथा ११३.
- १०—ठिहरी अभिलेखागार रजिस्टर, लखनऊ, सं० ४, पृ० ४, ५ तथा ६.

आत्मान्वेषण की चार्वाकीय दृष्टि

डॉ० गदाधर त्रिपाठी

मऊरानीपुर (झाँसी)

विश्व के विस्तार, अगम्यता और विनश्यता ने सृष्टि के प्रारम्भ से ही न केवल मनुष्य के मन में कौतूहल और जिज्ञासा उत्पन्न की है, अपितु उसे यह भी सोचने पर विवश किया है कि इस विशाल विश्व के बीच उसका अपना स्वरूप क्या है, उसकी नियति क्या है, उसके अस्तित्व का आधार क्या है? और तब रहस्य-रोमाञ्च के प्रारम्भिक विचार में उसे ऐसा लगा कि सूर्य इस जगत् की आत्मा है, इन्द्र पृथ्वी को स्थिर रखता है, अग्नि इस सृष्टि का उपादान कारण है (ऋ० २/१२/२)। पर बाद में उसे ऐसा अनुभव होने लगा कि नहीं; इन्द्र का वैसा अस्तित्व नहीं है (ऋ०, ८/१००/३), प्रजापति आत्मा का आविर्भाविक है, पर वह कौन है, हम किसे हवि प्रदान करें (ऋ०, १०/१२१/२)! किसी ने कहा-आप ऋषि हैं, कृपया यह बतावें कि सृष्टि के निर्माण का आधार क्या है, मनुष्य का निर्माण कैसे हुआ (ऋ०, १०/८१/४)। किसी ने पूछा कि पुरुष के हाथों का, अङ्गुलियों का, पैरों का, ज़़ु़ाओं का निर्माण किसने किया है और बाद में कहा-पुरुष ब्रह्मरूप होकर यह सब करने का सामर्थ्य पा लेता है (अथर्व, १०/२)।

विचारों का यह क्रम उपनिषदों में अधिक स्पष्टता के साथ फलित हुआ, और आत्मा के नित्य, कूटस्थ तथा चैतन्य स्वरूप की अवधारणा का निश्चित आधार भी तैयार हुआ। परन्तु यह धारणा भी निःशेष नहीं हुई कि मृत्यु के पश्चात् प्राणी का कोई अस्तित्व शेष नहीं रहता। जहां मृत्यु के बाद आत्मा के अस्तित्व के शेष रह जाने का विश्वास कुछ लोगों को था, वहीं कुछ विचारकों के मन में यह विश्वास भी था कि मृत्यु के पश्चात् प्राणि का अस्तित्व शेष नहीं रहता—‘येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके’ (कठ०, १/१/२०)। इतना ही नहीं, प्रजापति ने विरोचन को आत्मा का उपदेश देते समय कहा कि नेत्रों से दिखाई देने वाला प्रतिविम्ब ही आत्मा है—‘य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति’ (छान्दो०, ८/८/४)। याज्ञवल्क्य भी आत्मा के अन्वेषण में होता, प्राण, वाक्, ध्राणादि में आत्मा देखते हैं और बाद में उसका निषेध करते हैं, और इस तरह आत्म-स्वीकार की शाश्वत-वादी मान्यता के निषेध का एक आधार देते हैं। बाद में ऐसे ही स्फुट विचारों का आधार लेकर चार्वाक दर्शन भारतीय दर्शन-परम्परा में एक महत्वपूर्ण दर्शन के रूप में विकसित हुआ। आज यद्यपि अन्य दर्शन-साहित्यों की भाँति इस दर्शन-दृष्टि का साहित्य उपलब्ध नहीं है, तथापि प्राचीन विचार-परम्परा में आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन के आचार्यों द्वारा स्थान-स्थान पर चार्वाकों के सिद्धान्तों के खण्डन का प्रयत्न ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि वैदिक तथा वेदोत्तर परम्परा के निषेधप्रकर दृष्टिकोण से प्रभावित चार्वाक-दृष्टि नितान्त रूप से प्रभावी थी, जिसे देहातिरिक्त आत्मा के अन्य स्वरूप में विश्वास नहीं था। लोकायत, ऐहिकवादी और चार्वाकों के नाम से ज्ञेय इस दृष्टि के समर्थक विचारकों का यह

अभिमत है कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु ही प्रत्यक्षतः ज्ञेय पदार्थ हैं। इन महाभूतों से निर्मित शरीर में चेतना उसी तरह आविभूत होती है जैसे लोक में चूना, कत्था, सुपारी और ताम्बूल के द्वारा से लाल रङ्ग का आविर्भाव होता है, यद्यपि ताम्बूल, चूना और सुपारी में से किसी भी द्रव्य ने स्वभावतः लाल रङ्ग नहीं होता। इसी तरह पृथ्वी, जल, तेज और वायु चैतन्य स्वभावी नहीं हैं तथापि इनके योग से निर्मित शरीर में चेतना का उद्भव होता है। अपनी इस धारणा के समर्थन के अन्य उदाहरण देकर कहते हैं कि और भी अन्य अनेक ऐसे मादक द्रव्य हैं जिनमें विविधपदार्थों मिश्रण से मादकता उत्पन्न होती है जबकि उन मादक द्रव्यों में मिश्रित पृथक्-पृथक् पदार्थ का स्वभाव मादक नहीं होता —

जडभूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते ।

ताम्बूल-पूग-चूगानिं योगाद्राग इवोत्थितः ॥

(स० सि० सं०, २/७)

माधवाचार्य ने लोक-व्यवहार में प्रचलित 'अहं सुखी', 'अहं दुखी' जैसे वाक्-व्यवहार की संगति पर विचार करते हुए कहा कि ऐसे वाक्यों से भी 'अहं' पद से शरीर का ही बोध होता है, क्योंकि सुख और दुख शरीर-धर्म हैं। इन वाक्-व्यवहारों की आत्मवादियों के आत्मतत्त्व सुमंगति इसलिए नहीं हो सकती, क्योंकि सत्, चित और आनन्द रूप आत्मा में सुख और दुख व्याप्ति का व्यवहार असम्भव होगा (स० द० सं०, पृ० १०)। यही कारण है कि 'राहोः शिरः' जैसे वाक्य राहु के शिरमात्र होते पर भी केवल इसलिए संगत हैं क्योंकि ऐसे वाक्यों से लोक व्यवहार चलता है। इसी तरह चावकि 'देवदत्तो मृतः', 'ममदेही' जैसे कथनों में 'देवदत्त' जैसे 'मम' पद से देह अर्थ ही समझते हैं, देहातिरिक्त आत्मा आदि नहीं — अथैषां कायाकारपरिषद् चैतन्याभिव्यक्तौ सत्यां तदूद्घं तेषामन्यतमस्य विनाशे अपगमे वायोस्तेजश्चोभयोर्वा देहिनो देवदत्ताद्यस्य 'विनाशः' अपगमो भवति, ततश्च मृत इति व्यपदेशः प्रवर्तते, न पुनर्जीवापगम इति

(स० शी०, १/१/१७)

ऐहिकवादियों की दृष्टि से सृष्टि के पदार्थों का स्वभाव निश्चित है। स्वभाव क्रियाशीलता से आवद्ध होकर ही चतुर्महाभूतों की भिन्न-भिन्न परिणति होती है। सृष्टि अपने क्रम से अपने ही स्वभाव के वशीभूत होकर सृजित होती है और विनष्ट भी होती रहती है। जगत् के निर्माण का, इन स्वभावभूत पदार्थों के अतिरिक्त कोई निर्माता कलिपत करना समीक्षा नहीं है। यहाँ जो शुभ देखा जाता है वह पदार्थों की स्वभावशीलता से धृष्टि होता है। जगत् की उत्तरी और अनुत्पत्ति के लिए किसी कारणभूत तत्त्व की न तो अपेक्षा होती है और न किसी तत्त्व ऐसा सिद्ध किया जा सकता है, कि कोई पृथक् कारण, जो महाभूत स्वभावी न हो, इस जगत् निर्माण-विनाश में कारण हो सकता है। यह पृथिवी, जल, तेजादि की स्वभावशयता ही है कि में शीतलता की अनुभूति होती है और अग्नि में उष्णता की। जल-पान से तृप्ति और संतोष अनुभूति होती है; जबकि अग्नि के स्पर्श से कष्ट तथा दाह की प्रतीति होती है। एतदर्थे ऐसा महाभूतातिरिक्त कर्ता नहीं है जो जल में शीतलता और अग्नि में दाहकता का सृजन करता है, जो पदार्थों की यह विचित्रता कि अग्नि से जल सूखता है और जल से अग्नि शान्त होती है, जो स्वभाव-वैचित्र्य को और उनकी स्वभावशयता को ही प्रकट करती है। इसीलिये वे

स्वीकार नहीं करना चाहते कि सृष्टि की सृजन-परम्परा में अथवा इसकी विनश्यता में कोई आदि कारण विद्यमान हो सकता है (बु०च०, ६/४८-५१) ।

यही कारण है कि चार्वाकों की दृष्टि से न तो किसी का पुनर्जन्म होता है और न ही देह के अतिरिक्त कोई ऐसा क्रिया-कारक है, जिसे अपने द्वारा किए गए कुशल-अकुशल कर्मों का भोग इस जन्म में अथवा अपर जन्म में करना पड़ता हो । उनकी दृष्टि से तो पृथिवी, जल, तेज और वायु के सम्मिश्रण से निर्मित देह में उत्पन्न हुआ चैतन्य तभी तक रहता है, जब तक शरीर स्थित रहता है । शरीर के विनष्ट होते ही चैतन्य भी नष्ट हो जाता है । यही कारण है कि पुनर्जन्म की घारणा की पुष्टि में कोई मर्यादा तर्क उपस्थित नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक देह से अपर देह में चैतन्य के प्रतिसरण की कल्पना केवल कल्पना ही है । आत्मा की असत्ता में ज्ञान अथवा चैतन्य का आधार देह ही हो सकती है । तब, देह की निवृत्ति होना स्वाभाविक और तर्कसम्मत है । यदि ऐसा नहीं माना जाएगा तो चैतन्य का देह के अतिरिक्त अन्य आधार खोजना होगा, जबकि देह के अतिरिक्त चैतन्य का अन्य कोई आधार नहीं है ।

ज्ञानाधारात्मनोऽस्त्वे देह एव तदाश्रयः ।

अन्ते देहनिवृत्तौ च ज्ञानवृत्तिकिमाश्रयः ॥

(त० सं० २, पृ० ६३६)

अन्य सभी भारतीय दर्शन-दृष्टियों से चार्वाकदृष्टि इस अर्थ में भी यथार्थ के घरातल पर खड़ी प्रतीत हो सकती है कि इस दृष्टि से लौकिक सुख के अतिरिक्त अन्य कोई पुरुषार्थ ही नहीं है । इन्द्रिय-जनित सुखों की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है और इसमें भी स्त्री-संसर्ग परमपुरुषार्थ तथा आनन्द है । यद्यपि इस संसार में कोई ऐसा सुख नहीं है जो दुःख से सर्वथा भिन्न हो, किन्तु मनुष्य को अपनी प्रवृत्ति और इच्छा के अनुरूप सुख की प्राप्ति की ही चेष्टा करनी चाहिए । 'अङ्गनाद्यालिङ्गनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः । न च 'अस्य दुःखसम्भन्नतया पुरुषार्थत्वमेव नास्ति' इति मन्तव्यम् । अवर्जनीयतया प्राप्तस्य दुःखस्य परिहारेण सुखमात्रस्यैव भोक्तव्यत्वात् ।'

(सं०, स०द०प० ५)

इस जीवन में प्राप्तव्य सुखों को त्याग कर अपर जीवन में प्राप्त होने वाले सुखों की कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि न तो अपर जीवन का अस्तित्व है, और न ही किसी ऐसे भोक्ता का अस्तित्व है जो इस जन्म में किये गये कर्मों का भोग अपर जीवन में करता हो । जीवन का उद्देश्य येन-केन है जो इस जन्म में किये गये कर्मों का भोग अपर जीवन में करता हो । जीवन का प्रयत्न करना होना चाहिये । प्रकारण सुख की कामना करना और उसके लिए सभी प्रकार के प्रयत्न करना होना चाहिये । इस देह के नाश होने पर कुछ भी शेष नहीं रहता । बाद में न कोई आता है और न कोई कहीं जाता है । देहनष्ट होते ही एक क्षण में सभी कुछ विनष्ट हो जाता है । देह-त्याग के पश्चात् पुनर्जन्म तथा मुक्ति-प्राप्ति की कल्पना केवल अवर्थार्थ धारणा ही हो सकती है - 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुनः' (स०द०सं०, पृ० २४; सू० शी०, १/१/१२) ।

वैदिक तथा वेदोत्तरकालिक स्फुट विचारों का आधार पाकर विकसित यह दर्शनदृष्टि यद्यपि भारतीय आदर्शों और कल्पना के अनुरूप नहीं ठहरती; साथ ही इस दृष्टि की यथार्थता से सामाजिक मूल्यों को स्थापना में विसंगति की भी आशङ्का की जा सकती है, तथापि इन्हीं कारणों

से इस दार्शनिक चिन्तन के महत्व को कम करके नहीं आँका जा सकता। यहाँ जगत्-व्यवहार और जागतिक पदार्थों की प्रत्यक्ष असतता का स्वरूप ऐसा यथार्थ और निर्मम है कि मनुष्य-मन जब-जब भी आत्म-मोही भावनाओं से एक क्षण के लिये भी विलग होता है तब-तब उसे देहातिरिक्त आत्मा के अस्तित्व के विश्वास में अविश्वास करने का आधार मिल जाता है। संभवतः चार्वाकदृष्टि की यही सामाजिकता और संदर्भ-युक्तिता है कि वह यथार्थ के भौतिक आधार पर खड़ा होकर मनुष्य के अस्तित्व की व्याख्या में विश्वास करता है, जहाँ देह ही आत्मा, उसका सुख ही पुरुषार्थ और और उसी का कर्तृत्व भोक्तृत्व मनुष्य-जीवन का अथ और इति है।

—:०:—

भाषा और संस्कृति : एक नवीन दृष्टि

डॉ० (श्रीमती) स्नेह लता प्रकाश

आगरा

मानव समस्त प्राणियों में इसलिए सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि उसमें मनन तथा विश्लेषण की सर्वाधिक क्षमता होती है। वह एक विचारशील प्राणी होने के कारण अपनी भावनाओं, अनुभूतियों और विचारों को अन्य लोगों से अभिव्यक्त करना चाहता है। इस अभिव्यक्ती-करण के लिए विभिन्न साधन उपलब्ध हैं — शारीरिक अभिनय, आंगिक चेष्टाएँ तथा अन्य वाह्य उपकरण आदि। परन्तु ये सब साधन अपूरण हैं और इनके द्वारा सूक्ष्म मनोमावों की अभिव्यक्ति असंभव है। इसलिए मनुष्य अपने उच्चारण — अवयवों से कुछ ध्वनियाँ उच्चारित करता है, जिनके कुछ निश्चित अर्थ होते हैं, जिन्हें भाषा - वैज्ञानिक भाषा की संज्ञा देते हैं। इसको ही मनुष्य अपने भावों तथा विचारों को प्रकट करने के लिए अपनाता है।

भाषा के माध्यम से ही मानव, समाज में पारस्परिक संबंधों को सुदृढ़ बनाता है। वह एक दूसरे की सुख- दुःखात्मक अनुभूतियों को हृदयंगम करके अपनी संवेदना प्रकट करता है। व्लाक तथा ट्रैगर ने भाषा की व्याख्या करते हुए कहा है — “भाषा यादृच्छिक ध्वनि - प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके माध्यम से एक सामाजिक संस्था आपस में सहयोग करती है¹।”

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से पृथक् उसका कोई ग्रस्तित्व नहीं। वह अपने विचारों और भावनाओं को समाज में रहकर भाषा के माध्यम से एक दूसरे पर प्रकट करता है। भाषा और समाज का इतना अधिक सानिध्य है कि हम भाषाविहीन समाज की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। भाषा का जन्म समाज के अन्तर्गत ही होता है। मनुष्य कोई भी भाषा जन्म से सीख कर नहीं आता है, अपितु समाज से ही भाषा सीखता है और उसका उपयोग भी समाज के अन्तर्गत ही करता है। समाज में रहने के कारण मनुष्य अपने विचारों तथा भावनाओं को दूसरों के प्रति अभिव्यक्त करता है और दूसरों के भाव और विचारों को स्वयं ग्रहण करता है। इस प्रकार समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक विचार - विनिमय का एक मात्र सफल साधन भ.षा है, जो कि मनुष्य की सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभूतियों को भी संप्रेषित करने में सक्षम है।

भाषा; भाव और विचारों की उद्भाविका शक्ति भी है। भाषा के अभाव में भाव, विचार, ज्ञान, अनुभूति कुछ भी संभव नहीं है। जहाँ तक भाषा सक्षम रहती है, वहीं तक विचार-शक्ति तथा कल्पना शक्ति-आगे बढ़ती रहती है, अन्यथा भाषा के अभाव में अन्य शक्तियाँ भी कुंठित हो जाती हैं। भाषा द्वारा ही भावों तथा विचारों का उद्वेक एवं संवर्धन होता है। भाषा के द्वारा ही मनुष्य ज्ञान का अक्षय भंडार अपने अंतस् में संचित कर सकने में समर्थ हो सका है अन्यथा वह

अज्ञान की ओर निशा में ही निमग्न रहता । दण्डी ने भाषा के इसी महत्व को परिलक्षित करते हुए कहा है —

“इदमन्यतमः कृत्स्नं जायेत भूवनत्रयम् ।
यदि शब्दादियं उत्रोतिरात्मारं त्र दीप्यते ॥^२

अर्थात् यदि सुष्ठु के प्रारम्भ से शब्द (भाषा) की ज्योति प्रदीप्त न होती तो ये तोनो लोक ओर अंधकार में लीन हो जाते ।

भाषा सामाजिक होते हुए भी वैयक्तिक सावन है । विषय के अनुरूप और व्यक्तित्व की छाप के कारण भाषा में अन्तर आता है, जिसे हम शैली कहते हैं । भाषा की सफलता उसकी अभिव्यक्ति की क्षमता में ही निहित है । भाषा विचारों की वाहिका होने के कारण हमारी सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतना को भी उद्बुद्ध करने में पर्याप्त सहायक होती है अर्थात् भाषा के माध्यम से ही किसी संस्कृति का पर्यालोचन संभव है ।

संस्कृति का सीमावेत्र वास्तव में बहुत विविट है, क्योंकि एक और इसकी सीमाएं धर्म को स्पर्श करती हैं और दूसरी ओर यह साहित्य को अपने अंतस् में अवगुणित किये हुए है । संस्कृति किसी देश या जाति की आत्मा है । संस्कृति मानव- समूह के उन उदात्त गुणों का संकेत करती है, जो मानव-जाति में सर्वत्र पाये जाने पर भी अपनी कुछ विशिष्टताओं के कारण उस समूह को सबसे पृथक् करते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृति के अन्तर्गत वेष - भूषा, परम्परा, पूजन- विधान, सामाजिक कृत्य, राजनीतिक तथा धार्मिक आस्थाओं का समावेश होता है तथा उनमें कुछ अपनी प्रमुख विशेषतायें होती हैं जिनके कारण वे अपने को अन्य संस्कृतियों से पृथक् उद्भोषित करती हैं ।

भाषा और संस्कृति का पारस्परिक गठबंधन बहुत ही सुदृढ़ है, क्योंकि भाषा का जन्म समाज में होता है तथा संस्कृति का भी । “संस्कृति लोगों की जीवनरीति है जब कि समाज व्यक्तियों का एक संगठित, अंतःक्रिया करने वाला समूह है जो कि एक निर्दिष्ट जीवनरीति का अनुसरण करता है तथा समाज लोगों से मिलकर बना है, उनके व्यवहार की रीति उनकी संस्कृति है” । ^३जिस प्रकार मनुष्य जन्म के पश्चात् अपने समाज में रहकर ही भाषा सीखता है, उसी प्रकार वह अपनी संस्कृति का अनुकरण भी समाज में ही रहकर करता है । किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को तथा उसके व्यवहार को देखकर सरलता से बताया जा सकता है कि वह किस संस्कृति का पोषक है । यदि भाषा न होती तो मनुष्यज्ञान का संचय न ही कर सकता । भाषा द्वारा मनुष्य नाना प्रकार के अध्यात्मिक तथा भौतिक सांस्कृतिक संस्थाओं की स्थापना कर सका है, उन्हें जारी रख सका है तथा समय के अनुसार उनमें विविव प्रकार के संवर्द्धन और संशोधन भी कर सका है । यदि किसी घटना का संस्कृतिक महत्व है तो केवल इसलिए कि उसका विचार तथा व्यवहार में कुछ निश्चित अर्थ है और मानव के पास इस अर्थ को समझने और दूसरों को समझाने का सर्व सम्पन्न साधन भाषा है । यह भाषा ही ऐसा तत्त्व है, जो किसी भी संस्कृति को दूसरों तक सम्प्रेषित करने में सहायक सिद्ध होती है क्योंकि सीखने — सिखाने की प्रक्रिया भाषा द्वारा ही सम्भव है । इसलिए संस्कृति के सर्जनात्मक पक्षों को प्रोत्साहित करने में भाषा का महत्वपूर्ण योगदान है ।

सपीर ने भाषा को मनुष्य द्वारा अर्जित सांस्कृतिक कार्य माना है । भाषा मानव संस्कृति का एक अंग है । और समाज के मध्य पारस्परिक विचार-विनियम का एक प्रमुख भाध्यम है । भाषा

व्यवहार के द्वारा ही अभिव्यक्ति प्राप्त करती है। व्यक्ति जिस समाज में रहता है उसके सांस्कृतिक परिवेश में प्राप्त अनुभवों के द्वारा ही वह शब्द विशेष का अर्थ समझता है और उसका प्रयोग करना भी सीखता है। इसीलिए भाषा विशेष के शब्दों के अर्थ और उनके प्रयोग अपनी विशिष्ट सीमाएँ रखते हैं जो दूसरी भाषाओं से भिन्न होती हैं।

भाषा और संस्कृति का सह संबंध अविभाज्य है। धार्मिक विश्वास और सामाजिक संगठन के कुछ तत्त्व भाषा पर ही अवलंबित हैं। दो संस्कृतियों के मिश्रण के साथ ही संबंधित भाषाओं का भी अपेक्षित मात्रा में परस्पर मिश्रण होने लगता है। किसी भाषा के सांस्कृतिक विषयों पर अधिकार प्राप्त किए बिना उस भाषा विशेष पर अधिकार प्राप्त करना सम्भव नहीं है। किसी भाषायी समाज के सांस्कृतिक साँचों और जीवनमूल्यों को समझे बिना वास्तविक रूप से भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह भाषा के उन सभी महत्वपूर्ण शब्दों, मुहावरों, वाक्यों, वाक्यांशों के सांस्कृतिक अर्थ को पूर्णतः आत्मसात कर ले, जो उसकी भाषा से भिन्न हैं। अतः किसी भाषा को अच्छी तरह से समझने के लिए उस भाषायी समाज के जीवन मूल्यों और दृष्टिकोणों से भली भाँति परिचित होना आवश्यक है।

प्रत्येक भाषिक समाज के सामाजिक तथा सांस्कृतिक अदर्शों और प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति उसके साहित्य में होती है। अतः किसी भी भाषायी समाज के साहित्य का विश्लेषण उस समाज तथा संस्कृति के ज्ञान के आधार पर ही किया जा सकता है। किसी भाषा के साहित्य तथा उसके इतिहास का अध्ययन उस भाषिक समाज की सम्यता तथा संस्कृति के गहन और सूक्ष्म परिचय के लिए अपरिहार्य होता है। एक विशिष्ट साहित्यिक कृति एक विशिष्ट भाषायी समुदाय की सामाजिक तथा सांस्कृतिक सम्पदा होती है।

भाषा; समाज स्वीकृत शब्द और उनके अर्थों की एक वाक्यबद्ध शृंखला है। केवल शब्द बिना अर्थ के निरर्थक हैं, उसी प्रकार बिना शब्द के केवल अर्थ का भी कोई अस्तित्व नहीं है। इसीलिए भारतीय आचार्यों ने साहित्य में शब्द और अर्थ का यथार्थ रूप से सम्पूर्ण होना स्वीकार किया है। एक विराट दृष्टिकोण से देखने पर साहित्य मानव-मस्तिष्क द्वारा रचित एक समष्टि के रूप में निष्पन्न होता है, जिसका उपयोग मनुष्य अपनी संस्कृति और अपने आनन्द की प्राप्ति के लिए किया करता है। साहित्य में कृतिकार की संवेदना अन्तर्निहित रहती है। यही कारण है कि वही साहित्य अधिकाधिक पाठकों को प्रभावित करता है जिसमें मनोवेगों को तरंगित करने की सामर्थ्य होती है। प्रत्येक भाषिक समाज का साहित्य, उसकी संस्कृति और जनता की चित्तवृत्ति का एक संचित प्रतिविम्ब होता है। अतः भाषा के अध्ययन के लिए उस भाषा की संस्कृति को समझते हुए भाषा का अध्ययन करना उपादेय होता है।

संदर्भ —

१. ऐन आउटलाइन आफ लिंग्विस्टिक एनालिसिस, पृ० ५
२. काव्यादर्श, १/४
३. सांस्कृतिक मानवशास्त्र, रघुराज गुप्त द्वारा अनूदित, पृ० ३११

कालिदास की कृतियों में नृत्यकला

डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ

दिल्ली

महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में उनका विविधशास्त्रविषयक पाण्डित्य परिलक्षित होता है। व्याकरण, दर्शन, आयुर्वेद, वनस्पतिशास्त्र तथा संगीत आदि ललित कलाओं में कवि परमनिष्ठात थे। 'गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं सङ्गीतमुच्यते।' संगीत के अन्तर्गत गायन, वादन तथा नृत्य तीनों को परिचित किया जाता है। नृत्य संगीत की तृतीय विद्या है। गीत के अन्तर्गत केवल गायन भी हो सकता है तथा गीत वाद्यों के वादन से संयुक्त भी हो सकता है। वाद्य में वाद्यों का केवल वादन भी हो सकता है और वादन गीत से संयुक्त भी हो सकता है किन्तु प्रायः नृत्य में गीत और वाद्य का समावेश अवश्य ही किया जा सकता है। गीत एवं वाद्य नृत्य के आवश्यक अंग से बन गये हैं।

कालिदास संगीत एवं नृत्यकला में उतने ही निष्ठात थे, जितने काव्यकला में। उनकी कृतियों में उपलब्ध नृत्य-सम्बन्धी उल्लेख इस तथ्य के स्पष्ट परिचायक हैं। कालिदास की कृतियों में नृत्यकला के पग-पग पर दर्शन होते हैं। लगता है, उनके सभी स्त्री पात्र नृत्यकला में परमनिष्ठात थे। कालिदास के समय नृत्यकला अपनी उन्नत अवस्था में थी और नृत्यशास्त्रीय नियमों से नर्तक, नर्तकियाँ, कविगण तथा दर्शकगण सभी पूर्णतः परिचित थे। उनकी रचनाओं में इस कला के बहुविध उल्लेख प्राप्त होते हैं। तत्कालीन समाज में जन्म, विवाह आदि अनेक अवसरों पर नृत्य प्रस्तुत किये जाते थे, एक विद्या के रूप में इसका ज्ञान तथा अभ्यास किया जाता था तथा वारस्त्रियाँ इस कला में विशेष निपुण हुआ करती थीं। कालिदास ने प्रकृति-चित्रण के प्रसंग में भी नृत्यकला तथा तत्सम्बन्धी अनेक शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग किया है। उपमा तथा रूपक के प्रसंग में भी इस कला को उपन्यस्त किया है।

रघुवंश में रघु के जन्मोत्सव पर मंगलतूर्य के वादन के साथ वारस्त्रियों के नृत्य का उल्लेख है। नृत्य के साथ वाद्यमान मंगलतूर्यों का निःस्वन स्वर्ग तक पहुँच गया—

'सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिःस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजूम्भन्त दिवौकसामपि ।'

३/१६

यहाँ प्रयुक्त 'प्रमोद-नृत्य' इसका सूचक है कि जन्म आदि के अवसरों पर वारवनिताओं को समागत अतिथियों के मनोविनोदार्थ प्रमोद नृत्य प्रस्तुत करने के लिये निमन्त्रित किया जाता था।

कुमारसम्भव में कार्तिकेय के जन्मोत्सव पर गीत, वाद्य तथा नृत्य का अनेकणः उल्लेख उपलब्ध होता है। उस समय अड्क्य, आलिङ्ग्य तथा ऊर्ध्वक नाम की अनेक तुरहियां मधुर स्वर से बजने लगीं और भाव तथा रस भरे सुन्दर छन्दों में बैंधे हुये गीत गाती हुई अप्सरायें बड़े हावभाव से नृत्य करने लगीं—

ध्वनत्सु तूर्येषु सुमन्द्रमद्ध्यालिङ्गयोर्धर्वकेवप्सरसो रसेत् ।

सुसन्धिबन्धं ननृतुः सुवृत्तगीतानुगं भावरसानुविद्धम् ॥ ११।३६

यहां भी एक ही पद्य में सुसन्धिबन्ध गीतों का गायन, अनेक प्रकार के तूर्यों का वादन तथा अप्सराओं का नृत्य सन्निविष्ट है।

अपनी प्रिय पत्नी पार्वती को आनन्दित करने के लिए भगवान् शंकर की प्रेरणा से गले में भूलती हुई सोपड़ियों की माला पहने हुये भयावने दांतों वाली कालिका के नृत्य का भी उल्लेख कुमारसम्भव में है—

‘कण्ठस्थलीलोलकपालमाला दण्डाकरालाननमध्यनृत्यत् ।

प्रीतेन तेन प्रभुणा नियुक्ता काली कलत्रस्य मुदे प्रियस्य ॥’

९/४९

मनुष्य जाति के स्त्री-पुरुषों के नृत्य के उल्लेख के अतिरिक्त पशु-पक्षियों के नृत्य का भी कवि ने वर्णन किया है। कुमारसम्भव में नन्दी नृत्यकालीन विकट चेष्टाओं को प्रदर्शित करता हुआ पार्वती के मनोविनोदनार्थ नृत्य प्रस्तुत करता है—

‘चलच्छिखापो विकटाङ्गभञ्जः सुदन्तुरः शुक्लसुतीक्ष्णतुण्डः ।

भ्रुवोपदिष्टः स तु शङ्खरेण तस्या विनोदाय ननर्तं भूङ्गी ॥’ ६।४८

पशु-पक्षियों में मधुर अपने नृत्य के लिये विशेष प्रसिद्ध रहा है। ऋतुसंहार में मधुरों के नृत्य का अनेकणः उल्लेख हुआ है—

‘प्रवृत्तनृत्यं कुलमद्य बहिणाम् ।’ २।६

‘प्रवृत्तनृत्यैः शिखिभिः समाकुलाः समुत्सुकत्वं जनयन्ति भूधराः ।’ २।१६

ऋतुसंहार के एक स्थल पर वर्णन है कि नृत्य करते हुए मधुरों के पिंछों में भ्रमरों को नीलकमल का भ्रम हो जाता है और वे विगतपत्रा कमलिनी को ढोड़कर उनपर गिरने लगते हैं—

विपत्रपृष्ठां नलिनीं समुत्सुका विहाय भूङ्गाः श्रुतिहारिनिस्वनाः ।

पतन्ति सूढाः शिखिनां प्रनृत्यतां कलापचक्रेषु नवोत्पत्ताशया ॥ २।१४

रघुवंश में भी मधुर-नृत्य अनेकणः वर्णित है यथा—

‘पुरोपकण्ठोपवनाथयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ ।

प्रधमातशङ्क्रं परितो दिग्न्तांस्तूर्यस्वने सूच्छर्ति मङ्गलार्थं ॥’ ६।९

तथा—

‘अध्यास्य चाम्भः पृष्ठोपितानि शंलेषगन्धीनि शिलातलानि ।

कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवद्वनकदरासु ॥’ ६।५१

रघुवंश के सम्पूर्ण एकोनविश सर्ग में संगीत एवं नृत्य का उल्लेख है। राजा अग्निवर्ण के राज्य में अनेक नर्तकियाँ थीं। वे संगीत एवं नृत्य में विशेष रुचि रखते थे। अग्निवर्ण पुष्करवादन में इतने निपुण थे कि उनके पुष्कर बजाते रहने पर कुशल नर्तकियाँ नृत्य नियमों को विस्मृत कर जातीं थीं और इस प्रकार अपने गुरुओं के सामने ही राजा द्वारा लज्जित की जाती थीं—

‘स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।
नर्तकीरभिनयातिलंघिनीः पाश्वर्वतिषु गुरुष्वलञ्जयत् ॥’

१९/१४

राजा अग्निवर्ण एक योग्य नृत्यगुरु थे। उन्हें प्रयोग-निपुण बताया गया है। अग्निवर्ण अपनी शिष्याओं को नृत्य-सम्बन्धी तीनों प्रकार के आंगिक, सात्त्विक एवं वाचिक अभिनय में कुशल बनाकर उनका नृत्य प्रस्तुत करवाते थे और इस प्रकार अन्य नृत्यप्रयोक्ताओं के साथ स्पर्श्वा करते थे—

‘अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन् ।
स प्रयोगनिपुणः प्रयोक्तुभिः सञ्जघर्ष सह मित्रसन्निधौ ॥’

१६/३६

प्रमोद-नृत्य के अतिरिक्त युद्धस्थल में मृत्यु के भीषण नृत्य का भी कवि ने वर्णित किया है जहाँ शत्रु की तलवार से छिन मस्तक कोई योद्धा बीरगति प्राप्त कर युद्ध में नाचते हुये अपने कबन्ध को देखता है—

‘कश्चिद्दिष्टव्यड्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य ।
वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श ॥’

रघुवंश, ७/५१

रघुवंश में उपवनलताओं का नर्तकी के साथ साम्य वर्णित है। उनके किसलय नर्तकी के पाणि हैं। वायु से किसलयों का हिलना नर्तकी के पाणि द्वारा ताल देकर हावभाव प्रदर्शक अभिनय-विशेष को प्रस्तुत करना है। लता रूप नर्तकी ध्रुमर-गुन्जन-रूप गीत पर नृत्य कर रही है—

‘भृतिमुखभ्रपरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो वभुः ।
उपवनान्तलताः पवनाहृतैः किसलयैः समर्यैरिव पाणिभिः ॥’

६/३५

इस प्रकार इस एक ही पद्म में संगीत के गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों को प्रस्तुत किया गया है।

शिव को ताण्डव नृत्य का प्रवर्तक माना जाता है। ताण्डव नृत्य में श्रंगों का संचालन अति शीघ्रता तथा अतिवेग से किया जाता है, तभी तो शिव के शरीर में लगा हुआ चिताभस्म-रजनृत्याभिनयक्रिया में वेग के कारण गिर जाता है—

‘तदङ्गसंसर्गमवान्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्मरजौ विशुद्धये ।
तथाहि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम् ॥

कुमा संभव, ५/७९

कालिदास ने अपने सभी ग्रन्थों में नृत्य शास्त्रीय पदावली का अनेकज़िग्रयोग किया है। उनकी सभी नायिकायें भरतोक्त नायिकायें हैं, उनके प्रत्येक हाव-भाव नाट्यशास्त्र वर्णित आंगिक एवं सार्वत्रिक अभिनय हैं। अपनी नायिकाओं के वर्णन-प्रसंग में कवि ने उपमायें भी नृत्यशास्त्र-सम्बन्धिती दी हैं तथा नृत्यशास्त्रीय मुद्राओं का अनेकशः उल्लेख किया है। केवल कुमारसम्भव से कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं— रेखांकित स्थल मुद्राविशेष का सूचक है—

१. उद्वेजयत्यङ्गलिपार्णिभागान् भार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र ।
न दुर्वहशोणिपयोधरार्ता भिन्नद्विति मन्दां गतिमश्वमुखः ॥ १११
२. सा राजहृसैरिव सन्नताङ्गो गतेषु लीलाञ्चितविक्लेषु ।
व्यनीयत प्रत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नूपुरसिञ्जितानि ॥ ११३४
३. प्रवातनीलोत्पलनिविशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तथा गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥ ११४६
४. तस्याः शलाकाऽजननिर्मितेव कान्तिर्भुवोरायतलेखयोर्या ।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनड़गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥ ११४७
५. पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तथा द्वयेऽपि निक्षेप इवापितं द्वयम् ।
लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च ॥ ५११३
६. इति प्रविशयाभिहिंशा द्विजन्मना मनोगतं सा न शशाक शंसितुम् ।
अथो वयस्यां परिपाश्वर्वतिनों विवरितान्दृजननेत्रमेक्षत ॥ ५१५१
७. अथाग्रहस्ते मुकुलीकृताङ्गुलौ समर्पयन्ती स्फटिकाक्षमालिकाम् ।
कथञ्चिदद्रेस्तनया मिताक्षरं चिरव्यवस्थापितवागभाषत ॥ ५१६३
८. इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि प्रवेषमानाधरलक्ष्यकोपया ।
विकुञ्जितभ्रूलतमाहिते तथा विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते ॥ ५१७४
९. तं वीक्ष्य वेष्यमन्ती सरसाङ्गयष्टिनिक्षेपणाय पदमुदृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाच्चिलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥ ५१८५

मेघदूत में नृत्यकुशल वारस्त्रियों द्वारा महाकाल मन्दिर में देशिक नृत्य (नृत्यसंवर्स्वे) में नृत्यकुशल वारस्त्रियों द्वारा महाकाल मन्दिर में देशिक नृत्य (नृत्यसंवर्स्वे) के प्रस्तुत करने का वर्णन है। इस प्रसंग में पादन्यास शब्द प्रयुक्त है जो उस नृत्य में चरणों के अधिक प्रयोग (food work) का सूचक है। मेघ के यहां पहुँच कर जलवर्षण करने पर नर्तकियां उसे कटाक्ष से देखेंगी। यह कटाक्ष भी नृत्य की विशेष मुद्रा है। तदनन्तर मेघ शिव के ताण्डव नृत्य को देखेगा और इस नृत्य में अपने गजंत रूप मृदंग-ध्वनि को प्रस्तुत करेगा। नृत्य में गायत्र और वादन को परमावश्यक माना गया है। पशुपति के नृत्य में बांस, अपने छिद्रों में वायु के प्रवेश करने से मधुर ध्वनि करते हैं और इस प्रकार वंशीवादन प्रस्तुत करते हैं, किन्तरियां समवेत स्वर में विपुरविजय की कथा गीतों में गाती हैं और मेघ गर्जनरूपमृदंग-ध्वनि प्रस्तुत कर नृत्य के लिये समुचित ताल एवं लय प्रदान करता है। इस प्रवार नृत्य के लिये सम्पूर्ण आरकेस्ट्रा तैयार हो जाता है—

‘शब्दायन्ते मधुरमनिलेः कीचकाः पूर्यमाणाः

संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः ।

निहृदिस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिः स्या-

त्सङ्गीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥’ पूर्वमेघ, ५६

कालिदास के सभी नाटकों में नृत्य के उल्लेख उपलब्ध होते हैं किन्तु मालविकागिनिमित्र में कवि का नृत्य-कला-ज्ञान अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, जहाँ मालविका के उच्चकोटि के शास्त्रीय नृत्य का अवलोकन दर्शक करता है ।

मालविकागिनिमित्र नाटक का आरम्भ बकुलावलिका के, गुरु गणदास के पास मालविका के नृत्याभ्यासोन्नति के विषय में जानने के लिये गमन से होता है । नृत्यकला के सम्बन्ध में आचार्य गणदास की सर्वप्रथम शास्त्रीय उक्ति है—

‘देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं

खद्देणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।

त्रैगुण्योदभवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते

नाट्यं मिन्नरुचेर्जनस्य बहुधार्थेकं समाराधनम् ॥’ १/४

नृत्य एवं नाट्य के सम्बन्ध में गणदास का मत एक विद्वान् का मत है । उनके अनुसार नृत्य के बल जीविका का ही साधन नहीं है अपितु एक कला है जिसके अजस्त्र अभ्यास से व्यक्ति उस कला में उत्तरोत्तर निष्णात होता जाता है । एक योग्य गुरु के लिये एक योग्य शिष्य की प्राप्ति महती प्रसन्नता प्रदान करती है । मालविका की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं—

‘यद्यत्प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।

तत्तद्विजेषकरणात्प्रत्युपदिशतीव मे सा बाला ॥’ १/५

मालविका नृत्यविद्या में इतनी अधिक निपुण हो गई है कि उसके गुरु गणदास उस विद्या का प्रदर्शन चाहते हैं । उनके अनुसार सत्यात्र को दी गयी विद्या स्वयम् एक उपलब्धि है—

‘पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः ।

जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥’ १/६

मालविकागिनिमित्र में बार-बार यह स्पष्ट किया गया है कि नृत्य एक प्रायौगिक विद्या (Practical Art) है । गणदास और हरदत्त में कौन अधिक योग्य गुरु है……… यह परखने से लिए निर्णय होता है कि उनकी शिष्याओं का नृत्य-प्रदर्शन हो और फिर मालविका का नृत्य प्रारम्भ होता है । परिव्राजिका को निर्णयिक-पद पर नियुक्त किया जाता है । नृत्य प्रारम्भ होते से पूर्व कालिदास ने परिव्राजिका की कुछ उक्तियों को उपन्यस्त किया है जिससे तत्कालील नृत्य-प्रदर्शन एवं नृत्य-सभाओं के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है । परिव्राजिका का निर्देश है कि मालविका को कम से कम प्रसाधन एवं वेषभूषा में प्रस्तुत किया जाय जिससे उसके प्रत्येक अंग के सौष्ठव अभिव्यक्ति स्पष्ट हो सके—

परिव्राजिका—‘निर्णयाधिकारे ब्रवीमि सर्वाङ्गसौष्ठवाभिव्यक्तये

विरलनेपथ्ययोः पात्रयोः प्रवेशोऽस्तु ।’ (पृ० ३०)

परिव्राजिका की सम्मति में वही योग्य गुरु है जो स्वयं विद्या-प्रदर्शन के साथ अपने शिष्य को भी योग्य बना सके—

‘शिलष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।

यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ॥’ १/१६

और इसी की परख के लिये मालविका मंच पर प्रस्तुत होती है। उसके नृत्य प्रारम्भ करने के पूर्व पीछे से मृदंग-ध्वनि सुनाई देती है जिसे सुनकर मयूरों को मेघ-गर्जन की आन्ति होती है—

‘जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूररुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य ।

निहर्दित्युपहितमध्यमस्वरोत्था मायूरी मदयति मार्जना मनांसि ॥’ १/२१

मालविका शमिष्ठा-कृत एक चतुष्पदा कृति को छलित नृत्य द्वारा प्रस्तुत करती है। मालविका उस कृति के पदों के अनुरूप एवं रसानुरूप भावाभिनय करती है। नृत्य की समाप्ति पर यह एक विशेष मुद्रा (आयत) में खड़ी हो जाती है। नर्तकी के खड़े होने का ढंग राजा को नृत्य की अपेक्षा अधिक आकृष्ट करता है—

‘नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्द्धम् ॥’ २/६

निर्णायिका परिव्राजिका मालविका के नृत्य की प्रशंसा करती हुई कहती है—

‘अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः

पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु ।

शाखायोनिमृदुरभिनयस्तद्विल्पानुवृत्तौ

भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव ॥’ २/८

विक्रमोवशीय में स्वर्ग की नर्तकी उर्वशी का उल्लेख आता है। कालिदास के अन्य नाटकों में मालविका के सुन्दर नृत्य की भाँति नृत्य-प्रदर्शन के उल्लेख प्राप्त नहीं होते किन्तु काव्यों की ही भाँति उनके नाटकों में अनेक ऐसी उपमायें, रूपक एवं वर्णन प्राप्त होते हैं जो कालिदास की नृत्यविद्याभिज्ञता तथा तत्कालीन समाज की इस विद्या में अभिरुचि को प्रकट करता है।

इस प्रकार कालिदास की कृतियों में उपलब्ध नृत्यकलापरक उल्लेखों पर दृष्टिपात कर यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास गीत और वाद्य के साथ संगीत की तृतीय विद्या नृत्यकला के ज्ञास्त्रीय एवं प्रायौगिक उभय रूपों से भली भाँति परिचित थे और उनका शोभन सन्निवेश उन्होंने अपनी कृतियों में किया ।

उपनिषत्सु जीवस्वरूपम्

श्री गिरिधर त्रिपाठी
गोरखपुर

उप+नि पूर्वकाद् “घदलृ (भा० ८५४)” विशरणगत्यवसादनेय, इत्यस्माद् धातोः क्रिविपि उपसद्य निश्चयेनशीलयतामविद्यां सीदत्तीत्युपनिषद् अध्यात्मविद्या । यस्या विद्याया अध्ययनेन दृष्टानुश्रविकविषयेभ्यो विवृण्णानां मूमुक्षुजनानां संसारबीजभूताऽविद्या नश्यति । यया च विद्यया ब्रह्मप्राप्तिर्भवति । यस्याश्च परिशीलनेन गर्भवासादिदुःखग्रामाः शैथिल्यं भजन्ते । साऽध्यात्मविद्या उपनिषदस्ति ।

उपनिषत्सु आत्मस्वरूपस्य विवेचनं वैश्यदेनाऽभूत् । आत्मसत्ता अस्मिन्नेव जीवने वर्तते आहोस्मिवत् एतज्जीवनानन्तरेपि विद्यते । अस्मिन् विषये नचिकेता स्वयमेव यममनिवेदयत् । यमराजः स्वयमेव अस्याऽत्मनो विवेचनमकरोत्— आत्मा नित्योऽस्ति । स आत्मा न कदापि म्रियते, न च कदाप्यवस्थादिकृतदोषान् प्राप्नोति । स विषयेभ्यः समस्तेन्द्रियेभ्यः, संकल्पविकल्पात्मकमनसो विवेचनात्मकबुद्ध्याः, सत्ताकारणीभूतप्राणेभ्यश्च पृथग् अस्ति ।

उपनिषत्सु कर्ता, भोक्ता, संसरणशीलः विभिन्नगतिमान् आत्मेति निगदितम् । जीवात्मस्वरूपं साधु कठोपनिषदि प्रदर्शितम् । तत्र कठोपनिषदि शरीरं रथः, जीवात्मा रथस्वामी तथा बुद्धिः सारथिः इति निरूपितम् । येन प्रकारेण रथस्वामिन आदेशे सारथी रथस्य सञ्चालनं करोति तेनैव प्रकारेण अस्य शरीररूपरथस्य स्वामिनो जीवात्मन आदेशे बुद्धिरूपसारथिः शरीररूपरथस्य परिचालनं करोति । किन्तु जीवात्मा साक्षात् शरीरगतेः कारणं नास्ति, ग्रपितु बुद्धेभ्यमेन शरीरे गतिमुत्पादयति । मनोऽस्य रथस्य प्रग्रहः इन्द्रियाणि अश्वाश्च तथा विषया इन्द्रियरूपाश्वानाम् पन्थानः सन्ति । अनेन प्रकारेण शरीरेन्द्रियमनसायुक्त आत्मा कर्मफलभोक्ता, इति कथ्यते—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

वुद्धिं तु सारथि विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥¹

इन्द्रियाणि हयानाहुविषयांस्तेषु गोचरान् ।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥²

मुण्डक-श्वेताश्वतरयोऽन्वास्य जीवस्य तुलना वृक्षस्थपक्षिणा सह कृता वर्तते, अयमात्मरूपः पक्षी शरीररूपवृक्षस्य कर्मरूपफलानिखादति—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिष्वजाते ।

तथोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वृत्त्यनशननन्योऽभिचाकशीति ॥³

विभिन्नेन्द्रियव्यापाराणां माध्यमेन प्रश्नोपनिषदि अयं जीवात्मा द्रष्टा, श्रोता, स्पष्टा, व्राता, रसयिता इत्यादि प्रतिपादितम् । तथाहि—

एष हि द्रष्टा स्पष्टा श्रोता व्राता रसयिता
मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः ॥४॥

चान्दोग्ये चोत्पत्त्यनुसारेण जीवात्मा अण्डजजीवजोदभिजजेति भेदेन त्रिधा ।

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि
भवन्त्यण्डजं जीवजमुद्भिजजमिति ॥५॥

शुभाशुभकर्मनुसारेण अयं जीवात्मा स्थूलसूक्ष्मादि वहुशरीराणि धारयति—

स्थूलानि सूक्ष्माणि वहनि चंव रूपाणि देहीस्वगुणेवृणोति ।
कियागुणेरात्मगुणेश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥६॥

तीत्तिरीये— अस्य जीवस्य पञ्चकोशाः सन्तीत्यलिखत् । ये क्रमशः अन्तमयप्राणमय-मनोमयविज्ञानमयानन्दमयाभ्युच्च सन्ति । मनुष्यस्य स्थूलशरीरमन्नेन निर्मितम् तस्मादिदं शरीरमन्न-मयकोश इत्याख्यायते । अस्य कोशस्य मध्ये प्राणमयकोशो वर्तते । प्राणमयकोशो च मनोमय कोशः; मनोमयकोशो च विज्ञानमयकोशः स्थितः । अस्य विज्ञानमयकोशस्य मध्ये वर्तमान आत्माऽनन्दमयकोशः—

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । अन्योऽन्तरात्मा प्राणमयः । अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । अन्योऽन्तरं आत्मा विज्ञानमयः । अन्योऽन्तरं आत्मा आनन्दमयः ॥७॥

एतैः पञ्चकोशैः युक्तो जीवात्मा अवस्थात्रयं जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त्याख्यंप्राप्नोति । याज्ञवल्क्यो महर्षिः महाराजं जनकं प्रति ब्रह्मविषयेऽगादीद् यद् अयं जीवात्मा जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त्यवस्थासु क्रमशो विचरणं करोति ॥८॥

तदेव स्पष्टं कैवल्योपनिषदि—

स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम् ।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितप्तिमेति ॥

स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वयायया कलिपतजीवलोके ।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति ॥९॥

ऐतरेये— जीवात्मनः त्रीणि जन्मानि भवन्तीत्युच्यते— अयं जीवः पुरुषशरीरे रेतोरूपेण (गर्भरूपेण) वसति । यस्मिन् समये पुरुषः स्वभार्यायाम् अस्य रेतस आधानं करोति, तदेव प्रथमं जन्मास्ति ।

स्त्री स्वोदरेऽस्यरेतोरूपजीवस्य पोषणं करोति तथा उचित-समये अस्य प्रसवं करोति, एतदेव द्वितीयं जन्म । अयं पुत्ररूपो जीवात्मा पुण्यकर्मणाम् अनुष्ठानाय पितुः स्थाने प्रतिनिधिरूपेण संस्थितो वर्तते । तदनन्तरम् अयं पितृरूपो जीवात्मा वृद्धावस्थायाम् मृत्युं प्राप्नोति । मृत्योः पश्चाद् कर्मफलभोगाय पुनर्जन्म गृहणाति, एतदेव जीवात्मनस्तृतीयं जन्म ।

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भोऽयदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽज्ञेभ्यस्तेजः तदस्य प्रथमं जन्म ॥
तत्स्त्रया आत्ममूर्यं लोहास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥
सोऽस्याऽयमात्मा पुण्येभ्यः... पुनर्जायिते तदस्य तृतीयं जन्म ॥¹⁰

वृहदारण्यके निगदितम्— अयं जीवात्मा यथाऽनुष्ठानं करोति यथाऽत्मरणं करोति तथैव मवति । सावुकर्मणा साधुः, पापकर्मणा पापी, पुण्य कर्मणा पुण्यवान् जायते । अत्र अस्यकर्मणो मूलवासना (कामः) कथयते । यो जीवो यथा वासनं करोति तथैव संकल्पं करोति यथा संकल्पो मवति तथैव कर्म करोति क्रमानुरूपेण च फलं प्राप्नोति—

यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति ।
पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन ।

अथो खलु आहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्करुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥¹¹

मृत्युकाले लिङ्गं (सूक्ष्म) शरीरेण सह मनो यत्रासक्तं भवति तत्रैवायं जीवो गच्छति ।
कठोपनिषदि जीवस्य विभिन्नयोनिषु गमनमुच्यते—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥¹²

श्वेताश्वतरे जीवात्मनो विकासोत्पत्तये वहूनि कारणानि प्रोक्तानि । मोहेन-स्पर्शेन-दर्शनेन संकल्पेन जीवात्मनो वृद्धि जन्मनी भवतः । अतो जीवः स्वकर्मणा विभिन्नस्थानेषु विभिन्नरूपाणि (शरीराणि) धारयति—

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुद्ध्यात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यानुक्तेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ॥¹³

वृहदारण्यकोपनिषदि देहान्तरगमनस्यसमीचीनं दृष्टान्तं प्रदत्तम् । येन प्रकारेण तृणकीटाणुरेकतृणं भुक्त्वा द्वितीयत्रृणं गृहणाति तेन प्रकारेण अयं जीवात्मा जीर्णशरीरं त्यक्त्वा नूतनशरीरं धारयति । प्रस्तुतोदाहरणेन इदं स्पष्टं भवति यत्—

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मनुपसंहरत्येवमेवायमात्ममेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रमभाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ॥¹⁴

येन प्रकारेण सुवर्णकारः स्वर्णस्य खण्डं गृहीत्वा भिन्नरूपात्मकं भूषणमरचयत् तेन प्रकारेण अयमात्मा इदं शरीरं विहाय पितृ-गन्धर्व-प्रजापति - ब्रह्माऽन्यान्यभूतानाम् अत्यन्तसुन्दररूपस्य निर्माणं करोति । अनेनेदं स्पष्टं भवति यज्जीवात्मा स्वयमेव शरीरस्य निर्माणे समर्थः ।

तद्यथा पेशस्करी पेशसोऽयं

नाम्यं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥¹⁵

मुण्डके चापि वासनानुसारेणैव जन्मविधिनिगद्यते । उद्घृत-श्रुतौ ज्ञानिनोऽज्ञानिनो वा जीवस्योत्लेखोऽस्ति । अज्ञानी जीवः कामनावशीभूतः संसरणं करोति यदा यज्ञानी जीवो मृत्योः पश्चात् विदेहमुक्ति प्राप्नोति —

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामचिज्जयिते तत्र तत्र ।

पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥^{१६}

उपनिषदां प्रतिपाद्यो विषय आत्मा अस्ति । संहितामारम्यारण्यकपर्यन्तं यद् ब्रह्मा आत्मभिन्नं प्रतिपादितं तद् ब्रह्म उपनिषदि अभिन्नमेवास्ति —

यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥^{१७}

ब्रह्मण आत्मनश्च तादात्म्येन वर्थात् दैव्या आध्यात्मिक्याश्चोभयोः शक्त्योः अभेदेन ॥ आत्मनोऽतिरिक्तं ॥ संसारे किञ्चिद् सद् वस्तु नास्ति । इदं तत्त्वं पूर्णमस्ति, अतएव द्रष्टृ-दृश्ययोश्च तादात्म्यम् अस्ति । आत्मा सर्वव्यापकः, संसारस्य सर्वे पदार्था अस्यैव गर्भे तिरोहिताः । वृहदारण्यके प्रोक्तं—

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयोऽस्ति ॥^{१८}

धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयः इत्यादि ॥^{१८}

अपि च सर्वस्माद् विशिष्टं महत्त्वं आत्मनोऽस्ति । यद् आत्मनः सदृशं प्रियवस्तु किञ्चिद् द्वितीयं नास्ति—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ॥^{१९}

आत्मा प्राणापानव्यानोदानसमानवायुनां रूपेणास्माकं शारीरस्य रक्षां करोति । अयमात्मा क्षुत्पिपासाशोकमोहजरामृत्युभ्य अस्मान् उद्धरति । आत्मनो ज्ञानेन पुत्रधनस्वर्गादि लोकेभ्यो विरक्तो मनुष्यः परिव्राजकरूपेण जीवनं यापयति । यतो हि अयमात्मा वेदाध्ययनादिना न प्राप्यते अपितु साधको यम् आत्मानं चिनोति तेन आत्मना प्राप्यते । तं प्रति अयमात्मा स्व-स्वरूपस्य अभिव्यक्तिं करोति । यथाकठोपनिषदि—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेध्या न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैव वृणुते तेन लभ्यस्तस्येष आत्मा विवृणुते तनूस्वाम् ॥^{२०}

आत्मनोज्ञानम् अन्तःकरणस्य परिशुद्ध्या भवति—

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥^{२१}

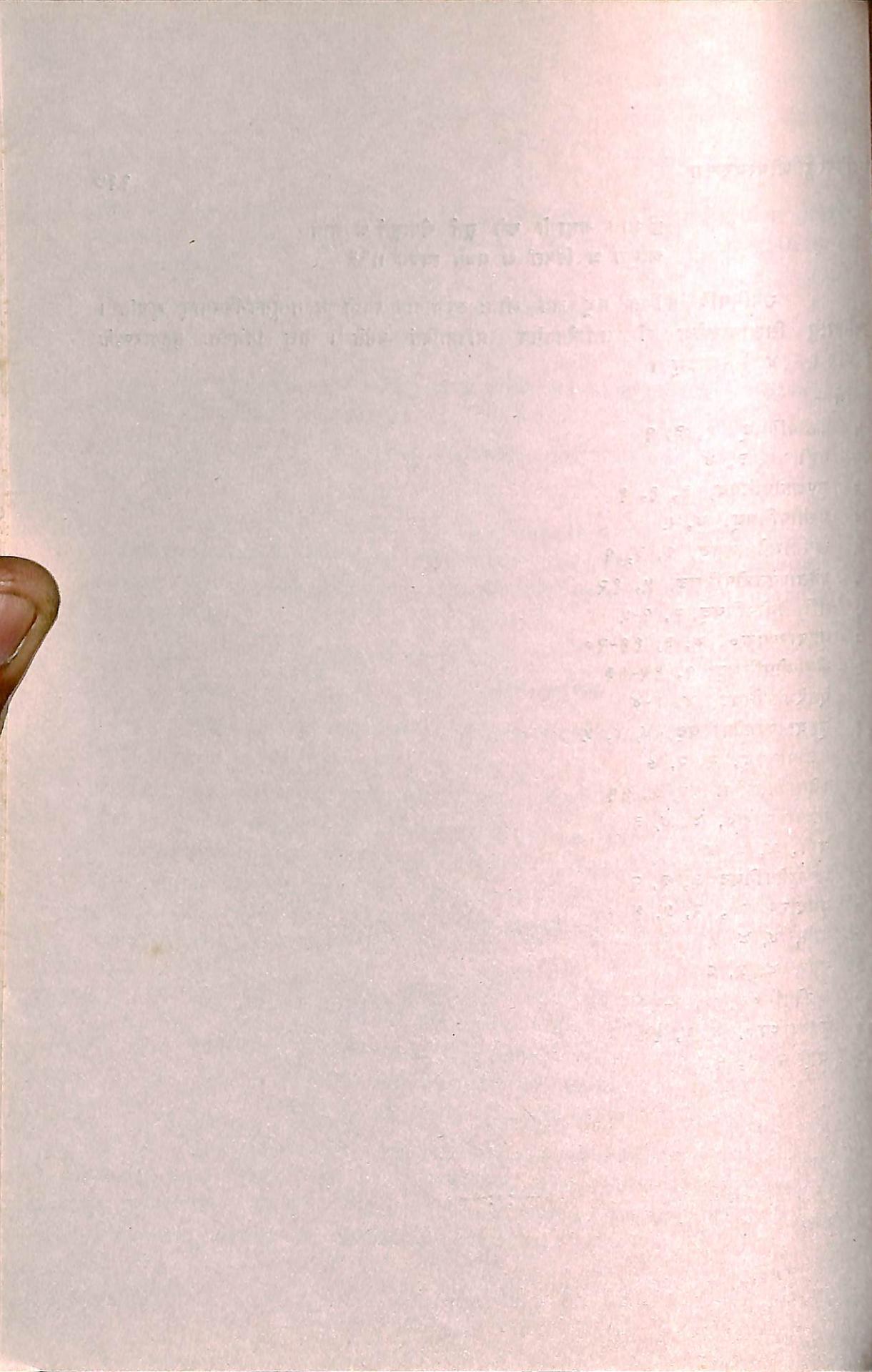
ब्रह्मणो द्वे रूपे भवतः मूर्तम् अमूर्तं च । इदं नश्वरमनश्वरं वा स्थिरम् अस्थिरं वा (यच्च), सत् (स्वलक्षणं) तथा त्यत् (अवर्णनीयं) अस्ति । इदमेव परमात्मेति गीयते । अयं परमात्मा अविद्यायाः कारणेन वन्धनमागत्य जीवात्मा कथयते । पूर्वजन्मनः कर्मानुसारेण सुखदुःख-अस्मिन् संसारे समागच्छति तथा जन्ममरणाभ्यां युक्तो वर्तते—

द्वे दाव ब्रह्मणो रूपे सूर्तं चैवासूर्तं च मत्यं-
चामृतं च स्थितं च यच्च त्यच्च ॥^{२२}

उपनिषदि कथितं यद् अयं जीवः स्वभोगाय स्वन्ने नूतन-नूतन-विषयान् सृजति ।
उपनिषत्सु सिद्धान्तरूपेण जीव्रह्मणीरैक्यमेव प्रतिपादितं वर्तते । तत्तु विशेषतः वृहदारण्यके
(४.३.६-१४) स्पष्टम् ।

सन्दर्भ—

- १ कठोपनिषद्, १, ३, १
- २ वही, १, ३, ४
- ३ मुण्डकोपनिषद्, ३, १, १
- ४ प्रश्नोपनिषद्, ४, ६
- ५ छान्दोग्योपनिषद्, ६, ३, १
- ६ श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५, १२
- ७ तैत्तिरीयोपनिषद्, २, १-५
- ८ वृहदारण्यक०, ४, ३, ११-२०
- ९ कैवल्योपनिषद्; १, १२-१३
- १० ऐतरेयोपनिषद्, ४, १-४
- ११ वृहदारण्यकोपनिषद्, ४, ४, ५
- १२ कठोपनिषद्, २, २, ७
- १३ श्वेताश्वतरोपनिषद् ५, ११
- १४ वृहदारण्यक०, ४, ४, ३
- १५ वही, ४, ४, ४
- १६ मुण्डकोपनिषद् ३, ३, २
- १७ वृहदारण्यक०, २, ५, १
- १८ वही, ४, ४, ५
- १९ वही, ४, ५, ६
- २० कठोपनिषद्, १, २-२२
- २१ वृहदारण्य०, ४, ४, १६
- २२ वही २, ३, १



HUMANISTIC PHILOSOPHY OF RABINDRANATH TAGORE

RITA SINHA

Kurukshtera

I. Introduction

Rabindranath Tagore was a monistic harmonizer. He was profoundly influenced by the philosophies of the Vedas and Upanishads. He was particularly influenced by the concept of indeterminate Brahman of some of the Upanishads, yet he tried to commune with personal God of some of the Upanishads due to his strong inclination towards the bhakti movement which was prevalent in West Bengal during his active literary period. He accepted the Upanishadic idea that pure consciousness permeates human personality, nature and cosmos. That is spirit is the common link between human personality, society and God.

Tagore was profoundly influenced by the Vedic conception of universal culture. According to the Vedas culture is not regional rather it is cosmopolitan. In the Rig Veda there is a strong injunction that person should assemble for a common purpose and confer among themselves with an open mind.¹ There is possibility of unity in society through unity of purpose amongst its individuals. Peace may prevail in the entire human race, if humans work in accordance with the spiritual end in view. In Sama Veda there is a prayer addressed to God so that he may bestow peace on human beings all over the World.² According to Sama Veda peace which is bestowed by God on all human beings fills their minds with devotion towards Him. It frees human beings of their cares and miseries.³ In the Sama Veda prayers are also addressed to God for the welfare and peace for the entire mankind.⁴

II. Humanistic Ideal of Tagore

In Tagore's world view human personality occupies a central position. He has even hinted in one of his poems that he does not wish to have emancipation from human existence, rather, he wishes to experience it and enjoy it fully. He also wishes that all people, irrespective of their age, sex, creed and belief should have a robust outlook on life and enjoy life in all its aspects.

Tagore was particularly influenced by the concept of human dignity which was emphasized by Shri Chaitanya in West Bengal. Shri Chaitanya denounced the evil custom of caste system which was prevalent in India for centuries. He initiated a movement in which all members of the Indian society, irrespective of

their caste differences could participate freely. Tagore was enraptured by the humanistic outlook of Shri Chaitanya.

Tagore was deeply influenced by another cult known as the Baul cult which flourished in West Bengal during his period. The Baul cult lays stress on the equality of all human beings. It lays stress on love and fellowship. It believes that all human beings are like children of God and therefore, they have the liberty to worship God without taking the assistance of priests of the Brahmin caste. the Bauls have a very cosmopolitan outlook on life. That is why Hindus as well as Muslims can freely participate in the Baul celebrations and dance dramas.

Tagore laid stress on harmony between one individual and another, one society and another and mankind and nature. In his view a master plan permeates the universe, nature and human society. This idea was already couched in the Vedas in the form of metaphorical concept of rita. the Vedic conception of rita connotes world order, social order and moral order. In sum, Tagore believed that human unity on the global scale must have a spiritual basis.

III. Tagore's Synthesis between Nationalism and Cosmopolitanism.

Tagore was a passionate lover of Indian culture. He believed that Indian culture must retain its uniqueness despite its integration with the values and norms of other cultures. He was, therefore, deeply agonized when he found that the people of India were subjected to humiliation by foreign rulers. He renounced his knighthood in protest when the British rulers shot down hundreds of innocent patriot in Jalianwala Bagh. He urged that Indians should fight for their political freedom through collective effort. Freedom, in his view is the essential condition for the development of strong nationalism⁵.

Nevertheless, Tagore believed that nationalism ought not to lead to isolationism. He strongly believed in the cultural context between nations. He was of the opinion that cultural co-operation between nations can take place through mutual understanding.

Tagore maintained that nation states ought to contribute their distinctive shares to the world history which aims at human unity on the global scale. His view is very much similar to that of Hegel who said that national histories ought to merge into world history. The merging of national histories is the ethical aim of mankind. Tagore in his poetic vision said that people of the various nations are like children who play in the sea shore of infinity.

IV. Expansion of Consciousness as the basis of Humanism

Tagore accepted the Upanishadic doctrine of the atman. In his view atman or pure consciousness is at the basis of human personality. It is capable of expanding and merging itself with cosmic consciousness which is known as 'Brahman'.

It is desirable, therefore, that every individual ought to raise his consciousness from its lower to its higher plane. An individual can raise his consciousness from lower to higher plane through his aesthetic consciousness, moral vision and cosmopolitan outlook. They can get over their egoism and narrowness through expansion of consciousness. In Tagore's view individuals in a society come close to one another and get integrated into a harmonious community through their expanded consciousness.⁷

In Tagore's view people all over the world can be knit together on the basis of certain commonly accepted moral and rational principles. In his opinion irrationality separates people but rationality brings them together. He hoped, therefore, that unity of mankind is possible through spread of liberal education on the global scale. However, he hoped that liberal education must have its moorings with its cultural and moral traditions. He writes, "Man's world is a moral world, not because we blindly agree to believe it, but because it is so in truth which would be dangerous for us to ignore."⁸

Tagore in his poetic vision believed that God is not above and beyond human society rather he permeates the entire society in the form of divine spirit. The divine spirit may be found in every aspect of nature and society. The realization of the divine in man constitutes the bases of Tagor's religion of man. He writes, "My religion is the religion of man in which the Infinite is defined in humanity."⁹

Tagore believed that every individual be transformed into a super man through his participation in the divine plan in the universe. In this sense Tagore anticipated Shri Aurobindo's conception of the race of super man which is likely to emerge in future. In brief, Tagore's humanism has a religious overtone. Naravane writes, "Tagore's humanism glorifies man as the crown of creation. But even this is only the lower stage of humanism. Tagore does not rest content merely with showing man's paramount status in the scale of creation. He takes

Tagore had faith in the multi-dimensional aspect of human personality. In his view an individual has the potentialities of growing into creative artist with deep moral vision and religious outlook. Cohesion can be established in human society if individuals discard their narrow individualism and nurture their cosmopolitan outlook. Fellow feeling is likely to increase amongst the people all over the world if they nurture and develop artistic, ethical and intellectual potentialities. God can participate with human beings if such a refined society is brought into existence on the global scale. Tagore aptly writes, "I send my salutations to the God of humanity."¹⁰

In sum, Tagore had poet's vision of humanism. He believed that every individual has within him the potentiality of goodness, aesthetic sense and intellectual acumen. He can, therefore, if he so wishes, discard

his narrow individuality and grow into a complete person with multifaceted creative potentiality.

a much bigger leap forward and defines Reality, Truth and even God in terms of humanity.”¹⁰

REFERENCES :

1. Rig Veda, X, 191, II.
2. Sama Veda, 1170.
3. Ibid, 1433.
4. Ibid, 55.
5. Tagore, Rabindranath, *Gitanjali*, (London), pp. 27-28.
6. Ibid., pp. 54-55.
7. Tagore, Rabindranath, *Man*, p. 58.
8. Tagore, Rabindranath, *Nationalism*, p. 32.
9. Tagore Rabindranath, *The Religion of Man*, p. 96.
10. Naravane, V. S., *Modern Indian Thought*, p. 145.
11. Tagore, Rabindranath, *A. Flight of Swans, Poems from Balaka*. p. 114.

प्राचीन भारतीय कृषि-दर्शन

डॉ० सच्चिदानन्द मिश्र

गोरखपुर

वैदिक काल में आर्य जीवन का आर्थिक आधार था कृषि और पशुपालन। कृषि से सस्योत्पादन की तथा पशुओं के वर्त्सोत्पादन की दार्शनिक व्याख्या का स्वरूप तत्कालीन संस्कृति के वैचारिक पक्ष पर प्रकाश डालता है।

उत्पादिका-शक्ति : श्री एवं विराज

सस्योत्पादन और सन्तानोत्पत्ति में व्यक्त उत्पादन-शक्ति को वैदिक साहित्य में अलौकिक माना गया। इस अलौकिक शक्ति को 'श्री' तथा 'विराज' नामों से संबोधित किया गया। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रायः 'श्री' का 'विराज' के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया¹। इनका प्रयोग न केवल उत्कृष्ट, गौरवपूर्ण वैशिष्ट्य तथा ऐश्वर्य जैसे भावों को व्यक्त करने के लिये किया गया है वरन् इन्हें 'अन्न' ही माना गया है²। ऋग्वेद में विराज को अधिपुरुष और सम्पूर्ण विश्व का उत्पादक बताया गया³। अन्यत्र (ऋ० १०.१५६.६ तथा १०.१७५.५) विराट् शब्द का प्रयोग राजत्व प्रदान करने वाली अलौकिक शक्ति के अर्थ में किया गया है। ऋग्वेद (१०/१६६-१) में इन्द्र से प्रार्थना की गयी है कि हे इन्द्र ! मैं समकक्ष व्यक्तियों में श्रेष्ठ होऊँ, शतुओं को पराभूत करूँ, विपक्षियों को मार डालूँ और सर्वश्रेष्ठ होकर मैं अशेष गोधन का अधिकारी बनूँ। स्पष्ट है कि यहाँ विराज शब्द का प्रयोग राजत्व सम्पन्न व्यक्ति के अर्थ में किया गया है। अथर्ववेद (८/६/१०) में 'विराज' शब्द का प्रथम उत्पादक-हेतु कहा गया है। उस अलौकिक शक्ति की परिकल्पना अन्नवाली गाय के रूप में की गयी है। विवस्वान के पुत्र मनु को विराज का बछड़ा, पृथिवी को पात्र तथा वैन्य को दोहक कहा गया है। इस प्रकार उसके दोहन से कृषि और धान्य की उत्पत्ति हुई। इतना ही नहीं वरन् यह भी कहा गया है कि जो इस तथ्य को जानता है उसको कृषि में सिद्धि प्राप्त होती है और वह दूसरे की जीविका का भी निर्वाह करने वाला होता है⁴।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (२-६;-१६-२) तथा शांखायन ब्राह्मण (१६.१०) में कहा गया है कि जो सौत्रामणी से यज्ञ करता है उसको 'श्री', 'प्रजा' और 'विराज' की प्राप्ति होती है। 'विराज' का तादात्म्य भूमि के साथ स्थापित किया गया है⁵। अनेक स्थलों पर 'श्री' और 'प्रजा' का उल्लेख एक ही प्रसंग में किया गया है⁶। शतपथ ब्राह्मण (१.८.३६) में जीवित रहने तथा 'प्रजा' और 'श्री' की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गयी है। इसी प्रकार अन्यत्र यज्ञ में प्रयुक्त पिण्ड (गुथा हुआ आटा) से यज्ञकर्ता के लिये 'प्रजा', 'श्री' और 'अन्न' प्रदान करने की अपेक्षा की गई है⁷। प्रजापति

को यज्ञ में प्रजा, पशु तथा श्री को व्यवस्थित रूप में रखते हुये दिखाया गया है। यहाँ 'श्री' को यज्ञस्वी तथा प्रभूत अन्न वाला बतलाया गया है। ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थ में 'श्री', 'श्रेयस्' और 'श्रेष्ठ' शब्दों का प्रयोग भी प्रायः एक ही प्रसंग में किया गया है। शतपथ ब्राह्मण (११.१; ६.२३) में पृथ्वी को 'श्री' तथा उसके अधिकतम प्राप्त करने वाले को श्रेष्ठ कहा गया है। अत एव आरण्यक में हमें एक रोचक प्रसंग का उल्लेख मिलता है, जहाँ कहा गया है कि हमें 'श्री' की निन्दा नहीं करनी चाहिये क्योंकि श्रेयस् की निन्दा अनुचित है^८।

जै० खोन्दा का मत है कि 'श्री' शब्द शुनासीर नाम से सम्बद्ध है^९। पारस्करण्य-सूत्र (२.१७.६) में सीता-यज्ञ के प्रसंग में सम्पत्ति, भूति, वृष्टि, ज्येष्ठ्य श्रेष्ठ्य श्रीर प्रजा के साथ ही 'श्री' की भी प्रार्थना की गई है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह यज्ञ धान्य अथवा यव के जोते हुये खेत में सम्पन्न किया जाता था। यहाँ इस बात का ध्यान रखा जाता था कि फसल क्षतिग्रस्त न होने पावें^{१०}। 'श्री' के विविध अंगों से विभिन्न पौधों की उत्पत्ति हुई। धान्य की उत्पत्ति उसकी नामि से हुई।^{११}

श्री एवं कलश

प्राचीन भारतीय साहित्य तथा कला में 'पूर्ण-कलश' को उत्पादिका-शक्ति 'श्री' (लक्ष्मी) के प्रतीक के रूप में चिह्नित किया गया है। पूर्ण-कलश के अनेक प्रथायिवाची शब्दों यथा पूर्ण-घट, पूर्ण-कुम्भ, मंडल-कलश, भद्र-घट तथा चन्दन कलश आदि का उल्लेख हमें संस्कृत-साहित्य में मिलता है। इसे परिपूर्णता, समृद्धि तथा ऐश्वर्य आदि का प्रतीक माना गया है^{१२}।

'आपूर्णोऽस्य कलशः स्वाहा सेत्ते वकोशं सिसिचे पिवध्यै'

"समु प्रिया आववृत्तन्पदाय प्रदशिक्षणिदर्भि सोमास इन्द्रम्" ॥

(ऋ० ३.३२.१५) में यजमान के कलश को आपूर्ण बताया गया है तथा कहा गया है कि जैसे जल सेचक जल-पात्र से जल-सेचन करता है वैसे ही मैं आप लोगों के पानार्थ सोम का सेवन करता हूँ। सोम-पानार्थ ही यहाँ 'स्वाहा' शब्द का उल्लेख किया गया है। यहाँ पूर्ण कलश का चित्रण यजमान के नियंत्रण में स्थित प्रभूत दैवी-उपहार के रूप में किया गया है जो वैभव की समग्रता का द्योतक है। कलश-स्थित तरल पदार्थ कलश के पान-पात्र में संतोष के लिए प्रवाहित होता है^{१३}। सोम के निचोड़ने और उसके संचय के प्रसंग में कलश के अनेक उल्लेख हमें ऋग्वेद से प्राप्त होते हैं। जिस जिस पात्र में सोम-संचय किया जाता था उसे सोमधान की संज्ञा दी जाती थी^{१४}। "दश ते कलशानो हिरण्यानानधीमहि । भूरिदा असि वृत्रहन्"। ऋग्वेद (४.३२.१६) में हिरण्यमय कलश की चर्चा की गयी है तथा अन्यत्र शुभ कलश दुर्घट से परिपूर्ण तथा दीप्तिमान तरल पदार्थ से आपिष्यान कहा गया है। प्रचुरता तथा ऐश्वर्य के प्रतीक के रूप में पूर्ण-कुम्भ का उल्लेख अथर्ववेद के शाला-सूक्त में भी किया गया है। (अथर्ववेद, ३.१२.८) में कहा गया है कि 'हे स्त्री ! इस पूर्ण-कलश को तथा अमृत से भरी हुई धारा को अच्छी प्रकार भर कर लाओ। यीने वाले को अमृत से अच्छी प्रकार भर दो। यज्ञ और अन्नदान इस शाला की रक्षा करते हैं। भारतीय धार्मिक विचार-धारा में मानव-शरीर की अवधारणा पूर्ण-घट के रूप में अद्यावधि प्रचलित है और लोग दैवी-शक्ति को 'घट-घट' व्यक्त मानते हैं। इसीलिये प्रत्येक मांगलिक पर्व पर पूर्ण-घट को द्वार तथा वैवाहिक संस्कार के समय मंडप में स्थापित कर मानव-शरीर किंवा सम्पूर्ण संसार के प्रतीक के रूप में उसकी उपासना

की जाती है। घट की प्रशंसा में उच्चरित होने वाले मंत्रों के माध्यम से यह भाव व्यक्त किया जाता है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव क्रमशः मंगल-कलश के अधोभाग, उदर और मूख में निवास करते हैं^{१५}। पूर्ण-कलश को प्रसवन-शक्ति का भी प्रतीक माना गया है^{१६}।

उत्पादिका शक्ति श्री लक्ष्मी के प्रतीक के रूप में पूर्ण घट का प्राचीनतम अंकन हमें भारतीय कला में भरहुत तथा सांची से प्राप्त होता है। श्री-लक्ष्मी का चित्रण तीन प्रकार से किया गया है - (१) लक्ष्मी को कमल पर आसीन दिखाया गया है। (२) वही, किन्तु इसमें कमल को पूर्ण घट से निकलते हुये दिखाया गया है। (३) एकाकी पूर्ण-घट जिसमें कमल के पुष्प तथा पूर्ण-समुदाय को निकलते हुये दिखाया गया है^{१७}। कुमारस्वामी ने इन सबको आपाततः एक दूसरे के समान, पर्यायिवाची तथा प्रचुरता का प्रतीक माना है। उनके अनुसार केवल पूर्ण-घट को श्री-लक्ष्मी का प्रतीक अथवा उसके समान मानना चाहिये^{१८}। जमालपुर (मथुरा) से प्राप्त होने वाले एकाकी स्तम्भ के अग्रभाग पर श्री लक्ष्मी को 'दुर्ग-धारणी' मुद्रा में गोलाकार पात्र से निकलते हुये कमल पर खड़ी दिखाया गया है। वहीं इसके पृष्ठ भाग पर पुष्पों, कलियों तथा पत्रों से युक्त कमल-पौध को निकलते हुये दिखाया गया है, जो वस्तुतः सस्योत्पादन के प्रतीक हैं। अतः यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा समीचीन होगा कि वस्तुतः सस्योत्पादन को ही श्री लक्ष्मी की मान्यता प्रदान की गई।

'श्री' को हम न केवल सस्योत्पादन वरन् पशुओं से भी सम्बद्ध देखते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् (१.४.२) में 'श्री' को 'लोमशा'-बालवाली अथवा ऊनवाली कहा गया है (जिसका तात्पर्य भेड़ अथवा ऊनवाले अन्य पशुओं से संयुक्त होना है) तथा उससे अतिशीघ्र ही वस्त्र, गाय और खाद्य-पेय पदार्थ प्रदान करने की प्रार्थना की गई है^{१९}।

सस्योत्पादन और सन्तानोत्पादन : पृथिवी तथा स्त्री

सस्योत्पादन तथा सन्तानोत्पादन की प्रक्रिया की एकरूपता के कारण भूमि और स्त्री में तादात्म्य स्थापित किया गया है ----

'यथेऽपि पृथिवी महद्युताना गर्भमा दधे ।

एवं तं गर्भमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥

विष्णोः श्रेष्ठयेन रूपेणास्यां नार्यां गवीन्याम् ।

पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ ऋ० खि० ४.१३.२-३

अर्थात् जिस प्रकार यह पृथिवी अपने को विस्तृत कर गर्भ धारण करती है उसी प्रकार विष्णु की श्रेष्ठता और रूप के साथ इस नारी में, दशवें महीने में उत्पन्न होने वाले गर्भ को स्थापित करो। यह द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त ऋचा में नारी को न केवल भूमि के सदृश बतलाया गया है वरन् उसको 'गवीनी' भी कहा गया है। ऋग्वेद की अन्य ऋचा (१०.१०२.२) में भी भूमि और स्त्री का तादात्म्य दृष्टिगत होता है। डांगे का मत है कि उपर्युक्त ऋचा में कृषि-कर्म-कल्प और सृजन-कल्प का भाव निहित है^{२०}। इसमें एक ही स्त्री को मुद्गलानी और इन्द्रसेन-(इन्द्राणी) के रूप में हलालूढ़ चित्रित किया गया है। यहां पृथिवी को मुद्गलानी और इन्द्रसेन कहा गया है। वस्त्रों को हटा देने पर मुद्गलानी की स्थिति नग्न स्त्री के समान हो जायेगी। इसके सादृश्य हमें कृषि-कर्म-कल्प में भी मिलते हैं^{२१}। अर्थर्ववेद (१०.६.३३) में भूमि और स्त्री में समानता दिखाई गई है —

'यथा बीजमुर्वायां कृष्टे फालेन रोहति ।

एवामयि प्रजा पश्वोऽन्तमन्तं वि रोहति' ॥

भूमि से सस्योत्पादन और स्त्री से सन्तानोत्पत्ति के मध्य स्थापित यह तादात्म्य संस्कृत के 'क्षेत्र' शब्द से और भी स्पष्ट होता है। क्षेत्र शब्द का तात्पर्य भूमि, प्रसवन-शक्ति-सम्पन्न गर्भ तथा स्त्री से है^{२३}। परवर्ती धर्म शास्त्रकारों ने सम्भवतः भूमि और स्त्री के इसी सादृश्य के कारण क्षेत्रज (पुत्र) की भूमि और स्त्री का तादात्म्य न केवल मनोवैज्ञानिक है वरन् इसके पीछे आनुष्ठानिक एवं व्यावहारिक आवार भी हैं। इसलिये विवाह-संस्कार के समय सम्पन्न होने वाले प्रतीकात्मक अथवा वास्तविक हल जोतने तथा धान्य का विशेष महत्व है^{२४}। मानव गृह्य-सूत्र (१.१२.१-७) के अनुसार वर पहले साही के काँटे से अथवा दर्म धास से वबू के बालों को संवार कर उसकी बेणी को जीवित भेड़ा के बालों से निर्मित ऊन से अभिषिक्त करता है। इस कल्प के अनन्तर वधू के सिर पर अन्न ढाला जाता है।

लांगल

भूमि के जोतने से निर्मित होने वाली लीक को भूमि का उदर अथवा नारी की योनि माना गया है। इसीलिये भूमि को जोतने तथा स्त्री के साथ संमोग करने की प्रक्रिया में तादात्म्य स्थापित किया गया है^{२५}। इस प्रसंग में संस्कृत भाषा के 'हल' और 'शिष्ट' अत्यधिक रोचक हैं। खोन्दा महोदय का मत है कि 'लांगल' शब्द का मौलिक अर्थ गदा अथवा मुग्दर से सम्बद्ध प्रतीत होता है। यहां यह ध्यातव्य है कि हल का प्रारम्भिक रूप तीक्ष्णाग्रदण्ड के समान था। इसी प्रकार शिष्टन के अर्थ-बोधक शब्दों का विकास दण्ड, डंठल, गदा अथवा इसी प्रकार के तीक्ष्णाग्र-दण्ड जैसे पदार्थों से हुआ है तथा मैथुन-कार्य को प्रायः ऐसे क्रिया-शब्दों से अभिहित किया जाता है। जिसका अर्थ घक्का देना, छेदना, घुसेड़ना, गाड़ना, आघात करना अथवा खुरेचना आदि होता है^{२६}।

शिप्र

ऋग्वेद में प्रयुक्त 'शिप्र' शब्द का अध्ययन अत्यन्त रोचक है। विद्वानों ने उनके अनेक अर्थ यथा मूळ, ओष्ठ, कपोल, नासिका, चिवुक और यहां तक कि शिरस्त्राण का भी बोधक बतलाया है। उपर्युक्त विभिन्न अर्थों के आवार पर डांगे महोदय ने जहां एक और इस शब्द को दुर्बोध्य कहा है वहीं दूसरी ओर ऋग्वेद के अनेक प्रासंगिक उद्धरणों के आवार पर इसको प्रयुक्त का समानार्थक सिद्ध करने की चेष्टा की है। ऋग्वेद (१०.९६.६) में 'शिप्र' को स्वर्णमयी कहकर इसकी तुलना यज्ञीय स्रुवा से की गयी है जिसका प्रयोग अग्नि में आहुति डालने के लिये अत्यन्त सरलता और शीघ्रता के साथ किया जाता है। यहां शिप्र का रूप भी स्रुवा की मांति लम्बा प्रतीत होता है। सायण के अनुसार शिप्र शब्द का 'जबड़ा' अर्थ इस प्रसंग में उपयुक्त नहीं लगता क्योंकि मनुष्य का जबड़ा प्रथमतः स्थिर होता है और दूसरे वह स्रुवा की मांति लम्बा भी नहीं होता है जिसका प्रयोग उसको घुमाकर अति शीघ्रता के साथ किया जा सके। इतना ही नहीं वरन् उपर्युक्त ऋचा में शिप्र की तुलना स्रुवा के साथ इस अर्थ में की गई है कि जैसे स्रुवा से अग्नि में आहुति डाली जाती है वैसे ही शिप्र से इन्द्र के मुंह में सोम उड़ेला जाता है। वह स्वतंत्र रूप कोई अलग खोखला पदार्थ है जिसका प्रयोग सोमरस पान करने के लिये किया जाता है और वह कभी-कभी स्वर्णमय भी होता है जिसे इन्द्र के सिर पर स्थापित किया जाता है तथा आवश्यकता पड़ने पर इन्द्र से उठा कर शीघ्रता के साथ उसका प्रयोग सोमरस पान के लिये जाता है।

ऋग्वेद (८.७.२५) में 'शिप्रे' अथवा शिप्राः शब्दों का प्रयोग बहुवचन के रूप में मरुतों के

प्रसंग में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिप्र को शिरोवस्त्र के साथ सम्बद्ध कर दिया जाता था और कभी-कभी सोमपानार्थ उनको वहाँ से वियुक्त कर दिया जाता था जैसा कि 'विष्वस्त्र शिप्रे विसृशस्त्र वेने' (ऋ० १.१०१.१०) से स्पष्ट होता है। इन्द्र से 'शिप्र' को भर कर सोमरस के पान करने की प्रार्थना में 'शिप्र' के खोखला होने का भाव स्पष्ट होता। इस प्रकार शिप्र का अर्थ शृंग होना अधिक समीचीन प्रतीत होता है ग्रोष्ठ अथवा जबड़ा नहीं।²⁷ अन्यत्र जहाँ वृत्र को 'विशि शिप्र' कहा गया है वहाँ भी उसका अर्थ वृषभ-ओष्ठ धारण करने वाला न होकर वृषभशृंग धारण करने वाला है। यहाँ ध्यातव्य है कि वैदिक देवताओं के स्वर्णमयी-शृंग के विपरीत वृत्र को 'वृषभ-शृंग-धारी' कहा गया है जो स्वजनों में उनके गौरव का परिचायक है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'विशि-शिप्र' तथा 'वृष-शिप्र' का उल्लेख देवताओं के प्रसंग में नहीं किया गया है। शिप्र-धारण शक्ति और गौरव का परिचायक था जो इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि सभी देवताओं को शिप्र धारण करते हुए नहीं दिखाया गया है। जहाँ इन्द्र के प्रसंग में इसका उल्लेख बहुलता के साथ किया गया है वहीं मरुतों के प्रसंग में केवल तीन बार (ऋ० ५.५४.११ ; ८.७.२५ और २.३४.३), अग्नि के साथ दो बार (ऋ० २.२.५ और ५.२२.४) तथा ऋ० ८.६६.१६ में अग्नि अथवा इन्द्र के साथ किया गया है। रुद्र के साथ तो केवल एक बार (ऋ० २.३३.५) ही किया गया है।²⁸

सस्योत्पादन : देवी तथा अंकुरार्पण

सस्योत्पादन के प्रसंग में सीता नामक देवी का महत्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद में वरदान एवं सस्य की प्राप्ति के लिए उसकी स्तुति की गयी है -

'अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा ।

यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि'। (ऋ० ४.५७.६)

विभिन्न गृह्य-सूत्रों में सीता सम्बन्धी अनुष्ठानों का विशद वर्णन किया गया है। पारस्कर गृह्यसूत्र (२.१७) के अनुसार क्षेत्र के पूर्वी या उत्तरी भाग के किसी पवित्र एवं जोते हुये स्थल पर जहाँ फसल की क्षति न हो, अग्नि को प्रज्ज्वलित किया जाता है। तदनन्तर धान्य अथवा यव में मिले हुये दर्भ घास को उसके चतुर्दिक् विश्वेरा जाता है। इसके बाद इन्द्र, सीता एवं उवरा के लिये घृत की आहुति दी जाती है। विश्वेरे जाने के बाद वन्ने हुये कुश घास पर विभिन्न दिशाओं में स्थित सीता के अभिरक्षकों के लिये आहुति दी जाती है।²⁹ गोमिल गृह्य-सूत्र (४.४.२८ff.) के अनुसार कर्णण-कार्य के प्रारम्भ होने पर सीता को आहुति में उसका श्रंश प्राप्त होता है। अन्य गृह्य-सूत्रों के अनुसार हल के नद्द होने के साथ ही कर्णण-यनुष्ठान ओपचारिक रूप से पूर्ण हो जाता है। कर्णण के पूर्व क्षेत्र के पूर्वी भाग में आकाश एवं पृथिवी के प्रति आहुति अपित की जाती है। इस प्रसंग में जिन देवों के प्रति आहुतियाँ अपित की जाती हैं उनमें इन्द्र, पर्जन्य, अग्निः, मरुतों, उद्लाकाशयप, स्वातिकारी, सीता तथा अनुमति आदि के नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। इसी प्राज्ञार लीक, खलिहान, वीज-वपन, फसल काटने तथा गहाई के समय सम्बन्ध किये जाने वाले अनुष्ठानों का वर्णन गृह्य-सूत्रों में मिलता है।³⁰ इतना ही नहीं वरन् मूषकों से फसल की रक्षा के लिये मूषक-राज के प्रति आहुति अपित करने का भी उल्लेख मिलता है।³¹

सारांश में यह कहा जा सकता है कि पशुपालन के प्रसंग में वत्सोत्पादन और कृषि-कर्म के प्रसंग में सस्योत्पादन का वैदिक आर्यों के जीवन में अत्यधिक महत्व था। इन दोनों की उत्पादन-शक्ति को रहस्यात्मक परिवेश में दिव्य परिधान दिया गया। विराज, श्री, पूर्णकलश, भूरिशृङ्ग

आदि उसके प्रतीक थे। पुनः वत्सोत्पादन और सस्योत्पादन की शक्ति और प्रक्रिया की सन्तानोत्पत्ति की पृष्ठभूमि में व्याख्या की गई।

सन्दर्भ —

- १ गोपथ ब्राह्मण, १. ५. ४; शतपथ ब्रा०, ११. ४. ३. ८; शांखायन ब्रा०, १. १. १४. २; १६. ३
- २ गोपथ ब्राह्मण, १. ५. २०; शतपथ ब्रा०, ८. ३. २. १८; ऐतरेय ब्रा०, ४. ११. १८
- ३ ऋग्वेद, १०. ६०. ५
- ४ अथर्ववेद, ८. १०. २४
- ५ शतपथ ब्रह्मण, १२. ६. १. ४०
- ६ वही, २. ३. १. १३
- ७ वही, १२, ४. १. ११
- ८ ऐतरेयारण्यक, ५. २२. ५
- ९ आस्पेक्ट्स आफ अर्ली विष्णुइज्म, पृ० १८५
- १० वही, पृ० २१६
- ११ ए० लेवी : संस्कृत टेक्स्ट्स फ्राम बाली, पृ० २८
- १२ वी० यस० अग्रवाल : स्टडीज इन इण्डियन आर्ट्स, पृ० ४३
- १३ वही।
- १४ ऋग्वेद, ६. ६७. ३३
- १५ वी० यस० अग्रवाल : रूपलेख २२, संख्या १, पृ० २३-२४
- १६ वही।
- १७ ए० के० कुमारस्वामी : यक्ष, द्वितीय भाग, पृ० ६१
- १८ वही।
- १९ पी० के० अग्रवाल : दी पूर्ण कलश, पृ० १२
- २० शांखायन ब्राह्मण, २१. ५
- २१ एम० ए० डांगे, पेस्टोरल सिम्बालिज्म फ्राम दि ऋग्वेद, पृ० ६८
- २२ वहीं पर उद्धृत
- २३ आस्पेक्ट्स आफ अर्ली विष्णुइज्म, पृ० १३३
- २४ पेस्टोरल सिम्बालिज्म फ्राम दि ऋग्वेद, पृ० ७८
- २५ आस्पेक्ट्स आफ अर्ली विष्णुइज्म, पृ० १३३
- २६ वही, पृ० १३४
- २७ पेस्टोरल सिम्बालिज्म फ्राम दि ऋग्वेद, पृ० १११
- २८ वही।
- २९ यहां मानव गृह्यसूत्र २. १०. ७ तुलनीय है
- ३० शांखायन गृह्य सूत्र, ४. १३; पारस्कर गृ० सू०, २. १३ तथा कौशीतकी सूत्र, १५
- ३१ ए० वी० कीथ : रेलिजन एण्ड फिलोसोफी आफ दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स, पृ० ३६५
- ३२ वही

संस्कृत गद्य का आदिरूप-वैदिक गद्य

डॉ० कृष्ण लाल
दिल्ली

जिस प्रकार सभी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक तत्त्वों की आधारभूमि के रूप में वैदिक वाड़मय को स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार संस्कृत गद्य का आधार अथवा आद्यरूप भी वेद में ही प्राप्त होना अत्यन्त स्वाभाविक है। यह निश्चित है कि आराध्य की स्तुति तथा अर्चना प्रायः छन्दोबद्ध लयात्मक रचना द्वारा की जाती है, इसीलिये अर्चना के सर्वप्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद में पद्यात्मक रचना ही उपलब्ध होती है। परन्तु सामान्य दैनन्दिन जीवनचर्या तथा उसकी भाषा में विशेष लयात्मकता होते हुए भी वह गद्यात्मक ही होती है। निश्चित ही पद्यात्मक प्रयोग के लिये विशेष दक्षता तथा अभ्यास अपेक्षित होते हैं। वेद समग्ररूप में पूर्णता को समेटे हुए हैं, अतः दैनन्दिन जीवन की सामान्य भाषा का यह पक्ष भी उनमें अस्पृष्ट नहीं है।

गद्य के प्रथम उदाहरण शुक्ल यजुर्बेद के मन्त्रों अथवा यजुष्सूत्रों (यजुष्-सूत्रों) में प्राप्त होते हैं। यहाँ यजुष्-सूत्र शब्द के प्रयोग से परवर्ती सूत्रों का भ्रम नहीं होना चाहिये। यजुष्-सूत्रों का सूत्रत्व इसी बात में है कि अनेक स्थलों पर ये वाक्य के सभी तत्त्वों से परिपूर्ण नहीं होते। इनकी परिपूर्णता के निमित्त अध्याहार अथवा कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है। कहना न होगा कि यही इनके अर्थवैविध्य का हेतु बनता है। उदाहरणार्थ वाजसनेयि-संहिता के प्रथम मन्त्र के निम्नलिखित अंश द्रष्टव्य हैं :—

- (क) इषे त्वा ऊर्जे त्वा (इच्छा के लिये तुझे, बल के लिये तुझे)
- (ख) वायवःस्थ, (तुम वायु हो)
- (ग) देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे, (सर्वप्रेरक देवता तुम्हें श्रेष्ठतम कर्म के लिए प्रेरित करे)
- (घ) यजमानस्य पशून् पाहि (यजमान के पशुओं की रक्षा करो)

इन सभी में कोई सम्बोधनपद न होने के कारण (क) और (ग) में तो क्रिया के कर्म का बोध नहीं होता और (ख) तथा (घ) में कर्ता का बोध नहीं होता। (क) के त्वा (तुम) तथा (ग) के वः (तुम्हें) का बोध नहीं होता कि वे कौन हैं। इसी प्रकार यह बोध नहीं होता कि (ख) में वायु कौन है और (घ) में रक्षा कौन करे। प्रसङ्ग भी यहाँ सहायक नहीं हो सकता क्योंकि यह संहिता का प्रथम मन्त्र है। वास्तव में मन्त्रों में इस प्रकार के प्रयोग बहुधा होते हैं जो अध्येता को चिन्तन-मनन के लिये प्रेरित करते हैं।

किन्तु पूर्ण वाक्यरूप गद्य के उदाहरण भी शुक्ल यजुर्वेद में कम नहीं हैं। उदाहरणार्थ व्रतपालक सबके नायक परमेश्वर के साक्ष्य में व्रतपालन तथा सत्याचरण का सङ्कल्प लिया गया है :-

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ (वा० सं० १/५)

कोई अलङ्कार नहीं, कोई जटिल प्रयोग नहीं। सङ्कल्प व्यक्त करने के लिये अत्यन्त अनुकूल सुवोव छोटे वाक्य इस गद्य की विशेषता है।

इस वेद के निम्नलिखित गद्य के उदाहरण में अद्भुत लयात्मकता भी विद्यमान है :-

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इष्वव्योऽतिव्याधो महारथो
जायतां दोग्ध्री धेनुर्वैर्दाऽऽङ्गतानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योवा जिष्णु रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य
वीरो जायतां निकामे निकामे नः पञ्च्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः
कल्पताम् ॥ (वा० सं० २२/२२)

सब और हे ब्रह्म ! ब्राह्मण ब्रह्मतेज से युक्त जन्म ले,
सब और राष्ट्र में क्षत्रिय, वीर, वाण में कुशल,
(शत्रु को) अत्यविक विद्धि करने वाला महारथी जन्म ले,
दुधारू गाय सवत्सा, वाहक वैल, द्रुतगामी घोड़ा (हो),
समृद्धियुक्त नारी, विजयी (जन) रथ पर सुस्थित,
सम्य, युवा इस यजमान का वीर (पुत्र) ले जन्म,
इच्छा के अनुकूल हमारी मेघ वृष्टि (सदा) दे,
फलवती हमारी श्रीषधियां पकें (निरन्तर),
(विविधवस्तु की) प्राप्ति-रक्षा हमारी बनी रहे ॥

किसी भी राष्ट्र की सर्वविधि पूर्ण समृद्धि के लिये यह एक आदर्श प्रारंभना है। उपर्युक्त और क्रिया में व्यवधान रूप वैदिक प्रयोग इस गद्यांश में भी सुस्पष्ट है।

शुक्ल यजुर्वेद के उपर्युक्त सभी उदाहरणों में यद्यपि अलङ्कृत गद्य के दर्शन नहीं होते तथापि यह एक विशेष उदात्तता लिये हुए है।

कृष्ण यजुर्वेद के गद्य की अपनी विशेषता है, क्योंकि इसमें मन्त्रांश और ब्राह्मण अंश मिश्रित है। कृष्ण यजुर्वेद के गद्य के उदाहरण के लिये तैत्तिरीय संहिता को ही लिया जा सकता है क्योंकि अन्य मैत्रायणी, काठक तथा कृष्णिष्ठल कठ संहिताओं की गद्यशैली प्रायः उसके समान है।

विद्यानात्मकता तै० सं० के गद्य का विशेष गुण है किन्तु फिर भी यह दुरुह नहीं है। कुछ किसी को समझाते समय कुछ शब्दों की बार-बार आवृत्ति देखी जाती है। उसी प्रकार तै० सं० में भी वै, एव जैसे बलाधायक शब्दों का बार-बार प्रयोग हुया है। इस प्रकार इस भाषा में सजीवता और विशदता आ गई है। दीर्घ समासों का अभाव इसमें और अधिक सहायक है। लौकिक गद्य की तुलना में इस गद्य में लट्टकार तथा तोः (तोसुन्) में अन्त होने वाले तुमर्थक प्रयोग विशेष हैं। निस्सन्देह वाक्यरचना में विविधता का अभाव है। सम्भवतया इसका कारण विद्यानात्मकता है।

प्रायः छोटे-छोटे आश्रित वाक्यों की एक शृङ्खला प्राप्त होती है। उन सबकी अपनी पृथक् क्रिया होती है। सबके अन्त में सभी उपवाक्यों का सामूहिक निष्कर्ष अथवा वक्तव्य निहित होता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अंश द्रष्टव्य है :—

चतुष्टोमः स्तोमो भवति सरड्ड वा अश्वस्य सवध्याऽवहृत् ।
तद्देवाश्चतुष्टोमेनैव प्रत्यद्धर्यचतुष्टोमः स्तोमो भवत्यश्वस्य सर्वत्वाय ॥
(तै० सं० ५/३/१२/३)

बहुत बार तै० सं० का गद्य, मन्त्रों की व्याख्या के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। निस्सन्देह यह व्याख्या कर्मकाण्डीय ही है। परन्तु उसमें एक विशेष बल और स्पष्टता दृष्टिगोचर होती है। विद्यानात्मकता की गन्ध से यह व्याख्या भी पूर्णतया मुक्त नहीं है। उदाहरणार्थ— तै० सं० ३/३/८/१ में निम्नलिखित मन्त्र निर्दिष्ट है :—

यत् कुसीदमप्रतीतां मयि येन यमस्य बलिना चरामि ।
इहैव सन् निरवदये तदेतत् तदने अनूणो भवामि ॥

(मुझ पर जो क्रृण है, जो उतारा नहीं गया, यम के जिस बलिष्ठ क्रृण के साथ मैं चल रहा हूँ अर्थात् जीवित हूँ, हे अग्नि, यहां होता हुआ ही इस क्रृण को मैं उतारता हूँ और तब उक्त क्रृण होता हूँ ।) इसकी व्याख्या आगे तै० सं० ३/३/८/३-४ में इन शब्दों में की गई है :—

अग्निर्वाव यम इयं यमी कुसीदं वा एतद् यमस्य यजमान आ दत्ते यदोषधीभिर्वेदि
स्तृणाति यदनुपौष्य प्रयायाद् ग्रीवबद्धमेनममुहिमंत्लोके नेतीयेरन् यत् कुसीदमप्रतीतां मयोत्युपौषतीहैव
सन् यमं कुसीदं निरवदायानृणः सुवर्गं लोकमेति ॥

(अग्नि यम है और यह (पृथकी) यमी, यजमान जो वेदि पर श्रोषित्यां घास आदि विद्धाता है, वह यम का क्रृण लेता है। यदि वह (उन्हें) बिना जलाये चला जाय तो ग्रीवा से बांधे हुये इसे परलोक में घकेल कर ले जायें, (अतः) वह “जो मुझपर न उतारा गया क्रृण है” इन शब्दों से यहां होता हुआ उन्हें जला देता है और यम का क्रृण उतार कर उक्त क्रृण होकर स्वर्ग लोक को जाता है ।)

अनेकानेक विशेषण लगाकर दीर्घसमाप्तयुक्त शब्दों के प्रयोग के स्थान पर तै० सं० में अनेक छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा कथ्य को स्पष्ट किया गया है। इन आश्रित उपवाक्यों की विशेषता यह है कि इनमें उद्देश्य को उपवाक्य बनाकर वाक्य के अन्त में रखा जाता है और विधेय से वाक्य-प्रारम्भ किया जाता है। उदाहरणार्थ— ब्रह्मण एतद्वप्य यत् कृष्णाजिनम् (५/४/४/४) (जो कृष्णा-जिन है, यह ब्रह्मा का रूप है ।)

कीथ महोदय के अनुसार बहुत बार उद्देश्य और विधेय के पौर्वापर्य-परिवर्तन से कुछ दुर्बोधता भी आ जाती है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित वाक्य (तै० सं० ५/४/४/३) द्रष्टव्य है :—

यो वा अग्निं चितं प्रथमः पशुरधिकामतीश्वरो वैतं शुचा प्रदहः ॥

(जो प्रथम पशु निश्चित ही चित (व्यवस्थित) अग्नि का आरोहण करता है, उसे वह अपने प्रकाश से जलाने में समर्थ है ।)

यहां 'अग्नि' पहले आने से दुर्वैधता उत्पन्न हुई है। वास्तव में एक विशेष क्रम अर्थ-बोध में सहायक होता है, तथापि संस्कृत की प्रकृति के अनुसार प्रत्येक पद (सविभक्तिक शब्द) का अपना अर्थ निश्चित होने के कारण इतनी समस्या का विषय नहीं है।

कहीं-कहीं कोई उपमा भी दिखाई देती है। उदाहरणार्थ— तै० सं० ५/३/१०/१ में संयानी नामक इष्टिकाओं के सम्बन्ध में जहां यह वताया गया है कि देवता संयानी इष्टिकाओं के द्वारा इन लोकों तक पहुँच गये, वहां इस तथ्य को जल को नाव से पार करने की उपमा द्वारा स्पष्ट किया गया है। एक अन्य स्थान पर (तै० सं० ७/५/८/५) वताया गया है कि यजमान सब प्रजाओं में उसी प्रकार उत्तम या उठे होते हैं जैसे कोई सुन्दर उड़ान वाला पक्षी उड़ने को उच्यत होता हुआ सिर ऊपर उठाता है। इस उपमा में सूक्ष्म निरीक्षण द्रष्टव्य है और इसी आवार पर इसमें स्वभाविक्ति का सङ्क्षर मानना उचित नहीं होगा। वहीं आगे चल कर (तै० सं० ५/३/१०/२) रूपक का प्रयोग करते हुये संयानी इष्टिकाओं को अग्नि की नौका बताया है। इस प्रकार के रूपकों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, यथा (तै० सं० ६/४/११/४) 'जो आग्रहण है, वह यज्ञ की अत्मा है,' 'जो दो अतिरात्र हैं, ये यज्ञ की दो आखें हैं, दो अग्निष्ठोम उसकी पुतलियां हैं (तै० सं० ७/२/६/१) इत्यादि ।

वस्तुतः तै० सं० का गद्य अधिकतर उसके ब्राह्मणांश में विद्यमान है और इस ब्राह्मणांश का ब्राह्मणग्रन्थों से साम्य होना अत्यन्त स्वाभाविक है। मन्त्रांश में जो गद्य है उसमें अधिकांश स्वाहान्त यजुष् वाक्य हैं, या फिर वे वाक्य हैं जिनमें अन्य मन्त्रों को प्रतीक-रूप में उद्वृत करके उनका विनियोग बताया गया है। वस्तुतः ऐसे वाक्यों को भी शुद्ध मन्त्रमात्र न मानकर यन्त्रानुस्यूत ब्राह्मण अंश कहना ही अधिक उपयुक्त होगा ।

इसके साथ ही ब्राह्मणों के गद्य पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि वह गद्य भी उपरिलिखित उदाहरणों से बहुत मिल नहीं है। विधि, अर्थवाद और आख्यान रूप ब्राह्मणों का स्वरूप बहुत स्पष्ट है। यह स्वरूप प्रायः सभी शाखाओं के ब्राह्मणों में समानतया प्रायः अभिन्न ही है।

ब्राह्मणग्रन्थों का उद्देश्य अन्य कर्मकाण्ड के वर्णन के अतिरिक्त यज्ञसम्बन्धी अथवा मन्त्रगत शब्दों का स्पष्टीकरण भी है। इसकी पूर्ति के लिये प्रायः निर्वचनों का आश्रय लिया गया है और बहुत बार निर्वचन के प्रसङ्ग में कोई आख्यान भी दिया जाता है। उदाहरणार्थ—ऐ० ब्रा० १२/७ में धाय्या के निर्वचन के प्रसङ्ग में निम्नलिखित आख्यानमिथित अंश द्रष्टव्य हैं :—

धाय्या: शंसति । धाय्याभिवृ प्रजापतिरिमांल्लोकानधयत् । यं यं काममकामयत् । तथंवंतद् यजमानो धाय्याभिरेवेमांल्लोकान्न धयति । यं यं कामं कामयते । य एवं वेद । यदेव धाय्याः । यत्र यत्र वं देवा यज्ञस्य चिछ्रं निरजानंस्तद् धाय्याभिरपिदधूस्तद् धाय्यानां धाय्यात्वम् । अच्छिद्वेण हास्य यज्ञेनेष्टं भवति य एवं वेद ॥

(धाय्याओं का उच्चारण करता है। धाय्याओं से ही प्रजापति ने इन लोकों का पान किया, जिस-जिस कामना की इच्छा की। उसी प्रकार यह यजमान धाय्याओं से ही इन लोकों का पान करता है, जिस कामना की (पूर्ति की) इच्छा करता है, जो ऐसा जानता है कि धाय्यावे क्या हैं। निश्चित ही जहां-जहां देवों ने यज्ञ के छिद्र (दोष) को जान लिया, उसे धाय्याओं से

ढंक दिया, वह धाय्‌याग्रों का धाय्‌या होना है। जो ऐसा जानता है उसका यज्ञ दोषरहित ढंग से सम्पन्न होता है।

उपर्युक्त उदाहरण से इस गद्य की एक विशेषता यह स्पष्ट है कि इसमें छोटे सरल वाक्यों का प्रयोग है। समासों का प्रयोग प्रायः नहीं है। स्पष्टीकरण हेतु पुनरावृत्ति में संकोच नहीं किया गया। पुनः उसी शब्द (यहाँ धाय्‌या) के प्रयोग को सर्वनाम की तुलना में अधिक अच्छा समझा गया है।

जहाँ तक आरण्यकों के गद्य का प्रश्न है, वह भी ब्राह्मणों के गद्य से बहुत भिन्न नहीं है क्योंकि मूलरूप में आरण्यकों को ब्राह्मणों का ही अंश माना जाता है। इस विषय में ऐतरेय आरण्यक (२/२/१) का निम्नलिखित उद्धरण दृष्टान्तरूप में पर्याप्त है। यहाँ आदित्य को प्राण बताया गया है :—

एष इमं लोकमध्यार्चत् पुरुषरूपेण य एष तपति प्राणो वाव तदभ्यार्चन् प्राणो ह्येष य
एष तपति तं शतं वर्षण्यभ्यार्चत् तस्माच्छतं वर्षाणि पुरुषायुषो भवन्ति तं शतं वर्षण्यभ्यार्चत्तस्मा-
च्छतचिनस्तस्माच्छतचिनस्तस्माच्छतचिन इत्याचक्षते ।

जो यह (सूर्य) तपता है, इसने पुरुष के रूप में इस लोक की अर्चना की, यह प्राण ही है जो यह। (सूर्य) तपता है (इसने) उसकी सौ वर्षों तक अर्चना की, इसलिये मनुष्य की आयु के सौ वर्ष होते हैं। (उस सूर्य ने) उस मनुष्य की सौ वर्षों तक अर्चना की, इसलिये (वे ऋषि) शतर्ची हैं— ऐसा कहते हैं।

वैदिक गद्य में निरुक्त की गद्यशैली का अपना पृथक् स्थान है। एक और यह लंघु वाक्यों और स्पष्टता तथा सरलता में ब्राह्मणों के निकट है और दूसरी ओर इसमें शास्त्रीय सूत्रशैली के चिह्न भी विद्यमान हैं। इसके गद्य को वैदिक गद्य तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु लौकिक होते हुए भी उसमें वैदिक अवशेष अवश्य दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ— तत्रेतिहासमाचक्षते-देवापिश्चार्षिष्ठेणः शन्तनुश्च कौरवयो भ्रातरौ बभूवतुः । स शन्तनुः कनीयानभिषेचयाऽचक्ने । देवापिः तपः प्रतिषेदे । ततः शन्तनो राज्ये द्वादशवर्षाणि देवो न वर्षते । तमूच्चर्वाद्याणाः । अधर्मस्त्वयाचरितः ।

इस विषय में इतिहास बताते हैं। ऋषिष्ठेण का पुत्र देवापि और कुरु का पुत्र शन्तनु भाई थे। उस छोटे शन्तनु ने (अपना) राज्याभिवेक कर लिया। देवापि तक्ष्या करने लगा। तब शन्तनु के राज्य में बारह वर्ष वृष्टि नहीं हुई। ब्राह्मणों (विद्वानों) ने उससे कहा, तुमने अधर्म का आचरण किया है।

वैदिक गद्य के अन्तिम चरण में एक और जहाँ ब्राह्मणों की ही सरल शैली से अनु-प्राणित गद्य वृहदारण्यक, ल्लान्दोर्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि उपनिषदों में दिखाई देता है, वहीं शास्त्रों को समझाने और उन्हें नियमबद्ध करने के उद्देश्य से कल्पसूत्रों, प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में गद्य की एक अद्भुत सूत्रशैली का उद्भव दिखाई देता है।

‘वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव ।’ इत्यादि जैसे उपनिषदों के गद्य का उदाहरण देना अधिक आवश्यक नहीं है क्योंकि यह प्रायः आरण्यकों के गद्य से अनतिभिन्न है।

सूत्रशैली की प्रमुख विशेषता यह है कि उसे समझने के लिये शास्त्र का प्रारम्भिक ज्ञान आवश्यक है। दूसरे शब्दों में व्याख्या के बिना सूत्रग्रन्थों का ज्ञान कहीं-कहीं असम्भव हो जाता है। इसके अतिरिक्त सूत्र एक दूसरे से इस प्रकार गृथे हुये होते हैं कि किसी एक सूत्र को स्वतन्त्र वाक्य के रूप में नहीं समझा जा सकता। इस शैली में संक्षेप की प्रधानता होती है, इसलिये वदुधा क्रिया, कर्म आदि के अभाव में दुरुहता उत्पन्न हो जाती है। उदाहरणार्थ— पारस्कर गृह्यसूत्र (१/१२) का निम्नलिखित सूत्र पर्याप्त होगा :—

परिसमुह्योपलिष्ठोलिलख्योद्धृत्याभ्युक्ष्याग्निमुपसमाधाय दक्षिणतो ब्रह्मा सनमास्तीर्य प्रणीय
परिस्तीर्यथं वदासाद्य पवित्रे कृत्वा प्रोक्षणीः संस्कृत्यार्थवत् प्रोक्ष्य निरूप्याज्यमधिभृत्य पर्यग्नि कुर्यात् ।

गृह्य यज्ञकर्मों के लिये अग्नि के आवान हेतु प्रारम्भिक कृत्य करने का प्रसंग है। तदर्थ दर्भों के द्वारा धूल साफ करके, गोवर से लेप करके, निर्दिष्ट रेखाओं स्फूर्यद्वारा कुरेद कर, उन रेखाओं में अनामिका-अंगुष्ठ द्वारा मिट्टी निकाल कर, घड़े के जल को भूमि पर छिड़क कर, अग्नि को लाकर तैयार की गई भूमि पर रखकर, अग्नि के दक्षिण में पचास कुशों से निर्मित ब्रह्मा पुरोहित का आसन बिछाकर, जल लाकर, अग्नि के चारों ओर कुशाओं को फैलाकर, उस यज्ञ-कर्म में अपेक्षित पदार्थों को प्राप्त करके तथा रखकर, दर्भ घास के दो पवित्र बनाकर प्रणीता पात्र से प्रोक्षणनिमित्त जल को प्रोक्षणीपात्र में डालकर तथा पवित्रों से शुद्ध करके, अपेक्षित पदार्थों का प्रोक्षण करके, धी को पात्र में डालकर, उस पात्र को अग्नि पर रखकर, उसके चारों ओर प्रदक्षिणाविधि से जलती हुई लकड़ी को घुमाये।

उद्वृत सूत्र की यह संक्षिप्त तथा अपूर्ण व्याख्या है, इसे अनुवाद नहीं कहा जा सकता क्योंकि भावपूर्ति के लिये अनेक शब्दों का अध्याहार करना पड़ा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्मकाण्ड की जटिलता के साथ वैदिक गद्य भी अपनी स्वाभाविक सरलता छोड़कर जटिल होता जाता है। आगे चलकर इसी सूत्ररूप गद्य ने अत्यन्त जटिल शास्त्रीय गद्य को जन्म दिया।

मध्य--पाषाणिक सन्दर्भ में लेखहिया

श्री केशव प्रसाद सिंह,

फैजाबाद

मध्य पाषाण-काल अँग्रेजी के मेसोलिथिक एज (Mesolithic Age) का हिन्दी रूपान्तर है। किन्तु यहाँ यह उल्लेख कर देना अनुचित नहीं होगा कि यह मिडिल स्टोन एज (Middle Stone-Age) जिसका शाविदक अनुवाद मध्य - पाषाण काल है, से नितान्त भिन्न है। वास्तव में मिडिल स्टोन एज शब्द अफीका के प्रस्तर युग के विभाजनों पर आधारित है। कुछ समय पूर्व तक पुरातत्त्वविदों के लिए मध्य पाषाण काल की स्थिति, उत्पत्ति तथा विकास एक समस्या थी, क्योंकि लघु पाषाणोपकरण किसी भी स्थान के स्तरित जमाव से नहीं प्राप्त हुए थे। यहाँ उल्लेखनीय है कि ये उपकरण अनेक स्थानों पर धरातल से ही प्रतिवेदित हुए थे, परन्तु इनकी प्राप्ति से समस्या का समाधान नहीं हो सका था। यूरोप में लघुपाषाणोपकरणों का विकास उच्च पूर्व - पाषाणकालीन उपकरणों से स्वीकार किया गया है। परन्तु भारत में स्थिति ऐसी नहीं है। पुरातत्त्वविदों की मान्यता है कि भारत में उच्च पूर्व पाषाणकालीन उपकरणों का विकास नहीं हुआ था। दूसरे शब्दों में यह धारणा बनने लगी कि मध्य पूर्व पाषाण काल के बाद मेसोलिथिक उपकरणों का विकास लेवालेवा प्रभाव द्वारा हो गया। अतः पुरातत्त्व की दिल्ली में आयोजित प्रथम एशियन कांग्रेस में स्वर्गीय बी० सुब्बाराव¹ ने अफीका प्रस्तर युगों के आधार पर भारत में भी अर्ली, मिडिल तथा लेट स्टोन एज की संज्ञा का प्रस्ताव रखा। इसका प्रमुख कारण यही था कि अफीका में भी उच्च पूर्व-पाषाण कालीन उपकरणों का विकास उस प्रकार से नहीं हुआ, जैसा कि यूरोप में दृष्टिगत होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सुब्बाराव तथा अन्य विद्वानों ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि यूरोप के समान ब्लेड तथा ब्युरिन उद्योग कुछ परिवर्तित स्वरूप में भारत में अनेक स्थलों से इसके पहले भी प्रतिवेदित हो चुके थे।

स्तर क्रम की दृष्टि से मध्य पाषाण काल उच्च पूर्व - पाषाण काल का परवर्ती तथा नव-पाषाण काल का पूर्ववर्ती है। प्रारम्भ में अन्य प्रस्तरयुगीन संस्कृतियों के समान इसकी स्थिति भी संदिग्ध थी क्योंकि इससे सम्बन्धित स्तर प्रमाणों का अभाव था। इसी दृष्टि से बूस फूट महोदय ने प्रस्तर - युग में अन्तराल का सुझाव दिया था। उनका विचार था कि पूर्व पाषाण कालीन संस्कृति की समाप्ति के बाद मानव सभ्यता के विकास में एक अन्तराल युग हुआ था। फलतः हमें सभ्यताओं का क्रमिक विकास दृष्टिगत नहीं होता। उनकी यह धारणा तत्कालीन यूरोपीय विचारधारा पर आधारित थी, क्योंकि यूरोप में भी इसी प्रकार के अन्तराल के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था। किन्तु यह स्थिति बहुत समय तक कायम न रही और यूरोप तथा मध्य-पूर्व के अनेक क्षेत्रों में हुए उत्खननों ने इस समस्या का समाधान कर दिया। इस सन्दर्भ में एजीली के उत्खननों ने विशेष प्रकाश डाला। यहाँ पर पूर्ववर्ती उच्च पूर्व-पाषाण काल से मध्य पाषाण काल तक के क्रमिक विकास

के साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं। कालान्तर में इन साक्ष्यों की पुष्टि अन्य स्थलों के उत्खननों से भी हुई। फलतः पूर्ववर्ती विद्वानों के अन्तराल के सिद्धान्त को समाप्त कर दिया गया। किन्तु भारत में इस समस्या का समाधान होने में काफी समय लगा, क्योंकि यहाँ पर उच्च पूर्व पाषाण कालीन संस्कृति की स्थिति ही संदेहास्पद थी। इसलिए यह निश्चित कर सकना अत्यन्त कठिन हो गया कि यहाँ के मध्य पाषाणिक उद्योगों का विकास किस प्रकार हुआ है? कुछ विद्वानों की यह धारणा थी कि भारत में मध्य-पाषाणिक उद्योगों का विकास अफ्रीका के अनुरूप हुआ है। इस प्रकार की धारणा के विद्वानों में स्वर्गीय सुव्वाराव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। किन्तु भारत के विभिन्न भागों में होने वाले अनेकानेक अनुसंधानों से इस समस्या का समाधान होने लगा। इलाहाबाद जनपद के बेलन घाटी^२ के अनुभागों के प्रकाश में आने के फलस्वरूप उच्च पूर्व पाषाण काल की समस्या का निदान तो ही ही गया, साथ ही मध्य पाषाणिक संस्कृतियों के विकास की समस्या पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ा। अब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मध्य पाषाणिक संस्कृतियों का विकास उच्च पूर्व पाषाणिक संस्कृतियों से सम्बन्धित है।

मध्य पाषाण काल का महत्व पूर्ववर्ती सभी संस्कृतियों से अधिक है। मानव विकास के इतिहास में ही नहीं, अपितु पृथ्वी के विकास के इतिहास में भी यह एक नवीन स्थिति का द्योतन करता है। इस समय से एक नवीन युग का सर्जन होता है। उल्लेखनीय है कि उच्च पूर्व पाषाण काल तक विश्व में कुछ स्थलों पर अतिथीतल जलवायु (Glacial Pd.) तथा अन्य स्थलों पर अतिवर्षा (Pluvial Pd.) की जलवायु व्याप्त थी। परिणाम स्वरूप पृथ्वी का अधिकांश भाग या तो हिमाच्छादित था या दलदल अथवा पानी से भरा हुआ था। इस प्रकार की आत्यन्तिक जलवायु मानव तथा बनस्पति दोनों के विकास के लिए बहुत महत्वपूर्ण नहीं थी। किन्तु उच्च पूर्व पाषाण काल की परिसमाप्ति तक सार्वभौमिकरूप से जलवायु सम्बन्धी परिवर्तन होने लगे और विश्व के लगभग सभी क्षेत्रों में समशीतोष्ण जलवायु प्रारम्भ होने लगी। हिमाच्छादित घाटियों से बर्फ की चादरें उठने लगी तथा दलदल वाले मैदान क्रमशः सूखने लगे। इस प्रकार उच्चपूर्व पाषाण काल के समाप्त होते हीते अन्तर्हिमयुग (Inter glacial Period) तथा अन्तर्रातिवर्षा काल (Inter pluvial Period) की अवस्था उत्पन्न होने लगी। इस युग को सर्वनून युग (Holocene Period) की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों ने पृथ्वी के धरातल की रूपरेखा में यथेष्ट परिवर्तन कर दिया। जहाँ पर बर्फ जमी थी, वहाँ पर घास के विशाल मैदान बनने लगे तथा जिन स्थलों पर अधिक वर्षा हो रही थी, वहाँ घने जंगलों का अस्तित्व हो गया। समशीतोष्ण जलवायु के फलस्वरूप पृथ्वी की उर्वराशक्ति में यथेष्ट परिवर्तन होने लगा। अतः नवीन प्रकार की घासों का जन्म हुआ जिन्हें आधुनिक अन्नों का पूर्ववर्ती कहा जा सकता है। जलवायु के इन परिवर्तनों ने केवल बनस्पतियों को ही नहीं, अपितु पृथ्वी के धरातल पर संचरण करने वाले जीवों को भी प्रभावित किया। अपेक्षाकृत गर्म जलवायु होने से विशालकाय मैमथ तथा घने बालों वाले गैडे अब क्रमशः लुप्त होने लगे तथा इनके स्थान पर नये प्रकार के जन्तु-वर्ग, जिनमें छोटे आकार के भेड़, बकरी तथा हिरण आदि उल्लेखनीय हैं, का विकास प्रचुरता से होने लगा। इन सब परिवर्तनों से मानव भी अछूता नहीं रह सका। परिस्थितियों का परिवर्तन मानव-विकास में एक निश्चित भूमिका निभाता है, क्योंकि कोई भी जीव, विशेषकर मानव, अपने वातावरण से अलग

नहीं रह सकता। उसका खान-पान तथा जीवन उन सभी परिस्थितियों से प्रभावित होता है, जिनके बीच रह कर वह जीवन-पापन करता है। बदनती हुई परिस्थितियों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए उसकी जीवन-पद्धति में परिवर्तन आवश्यक था। उच्च-पूर्व पाषाण काल तक मानव अपने जीवन-पापन के निमित्त मुख्य रूप से आखेट पर आश्रित था। किन्तु इस काल का मानव आखेट के अतिरिक्त जंगली घास के बीजों तथा वृक्षों के फलों का संचय भी करने लगा था। इसलिए इस काल के मानव को संचयक (Food Gatherer) मानव की संज्ञा भी प्रदान की जाती है। यह इस काल की विशेष उपलब्धि थी। मध्य पाषाण-कालीन मानव सीमित सेती तथा पशु पालन का भी प्रयोग करने लगा। किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सेती का प्रारम्भ तथा उद्योग के रूप में पशु-पालन का श्री गणेश इस समय तक नहीं हुआ था।

नृतन कल्प में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए उनसे सामंजस्य स्थापित करने के लिये तत्कालीन मानव के लिए अपने उपकरणों में परिवर्तन लाना नितान्त आवश्यक हो गया। उपकरणों में परिवर्तन की प्रक्रिया उच्च पूर्व पाषाण काल से ही आरम्भ हो गयी थी। किन्तु उच्च पूर्व-पाषाण काल के अन्तिम चरण तक आते-आते यह एकदम स्पष्ट हो गयी। इस काल में लगभग सभी उपकरणों का निर्माण सकरे तथा छोटे ब्लेड पर होने लगा, जिन्हे फ्लूटेड कोर (Fluted Core) से निकाला जाता था। सभी उपकरणों के निर्माण के लिए पुनर्गठन (Re-Touching) नितान्त आवश्यक माना जाता था। प्रारम्भ में विद्वानों की धारणा थी कि मध्य पाषाण काल के लघुपाषाणों-उपकरण हासोन्मुख-समाज का निर्देश करते हैं। किन्तु विद्वानों की यह धारणा उचित नहीं प्रतीत होती है। वास्तव में लघु-पाषाणोपकरण मानव की विकासोन्मुखी बुद्धि एवं तकनीकी ज्ञान का द्रौपदीन करते हैं। इस काल के सभी उपकरण संयोजित उपकरण (Composite Tools) की श्रेणी में रखे जा सकते हैं, क्योंकि प्रायः सभी उपकरणों को जोड़कर एक उपकरण का निर्माण होता था। इन उपकरणों को दूर से फेंक कर तीर के समान प्रयोग में लाया जा सकता था। तात्पर्य यह है कि मानव अब दूर से भी प्रहार कर सकता था।

मध्य पाषाण कालीन लघुपाषाणोपकरण भारत में अनेक क्षेत्रों से प्रतिवेदित हो चुके हैं। इनमें राजस्थान के वागोर, गुजरात के लंघनाज^३, नर्मदा घाटी के बामेर^४, आन्ध्र प्रदेश के कर्नूल^५ एवं चित्तूर^६, महाराष्ट्र के खाण्डवली^७, पश्चिम बंगाल के बीरभानपुर^८, प्रायद्वीपीय भारत के ब्रह्मगिरि, मास्की एवं संगमनकल्लू, कश्मीर के बुजंहोम, तामिलनाडु के तिन्नेवल्ली^९, छोटा नागपुर के बरुडीह एवं कुचाई, मध्य प्रदेश के आदमगढ़, मैसूर के शोरापुरद्वाब^{१०} गंगा घाटी के कुड़ा, गढ़वा, मुलेमान पर्वतपुर, सरायनहरराय^{११} पलखवाड़, महदहा एवं विछिया तथा विन्ध्य क्षेत्र^{१२} के मोरहना पहाड़, वघहीखोर, चोपनी माण्डो एवं लेखहिया विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने १९६१-६२ एवं १९६२-६३ ई० में कैमूर की पहाड़ियों के ऊपर मोरहना पहाड़, वघहीखोर एवं लेखहिया शिलाश्रयों में उत्खनन किया। ये सभी शिलाश्रय मिर्जपुर से दक्षिण की ओर जाने वाली ग्रेटडेकन रोड पर मध्य प्रदेश के हनुमना नामक स्थल दो मील पूर्व उत्तर प्रदेश के मैसीर नामक ग्राम के निकट स्थित हैं। मोरहना पहाड़ एवं वघहीखोरशिलाश्रयों का उत्खनन डा० आर० के० वर्मा ने किया था। दोनों स्थानों पर निचले स्तर से अज्यामितिक उपकरण मिले, जो मृदभाण्डों से सम्बन्धित नहीं थे। उसके ऊपर से ज्यामितिक उपकरण मृदभाण्डों के साथ मिले^{१३}।

प्रो० जी आर० शर्मा के निर्देशन में लेखहिया ^{१४} में हुए ने उत्खनन मोरहना-पहाड़ एवं बघहीखोर के उत्खनन-साक्ष्यों की पुष्टि की ।

मिर्जापुर से ६६ कि० मी० दूर मिर्जापुर-रीवां राजमार्ग के पूर्व में लेखहिया नामक स्थल मध्य पाषाणिक सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है । यहाँ दो के शिलाश्रयों में उत्खनन कार्य किया गया । शिलाश्रयों के बाहर भी उत्खनन कार्य हुआ । शिलाश्रयों के बाहर तीन खातें लगायी गयीं । खात संख्या १ एवं ३ आयतार 7×3 मीटर हैं । आधार शिला के ऊपर १.१ मीटर जमाव को ६ स्तरों में विभाजित किया गया है । स्तर संख्या ९ से कोई उपकरण नहीं प्राप्त हुआ है । स्तर संख्याद से १ तक जमाव के आधार पर लघु पाषाणिक उद्योग की चार अवस्थाएँ प्रकाश में आयीं, जिनका विवरण निम्नवत् है ।

प्रथम अवस्था

प्रथम अवस्था में स्तर संख्या ८ एवं ७ को सम्मिलित किया गया है । इस अवस्था के उपकरण अज्यामितिक प्रकार के हैं । उनके साथ मृदभाण्ड नहीं मिलते । प्रमुख उपकरणों में ब्लेड, मुथडे पृष्ठ ब्लेड, असाग, अर्द्ध चन्द्र और स्केपर उल्लेखनीय हैं । कोर अत्यधिक संख्या में प्राप्त हैं । उपकरणों के अत्यधिक रासायनिक रंगाई के प्रमाण समुपलब्ध हैं ।

द्वितीय अवस्था

स्तर संख्या ६ एवं ५ में अज्यामितिक उपकरण मिलते हैं । प्रकारात्मक दृष्टि से ये उपकरण प्रथम अवस्था के तुल्य हैं । इस अवस्था में ज्यामितिक उपकरण जैसे तिभुज भी प्राप्त हैं । मृद-भाण्डों के साक्ष्य नहीं मिलते ।

तृतीय अवस्था

स्तर संख्या ४ एवं ३ लेखहिया की तृतीय अवस्था का द्योतन करते हैं । इस अवस्था में ज्यामितिक उपकरण - तिभुज एवं ट्रीपीज मृदभाण्डों के साथ मिलते हैं ।

चतुर्थ अवस्था

स्तर संख्या २ और १ में ज्यामितिक उपकरण मृदभाण्डों के साथ प्राप्त होते हैं ।

खात संख्या २, जो 6.2×3.1 मी० आयताकार है, में भी उपर्युक्त स्तरीकरण अंशतः सक्रम दृष्टिगत होता है । यह खात शिलाश्रय संख्या १ के उत्तर पश्चिम दिशा में खोदी गयी थी । यहाँ का आवासीय जमाव $45 \text{ से } 0$ मी० मोटा है । सम्पूर्ण जमाव को ३ भागों - प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय में विभाजित किया गया है । ऊपरी स्तर तृतीय दो भागों-ए एवं बी में विभाज्य है । स्तर संख्या १ से मृदभाण्ड नहीं प्राप्त होते, यद्यपि तिभुज का टुकड़ा प्राप्त है । शेष स्तर लेखहिया खात संख्या १ और ३ की प्रथम अवस्था के समतुल्य हैं ।

शिलाश्रय संख्या १

5.2×2.5 मी० की एक खात शिलाश्रय संख्या १ में लगायी गयी । फलतः १७ नर-कंकाल प्रकाश में आये । ये सभी विस्तीर्ण शवाधान हैं । इनमें फ्लेंक एवं कोर प्रभूत संख्या में प्राप्त हैं । स्तरीकरण के आधार पर प्राप्त सभी नर कंकालों को ८ काल - खण्डों में विभाजित किया गया है । कंकाल संख्या २ एवं १२ को छोड़ कर सभी पश्चिम-पूर्व दिशा में दफनाये गये हैं । अर्थात् इनका शिर पश्चिम और पैर पूर्व दिशा में है । कंकाल संख्या २ एवं १२ का शिर क्रमशः

दक्षिण एवं उत्तर दिशा में है। शवाधान संख्या १७ से अज्यामितिक प्राक् पात्रीय अवस्था के उपकरण तथा शेष से ज्यामितिक और अज्यामितिक लघुपाषाणोपकरण प्राप्त हुए हैं।

शिलाश्रय संख्या २

शिलाश्रय सं० १ के उत्तर में लेखहिया शिलाश्रय सं० २ अवस्थित है। आयताकार 3×2 मी० यह शिलाश्रय, अपेक्षाकृत छोटा है। इसके २० से० मी० मोटे आवासीय जमाव को ४ स्तरों में विभाजित किया गया है। उत्खनन से स्पष्ट है कि ज्यामितिक मृद्भाण्डीय स्तर में मध्य पाषाणिक मानव ने शिलाश्रय को अपना आवास बनाया था।

इस प्रकार शिलाश्रय-उत्खननों ने बाहर के उत्खनित सांस्कृतिक अनुकम्भ को समर्थित किया। मानव एवं पशु अवशेष

शिलाश्रय सं० १ में खोदी गयी खात की मूल आधारशिला में एक गड्ढा प्रकाश में आया। इसमें मानव कपाल के टुकड़े सा प्रतीत होने वाला एक अवशेष प्राप्त हुआ है। दाँत युक्त एक पशु का जबड़ा भी मिला है। यदि वैज्ञानिक परीक्षण यह प्रमाणित कर दें कि यह मानव कपाल खण्ड है तो लघु पाषाणिक युग के पूर्व मनुष्य की यह पहली खोज होगी।

सन्दर्भः-

- १- सुब्बाराव बी० - पर्सोनाल्टी आफ इण्डिया, १६५८
- २- एक्सप्लोरेशन इन डिस्ट्रिक्ट इलाहाबाद, मिर्जापुर एण्ड शाहजहाँपुर डिस्ट्रिक्ट, इण्डियन आक-र्योलाजी-ए रिव्यू, १६६६-६७
- ३- ज्वाएनर, एफ० ई०, १९५२, दि माइक्रोलिथिक इण्डस्ट्री आफ लँघनाज, गुजरात मेन भाग ५२, संख्या १८२
- ४- सेन, डी० एण्ड घोष, ए० के०-लिथिक कल्चर काम्प्लेक्स इन दि प्लायस्टोसीन सीक्वेंस आफ दि नर्मदा बैली।
- ५- आइजक, एन०-दि स्टोन एज कल्चर्स आफ कर्नूल, १६६१, डेकन कालेज पूना।
- ६- मूर्ति, एम० एल० के०-स्टोन एज कल्चर्स आफ चित्तूर, १६६६, डेकन कालेज पूना।
- ७- टाड, के० आर० यू०-पैलियोलिथिक इण्डस्ट्री आफ बाम्बे।
- ८- लाल, बी० बी०-बीरभानपुर, ए माइक्रोलिथिक साइड इन दी दामोदर बैली- वेस्ट बंगाल, ए० इ०, न० १४
- ९- ज्वाएनर, एफ० ई० एण्ड एल्चन, बी०-दि माइक्रोलिथिक साइट्स आफ तिनेवेली डिस्ट्रिक्ट, मद्रास स्टेट, ए० इ०, न० ६
- १०- पद्दैया, के० - प्री एण्ड प्रोटोहिस्टोरिक इन्वेस्टिगेशन इन शोरापुर द्वाब, १६६८, डेकन कालेज, पूना।
- ११- शर्मा, जी० आर-एक्सकैवेशन ऐट सरायनहरराय
- १२- वर्मा, आर० के०-दि स्टोन एज कल्चर्स आफ मिर्जापुर, इलाहाबाद तथा प्री हिस्ट्री, १६६४
- १३- वर्मा, आर० के०-भारतीय प्रागितिहास
- १४- लेखहिया, एक्सकैवेशन रिपोर्ट, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।



संस्कृतसाहित्ये प्रेयसीचरणसेवा कालिदासश्च

डॉ० अशोक कुमार कालिया

लखनऊ

संस्कृतसाहित्ये प्रेयसीचरणयोः कश्चन विशिष्ट एव महिमा दृष्टिपथमायाति, विशेषतः शृङ्गारसन्दर्भेषु । प्रेयसीचरणयोर् नायकेरनुष्ठितसेवाया यादृशी प्रशस्ता परम्परा संस्कृतसाहित्ये सुस्पटं समुपलभ्यते, न तादृशी कर्स्मशिचदन्यस्मिन् भाषासाहित्ये । वस्तुत इतरासु जातिषु परम्परासु च चरणसेवासामान्यस्यैव पूर्णतयाऽभावो वर्तते । तत्र चरणशुश्रूषा गुरुणामपि श्रद्धया निवेदनं प्रकाराऽनाऽस्ति, प्रेयसीचरणसेवायास्तु कथैव का? चरणस्पर्शः चरणसंवाहनञ्च चरणसेवायाः प्रमुखौ प्रकारौ । सम्भवतो विनम्रताप्रकाशनस्य इष्टप्रसादनस्य वा एतस्या उल्कष्टा काचनाऽन्याविधा भारतीय-परम्परायां नाऽस्ति । शृङ्गारसन्दर्भे पुनः विवेच्य प्रेयसीप्रसादनार्थमपि प्रयुज्यते । तैस्तैः संस्कृत-कविभिर् एतादृश्या शुश्रूषाया निरूपणे स्वप्रतिभाप्रकर्षः सम्यक् प्रादर्शि । कालिदासः पुनः कविकुल-गुरुरेव । अतस् तन्निरूपिता नायकदृशा प्रेयसीचरणयोर् महता तच्छुश्रूषामहत्ता वा कमपि विशेषं घन्ते । मन्ये साहित्याऽरविन्दमिलिन्दानां कृते स्यादयं विषयो जिज्ञासाया रुचिकरश्च । इत्यतः प्रिया-चरणसम्बन्धि संस्कृतसाहित्ये सामान्यतः कालिदाससाहित्ये च विशेषतो यथा यद् वर्णितमस्ति तथाऽन्नक्रमेण प्रपञ्च्यते ।

प्रियापदचिह्नपरिचितः

कदाचित् पृथिव्यां पदचिह्नानि वीक्ष्य पदचिह्नवतः परिज्ञानं सम्भवत्येव । गजस्यैतत्¹ पदचिह्नम्, एतच्छाकस्य, एतच्च कस्यचित् पुरुषस्य इत्येतादृशेऽनुभवेनाऽस्ति कश्चन विशेषः सर्वैरप्य-नुभूयमानत्वात् । किरातानां सिहगमनमार्गाऽभिज्ञानं पदचिह्नानि वीक्ष्य भवत्येवेत्येतस्मिन् विषये कालिदास एव प्रमाणम् । यथोक्तं तेन-

‘पदं तुषारस्तुतिधीतरक्तं
यस्मिन्नदृष्ट्वाऽपि हतद्विपानाम् ।

विद्विति मागं नखराध्रमुक्तं
मुक्ताकलैः केसरिणां किराताः ॥²

पदचिह्नतस्त्वेतादृश एव सामान्योऽनुभवो भवति न तु विशेषोऽनुभवो ‘व्यक्तिविशेषस्यैतत् पदचिह्नम्’ इत्येवंरूपः । कालिदासस्य नायकास्तु न सामान्या जनाः । ललितकामिनः खल्वेते सन्ति । आश्चर्यभूताऽस्त्वेतेषां सूक्ष्मदृष्टिः । असामान्या चाऽस्त्वयनुभूतिः । पदं जानन्ति, पदचिह्नं जानन्ति, पदचिह्नलक्षितां प्रेयसीं चाऽभिजानन्ति । किं तत्प्रियासम्बन्धि यदेते न जानन्ति । उवर्शीपदचिह्नस्य स्वरूपं पुरुरवा समीक्षीनतया जानाति । द्रष्टव्यमत्र पुरुरवाकृतोवैशीपदचिह्नस्वरूपविवेचनम् –

‘पदभ्यां स्पृशेद् वसुमतीं यदि सा सुगात्री
 मेघाऽभिवृष्टिसिकतामु वनस्थलीषु ।
 पश्चान्तरां गुरुनितम्बतया ततोऽस्याः
दृश्येत चारुपदपंक्तिरलक्ष्मकाङ्क्षा ॥’³

—यदि सा शोभनाङ्की उर्वशी मेघवृष्टिवालुकामु एतामु वनस्थलीषु पृथिवीं स्पृजेत् तर्हि एतस्या (उर्वश्याः) लाक्षारागरञ्जिता नितम्बगुरुतया पश्चान्नता च रमणीयपदपंक्तिर् अवश्य दृश्येत । न च सा दृश्यते, अतो न ललिततो गतोर्वशीति ।

एवमेवाऽस्ति दुष्यन्तास्याऽपि शकुन्तलापदपंक्तिपरिचितः । शाकुन्तले दुष्यन्तकृतं शकुन्तला-चरणचिह्नविश्लेषणमेवमस्ति —

‘अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात् पश्चात् ।
द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपंक्तिदृश्यतेऽभिनवा ॥’⁴

—एतस्य लतामण्डपस्य पाण्डुसिकतामये द्वारे पुरस्ताद् अभ्युन्नता नितम्बभारात् च गम्भीरा अभिनवा पदपंक्तिरवलोक्यते । अतः शकुन्तलयाऽत्रैव लतामण्डपे भवितव्यम् इत्यस्त्यभिप्रायः ।

उपर्युदाहृतयोरुभयोरपि स्थलयोऽचरणचिह्नपरिचितद्वारा ललितनायकानां प्रेयसीविषयको रागात्मिका वृत्तिर् गाढतराऽवलोक्यते । अनुक्तमपि प्रियाशरीरसीष्ठब्दं सुतरामुक्तमेवाऽत्र ।
प्रियापदसंवाहनम्

पादसंवाहनं तैस्तैरनुष्ठीयमानाया शुश्रूषाया अस्ति काचिद् विशिष्टा विधा । परिचारकैः स्वस्वाभिनाम्, शिष्यैर् गुरुणाम्, पुत्रैर् मातापित्रैर्, कनिष्ठैर् ज्येष्ठानाम्, पत्नीभिश्च पतीनां क्रिय-माणा सेवा साहित्ये, शास्त्रे, लोके च प्रसिद्धैव वर्तते ।

परिचारकैः: परिचारिकाभिश्च स्वस्वाभिनां या याः सेवाः क्रियन्ते, तामु पादसंवाहन-मप्यस्ति एकं रूपम् । महाकविवारणभृत्विरचितायां कादम्बरीकथायां खड्गवाहन्या पादसंवाहनेन शूद्रकस्य शुश्रूषाऽनुष्ठीयते । तद्यथा—

‘तत्र च शयनतलनिषणः क्षितितलोपविष्ट्या शनैः शनैरुत्सङ्गं निहितासिलतया खड्ग-वाहन्या नवनलिनदलकोमलेन करसम्पुटेन संवाह्यमानचरणः... मुहूर्तमिवासाञ्चक्रे ।’⁵

एवं शिष्यैर् या गुरुणां सेवा सम्पद्यते तस्याः पादसंवाहनमस्ति प्रभाविं साधनम् । अयमपि गुरुसेवाप्रकारः सुविदित एव भारतीयानां कृते । महाभाष्यकृता पतञ्जलिनाऽपि शिष्यैः क्रियमाणस्य गुरुणां पादसंवाहनस्य गुरुपुत्रपादसंवाहननिषेधमुखेनैवमकारि—

‘गुरुवदस्मिन् गुरुपुत्रे वर्तितव्यमन्यत्रोच्छष्टभोजनात् पादसंग्रहणाच्च ।’⁶

एवमेवैतादृशी पादसेवा मातापित्रोः पुत्रैः सम्पाद्यत इति तु न कस्याप्यविदितम्, कनिष्ठैर् ज्येष्ठानां पत्नीभिः पतीनाञ्चापि । भासकृते प्रतिमानाटके लक्ष्मणास्योक्तिरियं सन्दर्भोऽस्मिन् अनुसन्धेया—

‘गुरोर्में पादशुश्रूषां त्वमेका कर्तुमिच्छसि ।
 तर्वं च दक्षिणः पादो मम सच्यो भविष्यति ॥’⁷

एतस्मिन् कनिष्ठेनाग्रजस्य पत्ना च पत्युः सम्पाद्यमाना पादसेवा स्पष्टमुक्ता ।

तदिदं विविधैरधिकारिभिरनुष्ठीयमानं पादसंवाहनं तासु तासु सेवाविधासु प्रशस्तं वर्तते, उत्तमाविकारिभिरपि सम्पाद्यमानत्वात् । लक्ष्मीरपि शीरशायिने विष्णुवे एतादृशीमेव चरणशुश्रूषां समर्पयति । एतस्मिन्श्च सन्दर्भे श्रीरङ्गक्षेत्रस्थश्रीरङ्गनाथभगवतो दिव्यमङ्गलविग्रहोऽस्मदीयस्मृतिसृतिमायाति । द्रष्टव्यमत्र भगवतो रङ्गनाथस्य स्वरूपमित्यम्—

‘सप्तप्राकारमध्ये सरसिजमुकुलोद्भासमाने विमाने
कावेरीमध्यदेशे मृदुतरफणराड्भोगपर्यङ्कभागे ।
निद्रामुद्राऽभिरामं कटिनिकटशिरः पार्श्वविन्यस्तहस्तं
पद्माधात्रीकराभ्यां परिचरितपदं रङ्गनाथं भजेऽहम् ॥’

तं भगवन्तं रङ्गनाथमहं प्रणामामि यस्य पादपरिचर्या श्रीदेव्य भूदेव्या च विधीयत इत्यलं नाऽतिप्रसक्तेन प्रयच्छनेन ।

भारतीयपरम्परायां पतिभिः पत्नीनां प्रियैश्च प्रेयसीनां पादसंवाहनस्य प्रथा प्रशस्ता नाऽस्ति, सामाजिकमयदादृष्ट्याऽनौचित्यात् । शृङ्गारसन्दर्भे तु पतिः पत्न्याः प्रियः प्रेयस्या वा पादी संवाहयितुमहंति । तत्राऽपि प्रच्छन्ततयैव । तत्पादसंवाहनं नाऽस्ति शुश्रूषारूपम्, प्रियाप्रसादनार्थं तत्प्रवृत्तेः । अतः प्रच्छन्ततयाऽनुष्ठीयमानत्वाद् वा विरलत्वाद् वा न लोकेऽवलोक्यते पतिकृतपत्नीचरणशुश्रूषा । शृङ्गारप्रधाने साहित्ये चावलोक्यते विरलतया वर्तमाना ।

जयदेवस्तु शृङ्गाररससर्वस्वेषु महाकविषु प्रधानः । एतस्मिन् सन्दर्भेऽपि तद्विरचितं गीतगोविन्दमस्मदीयस्मृतिपथमायाति । श्रीकृष्णः सख्याऽनीतां राधामुद्दिश्य एवं निवेदयति—

‘करकमलेन करोमि चरणयुगमागमितासि विद्वरम् ।

क्षणमुपकुरु शयनोपरि मामिव नूपुरमनुगतसूरम् ॥’⁸

— यतस्त्वं सख्या दूरमानीताऽसि (श्रान्ताऽसि जातेत्यर्थः) अतः स्वकीयेन करकमलेन चरणसंवाहनं करोमि ।

एतादृशं पादसंवाहनमपि सुविदितमस्ति शृङ्गाररससर्वस्वभूतेषु महाकविषु प्रधानभूतस्य प्रथमभूतस्य च कालिदासस्य । एतेन महाकविना प्रियापादसंवाहनस्य चास्तरः प्रयोगः कृतः । शाकुन्तले तृतीयेऽङ्के सख्योरनसूया-प्रियंवदयोः प्रस्थितयोः सख्योर् उद्घिनां शकुन्तलमेवं सान्त्वयति दुष्यन्तः—

‘राजा—अलमवेगेन । नन्वयमाराधयिता जनस्तव समीपे वर्तते—

‘कि शीतलैः वत्तमविनोदिभिराद्वातान् ।

सञ्चारयामि नलिनीदलतालवृन्तेः ।

अङ्के निधाय करभोरु ! यथामुखं ते

संवाहयामि चरणावृत पद्मताम्रो ॥’⁹

— अयि करभोरु ! कि ते मनःप्रसन्नतायै सन्तापनिवारकैर् शीतलैर् नलिनीदलरूपैस्तालवृन्तैः शीतलवातान् सञ्चारयामि ? अथवा कमलारणी ते चरणावङ्के निधाय यथा ते सुखं स्यात् तथा संवाहयःपि ?

सपष्टमेवैषा दुष्यन्तेन शकुन्तलाप्रसादनार्थं विहिता पादसंवाहनोक्तिश् चाटूक्तिरेव ।
रामगिर्यश्रमस्थः प्रियावियुक्तो यक्षोऽपि सम्भोगान्ते हस्तसंवाहनसमुचितं द्विवाममूरुं स्मरति । तच्चेत्यम् —

वामश्चास्याः कररुहपदमुच्यमानो मदोयैर्

मुक्तजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या ।
सम्भोगाते सम समुचितो हस्तसंवाहनानां

यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्वलत्वम् ॥¹⁰

एवं प्रियापादसंवाहनमपि कालिदासकाव्ये निपुणमुपलभ्यते ।
नायकानां प्रेयसीपादप्रहाराभिलाषः

विरचितचाटुवचनरचनः कृष्णो मानिनो राधिकां प्रसादयन् तस्याश्चरणसेवाच
मेवमभिलवति—

‘स्थलकमलगञ्जनं सम हृदयरञ्जनं

जनितरतिरङ्गपरभागम् ।

भण मसृणवाणि ! करवाणि चरणद्वयं

सरसलसदलक्तकरागम् ॥¹¹

—अथि मधुरभाषिणी ? किमहं स्थलकमलतिरस्कृतिकरं हृदयाह्लादकं त्वदीयं चरण
प्रलक्षकरागयुक्तं करोमि ? तस्याः पादप्रहारमपि निजशिरोभूपणमिव वाञ्छ्रिति—

‘स्मरगरलखण्डनं सम शिरसि मण्डनं

वेहि पदपल्लवमुदारम् ।’¹²

इत्थं श्रीजयदेवो महाकविः स्वकीये गीतगोविन्दकाव्ये प्रियापादप्रहाराभिलाषं प्रस्तुतव
कालिदासस्त्वेतादृशेषु श्रुङ्गाररसार्वभौमेषु महाकविषु न केवलं मूर्धन्यः, प्रथमोऽपि । पादप्रह
भिलाषविषयेऽपि स तथैवाऽवतिष्ठते ।

सर्वमपि प्रियतमायाः प्रियतमं भवति । सुन्दरी रागरेखाऽन्वितौ मालविकाच
हृतमपि राजो हृदयं बलादपहरतः । राजा सालक्षकमालविकाचरणशोभामेवं वर्णयति—

‘चरणान्तनिवेशितां प्रियायाः

सरसां पश्य वयस्य ! रागलेखाम् ।

प्रथमाभिव
पल्लवप्रसूति

हरदग्धस्य भनोभवदुमस्य ॥¹³

न केवलं मालविकायाश्चरणशोभाऽत्यन्तमाकृष्टोऽयं राजा, तत्कृतपादप्रहारोऽस्त्यस्ये
विनैवाऽपराधम् । अपरावे कृते तु दण्डोभवितुमहंति, काममस्तु स दण्डः पादप्रहाररूपोऽन्यविधो
मालविकायां तु भृशमनुरक्तो राजा तस्याः पादप्रहारं याचमान इवावलोक्यते: यथा-

‘नवकिसलयरागेणाद्यपादेन बाला

स्फुरितनखरुचा द्वौ हन्तुमहंत्यनेन ।

अकुसुमितमशोकं दोहृदापेक्षया वा

प्रणिहितशिरसं वा कान्तमाद्विपराधम् ॥¹⁴

अहो हृदयपरवशता महाराजस्य यदयं दोहृदक्रियापरायणां मालविकां वीक्षयैवं विचिन्तयति यदेषा मालविकेदानीं स्वकीयेन नूतनकिसलयरागेण वामपादेन द्वाविमौ प्रहर्तुमर्हति—दोहृदपेक्षया अकुसुमितम् अशोकम्, प्रथमापराधं प्रणिहितशिरसं माङ्गच ।

पादप्रहारलालसेयं महाकवेः प्रियतमवर्णनविषय इव प्रतिभाति, यतो हि एतादृश एवाऽभिलाषोऽन्यत्रापि महाकविकृतिष्वनुवर्तते । मेघदूते यक्षोऽपि तादृशमेव निजाऽभिलाषमभिव्यनक्तयेवम् ॥

‘रक्ताशोकश्चलकिसलयः केशरश्चाऽत्र कान्तः
प्रत्यासन्नो कुरवकवृत्तेर्मधीमण्डपस्य ।
एकः सख्यास्त्व उह मया वामपादाभिलाषी
काङ्गक्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहृदच्छद्यनाऽस्याः ॥’¹⁵

—हे मेघ ! तत्र च कुरवकपरिवृत्तस्य माधवीमण्डपस्य प्रत्यासन्नो ह्वौ वृक्षौ स्तः; चलकिसलयो रक्ताशोकः, कान्तः केशरश्च । एतयोः प्रथमो रक्ताशोको दोहृदपेक्षया मया सह वामपादाभिलाषी वर्तते । द्वितीयः केशरश्च मया सहैवास्या वदनमदिरामभिलषित । उभावपि वृक्षौ यक्षश्च सुन्दर्या यक्षिण्या अनुग्रहमभिलषिति । अशोको यक्षश्चैतस्या वामपादप्रहारमभिलषितः केशरयक्षावस्या वदनमदिराङ्गच ।

वकुलावलिक्याऽलक्तकरागेण प्रसाधितं मालविकाचरणं मुखमारुतेन स्वल्पप्रवातेन वा शोषमुपयास्यति । किन्तवेतेन व्याजेनेष्टतमस्तस्याश्चरणसेवावकाशोऽन्ततो महाराजेनोपलब्ध एव—

‘आद्रांतक्तकमस्याश्चरणं मुखमारुतेन बीजयितुम् ।
प्रतिपन्नः प्रथमतरः सप्त्रति सेवावकाशो मे ॥’¹⁶

हन्त दौभरियम्, मालविकाचरणप्रहाररूपं सौभाग्यम् इष्टं महाराजस्य अशोकेनोपलब्धम् । अशोकेन मालविकायै कोमलोऽरुणश्च कर्णकिसलय उपाहृतस् तया च तस्मै तत्सदृशमेव चरणमर्पितम्, वञ्चितश्य राजा । आत्मनः प्रवञ्चनामेवं प्रकटयति महाराजः ।

‘आदाय कर्णकिसलयमस्मादियमत्र चरणमर्पयति ।
उभयोः सदृशविनिमयादात्मानं वञ्चितं मन्ये ॥’¹⁷

एतादृशी चरणसेवालालासा कालिदासमते ललितकामिनामस्ति साधारणो धर्म इव । तत्रैव मालविकागिनिमित्रे अशोकमुपालभमानो राजा एवमाह—

‘अनेन तनुमध्यया मुखरनूपुराराविणा
नवाम्बुद्धकोमलेन चरणेन सम्भावितः ।
अशोक ! यदि सद्य एव कुसुमर्न सम्पत्स्यसे
वृथा वहसि दोहृदं ललितकामिसाधारणम् ॥’¹⁸

अत्र पुनः प्रियप्रा अशोकस्य कमलकोमलचरणसम्मानना तादृशसम्मानेनाऽसम्भावितस्य राजो मनसि ईर्ष्यां जनयति । प्रियावामपादप्रियत्वमशोकस्याऽन्यत्रापि कालिदासकाव्ये सस्पृहमिव संस्मृतमवलोकयते । तद्यथा—

‘अये, प्रियावामपादप्रियः अशोकः । भवतु, अत्र प्रणयी भवामि—

‘रक्ताशोक ! कृष्णोदरी वव नु गता व्यक्त्वाऽनुरक्तं जनं
नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वातावधूतं शिरः ।
उत्कण्ठाघटमानघट्पदघटासंघट्दृष्टच्छदस्
तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोदगमोऽयं कुतः ? ॥’¹⁹

एवं बलवती खल्वस्ति प्रियापादप्रहारलालसा कालिदासस्य नायकानाम् ।

प्रणतिः—कुपितकामिनीप्रसादनोपायः

पूर्वराग — मान — प्रवास — करुणमेदाद् प्रकारचतुष्टयं निरूपितं विप्रलभ्मशृङ्गारस्य
काव्यशास्त्रविद्धिः ॥^{A20} चतुर्वर्ष्येतेषु विप्र नम्भप्रकारस्य मानस्याऽस्त्वितिशयितं महत्त्वम् । ‘कोप’
इति मानस्यैवाऽस्त्वित्यपरं नाम ॥^B यदा प्रेयसी केनचित् कारणेन प्रियतमेऽपि पत्यौ कुप्यति तदा सञ्ज्ञा-
तस्य कोपस्य ‘मान’—सञ्ज्ञा भवति । तादृशस्य मानस्य कारणाद्वयमस्ति—प्रणयः, ईर्ष्या च ॥^C प्रियाप्रियवो-
प्रेमरसाऽप्लावितहृदययोः सतोरपि कदाचिद् भवत्येव कारणकोपः, इयमेवाऽस्ति कुटिलागतिः प्रेम-
प्रवाहस्य । अयमकारणकोपः प्रणयमान इच्युच्यते ॥^D अथ च यदा प्रेयसी स्वकीयं पति प्रियं वाऽन्यस्या-
नायिकायांमनुरक्तं पश्यत्यनुभिनोति शृणोति वा तदा तस्मिन् प्रिये तस्यायः कोपो जायते स
भवतीर्ष्यामानसंज्ञकः ॥^E अन्यप्रियासञ्ज्ञस्याऽनुभिनोति भवन्ति त्रीणि कारणानि-उत्स्वर्णायितम् भोगाङ्कु-
गोत्रस्वलनञ्च ॥^F

ऐवं मानसंज्ञकं विप्रलभ्मशृङ्गारं प्रतिपाद्य तानुपायान्तर्दिशत्याचार्यो विश्वनाथो
येरेतस्य मानस्य भज्ञो जायेत । तटनुसारं साम, भेदः, दानम्, नतिः, उपेक्षा, रसान्तरञ्चेति प्रिया-
मानमञ्जस्य पडुपाया भवन्ति ॥^G एतेषु कुपितकामिनीप्रसादनोपायेषु नतिसंज्ञक उपायो विशिष्टं स्थानं
भजते । मानमञ्जाय प्रियतमाचरणप्रणिपतनमेवाऽस्ति नतेस् तात्वर्यम् ॥^H सेयं चरणप्रगतिः प्रेयसी-
मानमञ्जोपायतया संस्कृतकवीनामिष्टतमा प्रतिभाति । काव्यप्रकाशे समाध्यलङ्कारस्य यदुदाहरण-
प्रस्तुतं तत्रापि नतिरेव प्रयुक्ता । तच्चेत्यम्—

‘मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्ठतः ।

उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥’²¹

पूर्वोक्तल्य मानस्य संस्कृतसाहित्ये यथाऽस्त्वितिशयो महिमा तद्भज्ञोपायरूपाया उपरि-
निर्दिष्टाया नते: प्रधानतयाऽवस्थानमत्र प्राचुर्येण दृष्टिपथमायाति । प्रेयसीमानस्तु तासु तासु कृतिष्ठु-
प्रधानतया विराजते । यद्यपि रामायणे राजानमुद्दिश्य कैकेय्याऽनुष्ठीयमानः कोपो ‘मान’—सञ्ज्ञा-
विप्रलभ्मकोटी नाऽप्याति, तस्य राजनीतिप्रेरितत्वात् प्रणयेष्याऽसमुद्भवाच्च; तथापि तस्य मानस्याऽपि-
निराकरणोपायतया प्रयुज्यमाना नतिरवलोक्यते । राजा दशरथेन पुरा प्रदत्तयोर्वर्योरेकेन रामाऽभि-
षेकसम्भारेण भरतस्याऽभिषेकम्, अन्येन च चतुर्दशवर्षात्मकं रामस्य दण्डकारण्यनिवासमुद्दिष्ट-
क्रोधागारमभिद्रुतायाः कैकेय्याः प्रसादनायेममेवोपायमनुष्ठितवान् महीपतिः ॥²² द्रष्टव्यमत्र दशरथ-
वचनमशृङ्गारसमुद्भवं कैकेयीमानं निराकर्तुं प्रयुक्तम्—

‘तदलं त्यज्यतामेष निश्चयः पापनिश्चये ।

अपि ते चरणौ सूर्धना स्पृशाम्येष प्रसीद मे ॥’²³

कालिदासप्रभूतिभिः शृङ्गाररससर्वस्वैर् महाकविभिः स्वकीयासु रचनासु मानसंज्ञकवि-
प्रलम्बप्रकारस्य तद्भज्जोपायस्य नतेष्च हृष्टं वर्णनमकारि । महाकविवाणभट्टस्याऽश्रयदाता श्रीहर्ष-
वर्द्धननृपतिः (६०६-६४८ ई०) महाकविरप्यासीदिति तद्विरचितनागानन्दरत्नावलीप्रियदर्शिकासंज्ञैर्
नाटकत्रयैः सुतरां सिद्ध्यति । एतन्महाकविविरचितयां रत्नावलयां नाटिकायामेतस्येस्योद्भूतस्य
मानस्य तदुपायस्य प्रणेतेश्चाऽत्यन्तसुन्दरं निर्दर्शनमुपलभ्यते तृतीयेऽङ्गे । विरचितवासवदत्तावेषा
सागरिका यथा समयं समागतेति मत्वा राजा सर्वमपि निजदृदयस्थं प्रेम तस्यै समर्पितवान् किन्तु
वस्तुतो वासवदत्तैवेयं न खलु सागरकेति तस्याः सरोषवचनैरभ्यजानात् । तद्वचनानि यथा-

‘वासवदत्ता— (सरोषमवगुण्ठनमपनीय) आर्यपुत्र ! सत्यमेवाहं सागरिका । त्वं पुनः
सागरिकोत्क्षिप्तहृदयः सर्वमेव सागरिकामयं पश्यसि ।’^{25A}

ईर्ष्याजनितमानस्यैतदस्ति शोभनमुदाहरणम् । अथ चैतन्मानस्य निराकरणार्थं तदानीमेव
नतिसंज्ञकोपायोऽप्यनुष्ठितो महाराजेन । द्रष्टव्यान्यत्र राज्ञः प्रणतिवचनानि—

‘आताच्छ्रतामपनयास्यविलक्ष एव

लाक्षाकृतां चरणयोस्तत्र देवि मूर्धन्न ।

कोषोपरागजनितां तु मुखेन्दुविम्बे
हर्तुक्षमो यदि परं करुणामयि स्यात् ॥^B

यद्यप्यत्र मानभज्जार्थमनुष्ठीयमाना प्रणतिर् भट्टिन्या वासवदत्तायाः सरोषप्रस्थानान्
निष्फलेव प्रतीयते । यथा—

‘राजा— (मुखमुन्नमय्य दृष्ट्वा) कथम्^C अकृत्वैव प्रसादं गता देवी तथापि प्रभाव्यु-
पायतया स्वीकृताया नतेर एतादृशी नियतिर् नैव शक्यते भवितुम् । विघ्नबाहुल्यात् तत्कालं निष्फलेव
प्रतीयमाना साऽनन्तरभाविनि काले स्वसामर्थ्यं प्रदर्शयति । तद्यथा—

‘वासवदत्ता— कञ्चनमाले ! तथा चरणपतितमर्यपुत्रमवधीर्य गच्छन्त्याऽतिनिष्ठुरमेव
मया कृतम् । तदिदानीं स्वयमेव गत्वाऽनुनेष्यामि ।^D

अनुनयार्थं समागता वासवदत्ता स्वयमनभिज्ञातैव सागरिकायै स्वप्रीतिमर्पयतो राज्ञो
वचनानि शृणोतीत्थम्—

‘श्वासोत्कम्पिनि कम्पितं कुचयुगे मौने प्रियं भाषितं
वक्त्रेऽस्थाः कुटलीकृतभ्रुणि रुषा यातं मया पादयोः ।

इत्थं नः सहजाभिज्ञात्यजनिता सेवैव देव्याः परं
प्रेमाबन्धविवर्धिताधिकरसा प्रीतिस्तु या सा त्वयि ॥^E

यदिदं कुचयुगयोः कम्पने कम्पनम्, मौने प्रियमाषणम्, रोषे पादपतनमिति वासवदत्ता-
मुपलक्ष्याऽनुष्ठीयते सर्वं तदिदं तस्याः सेवैव, किन्तु या तात्त्विकी प्रीतिः सा तु सागरिकायामेवेत्यस्ति
राज्ञोऽभिप्रायः । सहस्रिकानामेवेदं सहजं यत् प्रेमनिवेदनं कुर्वन् देव्या वासवदत्तया गृहोतो राजा
पुनः प्रणतिमनुतिष्ठति—

‘राजा— (देवीं दृष्ट्वाऽस्तमगतम्) सत्यमेव मग्नुखावसानं नाम । किमिदानीं करिष्ये ?
(प्रकाशम्) देवि ! न खल्वकारणे मामुपालब्ध्यमर्हसि । सत्यं त्वामेव मत्वा

वेषसादृश्याद् विप्रलब्धा वयमिहागताः । तथापि क्षम्यताम् (इति पादयोः पतति)^F
इत्थमेतस्यां रत्नावल्यां नाटिकायामीष्यजिनितमानस्य तन्निराचिकीर्ष्या प्रयुज्यामानाया
नतेष्चाऽस्त्यतिशोभनः सन्दर्भः ।

अथ च येन महाकविना शृङ्खारस्य सर्वे पक्षाः निजकल्पनावैखरीभ्यां सम्यग् विभासिता
लघुतमेऽपि काव्यबन्धे, यस्य शृङ्खाररसस्यन्दिनो मुक्तकाः प्रवन्धायमानाः प्रसिद्धा एव,²⁶ तस्य
'अमरुक'- महाकवेर उल्लेखं विना संस्कृतसाहित्ये शृङ्खाररसमाश्रित्य प्रवृत्ता चर्चा सर्वथाङ्गुणेव
स्यात् । अनेन महाकविना स्वकीये शतके विविधानि रूपाणि मानस्य विलक्षणकवित्वभङ्गया प्रद-
शितानि । तस्य च मानस्यापाकरणार्थम् अनेन उपायभूताया विविधरूपाया नतेरप्यनल्पेषु (द्वादश)
पद्येषु महिमा प्रतिष्ठापितः । ^{27A} सर्वाण्यथेतानि पद्यानि कवित्वप्रतिभायाः सुन्दरतमानि निदर्शनानि
सन्ति । किप्रफलप्रदातृत्वे चैतस्या नाऽस्ति स्वल्पस्यापि सन्देहस्याऽवकाशः । प्रमाणात्वेन चाऽत्र
अमरुकस्याऽयमतिप्रसिद्धः इलोको द्रष्टव्यः—

'सुतनु ! जहाहि मानं पादानतं मां

न खलु तव कदाचित्कोप एवं विधोऽभूत् ।

इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताक्षया

नयनजलमनल्पं मुक्तमुक्तं न किञ्चित् ॥^B

एतस्मिन् अमरुकशतके ईर्ष्याजन्यमानस्य समुपलभ्यन्ते उदाहरणानि बहूनि, प्रणयजन्य-
मानस्य पुनः विरलान्येव दृष्टिपथमायान्ति । प्रेमगर्भितमानस्य प्रतिनिधिभूतमेतदस्ति सुन्दरं निदर्शनम्—

'आशड़क्य प्रणति पटान्तपिहितौ पादौ करोत्यादराद्

व्याजेनागतमावृणोति हसितं न स्पष्टमुद्वीक्षते ।

मर्यालापवति प्रतीपवचनं सख्या सहाभाषते

तन्यास्तिष्ठतु निर्भरप्रणयिता मानोऽपि रम्योदयः ॥^C

एवमेवाऽन्येष्वप्युपरिनिर्दिष्टाऽमरुकपद्येषु मानभङ्गोपायभूताया नतेरनेकरूपत्वं महत्वं
प्रभुत्वञ्च लोचनगोचरीभवति ।

अलमतिप्रपञ्चितेन । कालिदासस्तु प्रायः सर्वेषामप्युत्तरवर्तिनां कवीनामस्ति प्रेरणास्रोतः ।
एतद्विरचितानि काव्यान्युभयविधमानेन चकासति । तद्भङ्गोपायतयाऽनुष्ठीयमाना नतिष्चाऽत्र हृद्यतरा ।
ईर्ष्याजन्यमानस्य निरूपणे उत्तरवर्तिनः कवयः सन्ति पटवः, न च तथा प्रणयजन्यमानस्य वर्णनायाः
सन्ति । उभयत्राऽपि कालिदासः समानसिद्धिः ।

ननु क इवाऽयः प्रणयजन्यमानस्य यन्निराकरणार्थं नतिविहिता काव्यशास्त्रविद्वः प्रयुक्ता
च तैस्तैः कविभिः ? मानस्तु कोप²⁸ इति प्रतिपादितं पूर्वमेव । ईर्ष्यादिना कोपजन्यत्वे नाऽस्ति
किञ्चिदपूर्वम्, किन्तु प्रणयोऽपि कोपं जनयति किम् ? इयमेवाऽस्ति प्रेमणः कुटिला गतिः । ईर्ष्यादि-
दृशाऽकुपिताऽपि नायिकाऽनुकूलाऽचरणार्थमाराध्यत एव नायकैः कदाचित् प्रणिपातेनाऽपि । कुपिताया
इवाऽनुरक्ताया श्रपि प्रच्छन्नाऽनुरागायाः कृत्रिमकोपाया वा नायिकाया भवत्येव प्रसादनम् ।

कालिदासस्य काव्येषु प्रणयजन्यमानस्य निराकरणार्थं प्रयुज्यमानाया नते: सुन्दरतमं निर्दर्शनं नेघदूतेऽस्माभिरवलोक्यते । प्रियावियुक्तो यक्षो मेघमलकापुरीमार्गं निर्दिश्य स्वप्रेयसीलक्षणानि चाऽभिवाय निवेदनीयसन्देशं प्रियायै समुद्रदिष्टमेवमाह —

'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागः शिलाया-

मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

अस्मैस्ताव न्मुहुरूपचितैर्दृष्टिरातुर्प्यते भे

कूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥'२९

— ‘प्रणयकुपितां त्वां शिलायामालिख्य त्वत्प्रसादनार्थं यावदहं ते चरणयोरात्मानं पातयितुमिच्छामि तावदेवोपचितैरश्चुभिर् मदीया दृष्टिर् आवृत्ता भवति । हा हन्त, निर्दयः कृतान्तस्तस्मिन् चित्रेऽपि काल्पनिकभपि सङ्गमं न सहते ।’ अत्रोलिलवित्प्रियाकोपस्वरूपविषये नाऽस्ति कश्चनाऽपि विवेचनाऽवकाशः, ‘प्रणयकुपिताम्’ इत्येवं कोपस्य स्ववचनैरेव प्रणयजन्यत्वनिर्देशात् । अत्र यक्षिणीसन्दर्भे ईर्ष्यजन्यमानस्य सम्भावनाया अप्यवकाशो नाऽस्ति, ईर्ष्याकारणस्याऽन्यप्रियाऽस्तक्ष्यादेः सर्वथाऽभावात् । एवं प्रणयजन्य एव यक्षिणीकोपो भवितुमर्हति न त्वीर्ष्यजन्यः । अतः ‘प्रणयकुपिताम्’ इत्युचितमेवाऽस्ति विशेषणम् । एतस्य प्रणयकोपस्य निराकरणार्थं ‘चरणपतनम्’ एवाऽनुष्ठितमित्यस्ति स्पष्टम् । अश्रुकृतः प्रेयसीचित्रदर्शनोपरोधः श्लोकेऽत्र निर्दिष्टः शाकुन्तलस्य श्लोकमिमं स्मारयति —

‘प्रजागरात् खिलीभूतस्तस्याः स्वन्ने समागमः ।

वृष्टपस्तु न ददात्येना द्रष्टुं चित्रगतामपि ॥'३०

शाकुन्तलस्य सप्तमेऽङ्के शाकुन्तलामानस्य निराकरणार्थं दुष्यन्तेनाऽनुष्ठितस्य प्रणिपतनस्य शोभनं निर्दर्शनमस्मदीयदृष्टिपथमायाति । मारीचाऽश्रमं प्रविष्टं शकुन्तलां प्रत्यमिज्ञातवन्तं पश्चात्तापाऽकुलितमानसं शकुन्तलया वाष्पकण्ठ्या ‘जयतु जयत्वार्थं पुत्रः’ इत्येवं सम्बोध्यमानं दुष्यन्तमुद्दिश्य वालः सर्वदमनः शकुन्तलां स्वमातरमेवं पृष्टवान् —

‘बालः — मातः ! क एषः ?’

‘शकुन्तला — वत्स ! ते भागधेयानि पृच्छ ।’^{३१A}

इत्युत्तरं च श्रुत्वाऽपराधभावनावासिताऽन्तःकरणो दुष्यन्तः शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्यैवोक्तवानित्यम् —

‘राजा — (शकुन्तलायाः पादयोः प्रणिपत्य)

‘सुतनु हृदयात् प्रत्यादेशव्यलीकमर्पयतु ते

किमपि मनसः सम्मोहो मे तदा बलवानभूत् ।

प्रबलतमसामेवं प्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः

स्वज्ञमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्क्या ॥^{३१B}

अत्र प्रकृतस्थलस्य श्रुङ्गारपरत्वे नाऽस्ति सन्देहः । तिरस्कर्तारं दुष्यन्तं प्रति शकुन्तलायाः प्रसांदस्य तु नाऽस्ति कश्चनाऽप्यवकाशः । तं प्रत्यस्या मान एव भवितुमर्हति । किन्तवेतस्य मानस्य

स्वरूपविषये सुतरामस्ति सन्देहाऽवकाशः । 'शकुन्तला - प्रसादस्याऽवकाश एव नास्ति' इति यदुपर्युक्तम्, तेन शकुन्तलामानः प्रणयजन्यो नाऽस्तीति स्फुटं प्रतीयते । ईर्ष्याजिन्योऽपि नाऽस्ति ईर्ष्याद्यिभावात् । दुष्यन्ताभेदया सा स्वाकीयं भागधेयमेव स्वविपत्तेः प्रकृष्टं कारणं मन्यते । दुष्यन्तेन प्रत्यादिष्टायाः शकुन्तलाया विषये पुरोहितनिवेदिता सूचनेयं द्रष्टव्या -

'सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला
बाहूत्क्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता ॥'^C

दुष्यन्तं प्रति च कोपभाव एवाऽस्त्यस्याः -

'शकुन्तला - कथमनेन किंतवेन विप्रलब्धाऽस्मि । युवामपि मां परित्यजथः ॥'^D
यद्यप्ययं दुष्यन्तं प्रति शकुन्तलाकोपो नाऽस्ति प्रणयजन्यो नाऽपि ईर्ष्यसिमुद्भवः, तथाप्यत्र कोपत्वे, कोपस्य शृङ्गारान्तर्गतत्वे वा नाऽस्ति कश्चन संशयः । तस्यैतस्य शकुन्तलामानस्य निराकरणार्थं दुष्यन्तेन प्रणिपतनमेकोपायत्वेनाऽनुष्ठितम् ।

कालिदासकाव्येषु ईर्ष्यासिमुद्भवमानस्य तन्निराकरणोपायस्य नतेश्च निपुणतरा प्रस्तुतिर् मालविकाग्निमित्रे समुपलभ्यते । अस्यैव मालविकाग्निमित्रस्थलस्य पश्चाद्वितिरत्नावल्यादिनाटिकाः प्रतिच्छवितवैव प्रतिभान्ति । रत्नावल्यां तु यथा ईर्ष्याजिन्यो मानः प्रणतिश्च प्रतिपादिते तथा पूर्वै परिचयः कारित एव । मालविकाग्निमित्रस्य तृतीयाङ्कोपनिवद्वे मानप्रणाती तस्याऽपि प्रेरणास्रोतस्त्याऽवगन्तव्ये । नृत्याचार्यद्यनृत्यस्पर्धायां मालविकां दृष्ट्वाऽग्निनित्रो मलविकायां भृशमनुरक्तो जातः । तृतीयाङ्के मालविकाविरहकषितो विदूषकेण सह विनोदनार्थं प्रमदवने प्रविष्टोऽग्निमित्रो धारिणी-विनियोगमशोकदोहदव्यापारेणाऽनुतिष्ठन्ती वकुलावलिकासहितां मालविकां लतागुल्मान्तरितो भूत्वा सस्पृहमवलोकयति । स्वाभिलिपिं सेवावकाशं^{32A} सम्प्राप्याऽग्निमित्रो मालविकायै स्वमनोरथमेवं निवेदयति -

'धृतिपुष्पमयमपि जनो वधनाति न तादृशं चिरात्मभूति ।
स्पर्शमृतेन पूरय दोहदस्याऽप्यनन्यरुचेः ॥'^B

— 'अशोकवृक्षो यथा पुष्पं न वहति तथैवाऽयमपि जनो धृतिपुष्पं न धारयति । अतो निजस्पर्शमृतेनाऽस्याऽपि जनस्य दोदहं मनोरथं पूरय ।' इत्येवं राजनि मालविकायै निवेदयति सति तत्रैव लतागुल्मान्तरिता इरावती सहस्रोपसृत्य सरोषमेवमवोचत्-

'इरा०- (सहस्रोपसृत्य) पूरय पूरय । अशोकः कुसुमं न दर्शयति । अयं पुनर्ने पुष्प्यति फलतयेव ।'^C

इत्येवं रुष्टां देवीमिरावतीं प्रसादयितुमस्य सर्वोऽपि वैखरीवैभवो यदा व्यर्थतां गतस्तदाऽन्तिमोपायरूपेण नितिमेवाऽनुष्ठितवानयम् । तच्चेत्यम् -

'राजा- (सरसनं हस्तमवलम्ब्य),

अपराधिनि मयि दण्डं संहरपि किमुद्यतं कुटिलकेशि !

वद्यसि विलसितं त्वं दासजनायात्र कुप्यसि च ॥

नूनमिदमनुज्ञातम् (इति पादयोः पतति)^D

किन्त्वेषा चरणप्रणनिरपि इरावतीरोषनिराकरणोऽक्षमा जाता । द्रष्टव्यान्यत्र तद्-
वचनानि—

‘इरा०— न खलिवमौ मालविकाचरणौ यो ते हर्षदोहदं पूरयिष्यतः ।
(इति निष्क्रान्ता सचेटी)^E

तत्र निपतितराजानं विदूषकः समुत्थापयति—

‘विदू०— उत्तिष्ठ, अकृतप्रसादोऽसि ।^F

एवमस्माभिः स्पष्टमवलोक्यते यद् उभयविधमानस्य निरूपणे तन्निराकरणोपायस्य
नतेः प्रतिपादने च समानसिद्धः कालिदासोऽयम् ।

सन्दर्भः —

१. अभिज्ञान शाकुन्तलम्, ७. ३१
२. कुमारसम्मवम् १. ६
३. विक्रमोर्वशीयम्, ४. ६
४. शाकुन्तलम्, ३. ६
५. कादम्बरीकथामुखम्, १७ (वैद्य, पूना)
६. महाभाष्यम्, आ० ८, १. १. ५६
७. प्रतिमानाटकम्, १. २७
८. गीतगोविन्दम्, १२. २
९. शाकुन्तलम्, ३. १८
१०. मेघदूतम्, २. ३३
११. गीतगोविन्दम्, १०. ६
१२. तदेव, १०. ७
१३. मालविकाग्निमित्रम्, ३. ११
१४. तदेव, ३. १२
१५. मेघदूतम्, २, १५
१६. मालविकाग्निमित्रम्, ३. १३
१७. तदेव, ३. १६
१८. तदेव, ३. १७
१९. विक्रमोर्वशीयम्, ४. ३४
- २०A. साहित्यदर्शणम्, ३. १८७; B. तदेव, १६८; C. तदेव, D. तदेव, १६९, १६६; E. तदेव,
१६६. २००, F. तदेव; G. तदेव, २०१; H. तदेव
२१. काव्यप्रकाशः, १०. ५३४
२२. रामायणम् (अयोध्याकाण्डम्), ११. २३-२७
२३. तदेव, १२, १४. १५,
२४. तदेव, ३६, १११, ११२

- २५A. रत्नावली, पृ० ६३ (The Balamanorama Press, Mylapore, Madras, 1938)
 B. तदेव, ११५; C. तदेव, पृ० ६३; D. तदेव, पृ० १०१; E. तदेव, ३.१६; F. तदेव, पृ०, १३
 २६. घवन्यालोकः, ३.७
- २७A. अमरुकशतकम्, २०, २५, ३८, ३६, ४७, ४६, ५१-५२, ५६, ६८, ८२, ८० ६२
 B. तदेव, ३६; C. तदेव, ४७
२८. साहित्यदर्शणम्, ३. १८७
२९. भेषधूतम् (उत्तरमेघः), ४२
३०. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ३.२२
- ३१A. तदेव (कालिदास ग्रन्थावली, सं० रेवा प्रसाद द्विवेदी), पृ० ५५४
 B. तदेव, ७.२४ ; C. तदेव, ५.३०; D. तदेव, पृ० ५०८
- ३२A. मालविकाग्निमित्रम्, ३.१३; B. तदेव, ३.१९; C. तदेव; D. तत्रैव, ३.२२; E. तत्रैव; F. तत्रैव

EXCAVATIONS AT HULASKHERA

V. K. Tiwari
Lucknow

Hulaskhera (Lat. 26.^o41' N and Long. 81.^o01'E) lies at a distance of 28 kms. east of Lucknow and 6 kms. east of Mohanlalganj, a tehsil headquarter of Lucknow District, on Lucknow-Raibareilly highway. The ancient site is located to the north-east of Hulaskhera Village, in the centre of a natural lake, locally known as "Karela Jheel" which incidently serves the purpose of deep moat around the ancient settlement. The lake is watered by the Sai river from the south-west, by the Bakh in the west and by Loni from the east. The site turns into an island during the rainy season.

The site covers an area of about eighty acres of land. The mound rises about six meters in height from the surrounding level.¹ The central and the eastern parts of the mound are comparatively more elevated than the north western side, which is under cultivation at present. The netural soil is found to be composed of compact Kankar layer formed due to the continous accumulation of water in the area.

In the north eastern part of the mound there is a temple of Kaleshwari Devi. Though, the present temple, seems to be not very ancient but the idols enshrined in it, are considerable old. A terracotta mother goddess figure of this place was taken to State Museum Lucknow some years back. Another such figure, which is partly damaged is still kept under a tree near the temple. The temple and the said terracotta figure are under worship and a fair is held there on every Monday and Friday in the months of June and July every year. There are two ancient wells of bricks, one is very near the said temple and the other a few yards north of it, both are under the use and are assignable to Kushan period.

The ancient site of Hulaskhera was discovered long back by S. B. Singh of the Archaeological Survey of India² and was selected for trial excavations by the State Department of Archaeology, Uttar Pradesh, during the year 1978-79.³ They are still continued. With a view ascertaining the cultural sequence of the site, a trench of 10x10 m. square sub devided into four quadrants was laid in the north-western part of the mound. Two quadrants were completely

excavated and the remaining two were only partially excavated, owing to the occurrence of different structural phases. The natural soil was struck at a depth of 4.25 metres below the surface. The vertical cuttings revealed that the site was occupied about in the beginning of the 7th Century B. C. to Circa 7th Century A. D. dividable into three cultural periods.⁴

Period-I Circa 700 B. C. to 300 B. C.

The main ceramic industries of this period are Black Slipped, Black and red, northern Black Polished and plain grey wares. The lowest deposit of 80 cm. is represented by the Black Slipped, Black and Red and Plain Grey wares. The Northern Black Polished ware appears to be introduced during the later phase of this period. The distinctive forms in Black Slipped ware consist of bowls with convex sides and featureless rims. Some of the sherds also show light carinations on the shoulders. Dishes with convex sides and sagger base and lids with flared sides and nail-headed rims, having deep grooves on the top are worth mentioning. The Black and Red ware was represented mostly by miniature vases with shapeless splayed out rims and concave neck. The important shapes in the Northern Black Polished ware are dishes with convex sides, flat base and featureless rims, straight sided bowls with slightly averted rims. The common shapes in red ware included dishes with nail headed rims, broad-mouthed vases with collared undercut rims, very short neck and rudimentary grooves on its shoulders, high concave nicked water vessels, miniature pots, basins, storage jars, inverted platter type lids, perforated vases with small legs underneath. A few decorated pot sherds were also found in red ware, having a row of incised triangles and appliques chord designs.

The stratigraphical position of Black slipped ware is somewhat conspicuous. At Bateshwar and Khalua⁵ in district Agra, Kausambi in district Allahabad, Kannauj in district Farukhabad, Alamgirpur,⁶ Hastinapur⁹ & Kaseri¹⁰ in district Meerut and Hulas¹¹ in district Saharanpur this ware has been found in association with the painted Grey ware, while at Jakhera¹² in district Etah and at pariar¹³ in district Unnao, this ware has been found in a period earlier than the painted Grey Ware. At Koldihwa¹⁴ in district Allahabad this ware is reported to occur in the chaleoli thick phase. At Rajghat,¹⁵ Sarai Mohana,¹⁶ prahaladpur¹⁷ in the district Varanasi, Kheragarh¹⁸ in district Balia, Atran- Jikhera¹⁹ in district Etah, Sohagaura²⁰ in the district Gorakhpur and at Sringaverapur²¹ in the district Allahabad this ware has been seen in association with Black and Red ware, in a period contemporaneous with that of painted Grey ware but without physical association the P. G. W.

B. B. Lal who first noticed this ware at Hastinapur, observed that the ware represents a stage when people were experimenting with the manufacture of

N. B. P.²² ware where-as T. N Roy and A. K. Narain²³ find not only the general resemblance between the shapes and paintings of Black slipped ware and the painted gray ware but they propose the possibility that the Black slipped ware might be precursor of P.G.W. and thus it might have influenced the manufacture of P. G. W.

However, the pre-N. B. P. context, appears to be some what reasonable. At Sringaverpur in Allahabad district where this were has been found in traditional association with B & R it has been arsigned to a period ranging from circa 950 to 700 B.C. by the excavator but at Prahalaipur in district Varanasi a period from circa 700 to 500 B. C. has been assigned by the excavator.

No structure has been encountered during this period probably because of the area--limitations. Amongst notable finds, mention may be made of tanged arrow heads, awls made of bone, beads of semi precious stones and T. C., fragmentary bangles of shell and bone, copper ring and fragments of T. C. animal figurines. It is important to note that no iron object was found in the first phase and only a single unidentified object of iron has been found in the second phase. This shows that the first phase of Hulaskhera is preiron phase and thus pre - P. G. W. phase and on this basin the date of Hulaskhera could probably go to a little earlier than what has bean assigned by the excavator.

PERIOD-II Circa 100 B. C. to 200 A. D.

This period is assignable to sunga-kushan phase and is characteriscd by the occurance of red ware ranging from medium to coarse fabric. Although the ceramic industries of the preceeding period ceased to occur in this period but some of the ceramic shapes like high neck water vases storage jare, lipped bowls and inverted platter type lids of the previous period did occur in this period in the red ware. Besides this some new shapes like inkpot type lids, flatbased incurved rimmed bowls, makaramukha or tortorsimouthed spouted vases were also introduced during this period. The pots were decorated by stamping with the potter's stamps bearing Nadiyavarta, an auspicious symbol and leaf designs.

Three successive stractural phase were encountered during this period. In the first structural phase the houses were oriented in the east-west and north-south directions. The burnt bricks used in the buildings normally measure 43x25x7 cms. Vhe bricks are embeaded in the mud mortar with lower four courses in header and the upper courses in the stretcher positlon. The foundation trenches were found very shallow. A bed of compact earth measuring about five centimetres thick used to be spread below the lowest course. The floors inside the houses were generally made of brick--jelly plastered with the fine mud-mortar probably mixed with dung and husk.

Among the most important discoveries of the structural remains of this period was the discovery of a Road or "Rajpath" (Plate No. III) datable to Kushan period. It is 9-80 meters in width and runs in the north-south direction across the lake. Till date it has been uncovered upto 120 meters in length. It is interesting to note that no bridge was made for crossing the lake, instead double box pattern was adopted. In this system two side walls and one central wall measuring respectively 65 cms. and 40 cms. in width were erected. At the intervals of 2-30 merers to 3-00 meters to 3-00 meters crosswalls were provided. All the boxes were filled with the compact blackish clay taken from the lake. The surface of the road was made of brick nodules mixed with earth. The double rectangular boxes were intended apparently to hold the dumped clay in position and prevent it from being washed away by water. The walls of the boxes and the central wall of the road are built in ladder while the side walls are in ladder stretcher masonry bond. The burnt bricks used in the road side are of three different sizes viz. $39 \times 23 \times 6.5$ cms., $37 \times 22 \times 6$ cms. and $35 \times 22 \times 5$ cms. The maximum height of the wall of 1.20 meters consisting of about 12 courses was noticed at the lake side. The said road in the south across the lake stretches brick temple of kushan period. This was partially excavated during 1981-82. A Ekmukha shivalinga of kushhan Period was found here by the villagers of Hulas-khera which they have installed in a modern temple inside the village.

The associated finds of this period comprised a golden plaque of kartikeya figure, silver punch marked coins, copper coins of kushan kings, beads, of semi precious stones, gold coated glass beads and T. C. bangles, iron and bone arrow heads, bone awls, copper antimony & road, iron nails, T. C. flesh rubbers and dye stamps and also human and animal figurines in terracotta. The golden kartikeya figure (Plate No. IV) is a prized antiquity of the Hulaskhera excavation. Kartikeya in standing pose holds a staff like object in the right hand and an unidentified object in the left hand. The trefoil hair are beautified by three crest jewels. The right eye is of the form of a petal enclosed by deep lines and show pupil, indicated by round hole but the left eye is of diamondshape. He wears a dhoti as a loin cloth and a scarf on the shoulders. The ear rings are so large that they rest on the shoulders besides this he also wears necklace and armlets.

PERIOD-III CIRCA 300 A. D. to 700 A. D.

The main ceramic industry of this period is Red Ware ranging from medium to course fabric. The main types comprised huge storage jars, short and high necked water vases, bowls, dishes, lipped bowls, Surahis, spouted vases lids having various type of knobs. Long necked spouted vases (sprinklers) were found in the early strata of the period. High necked water vessels, inkpot type lids, and lipped bowls of the preceeding period also continued. The bowls having short

PLATE I

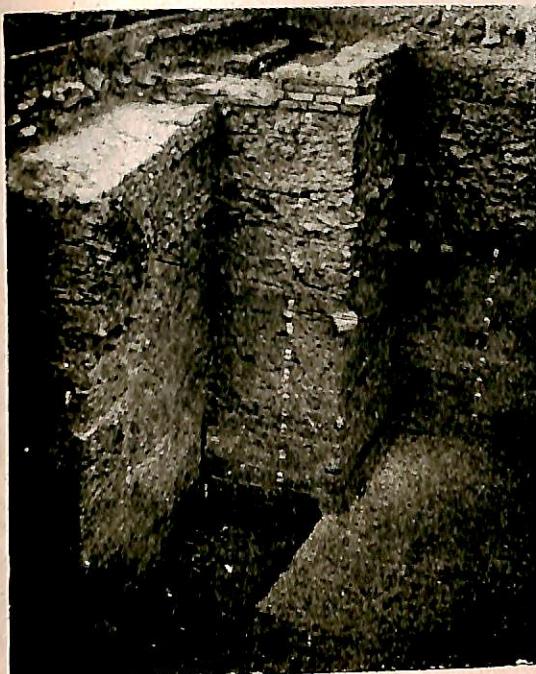


PLATE II

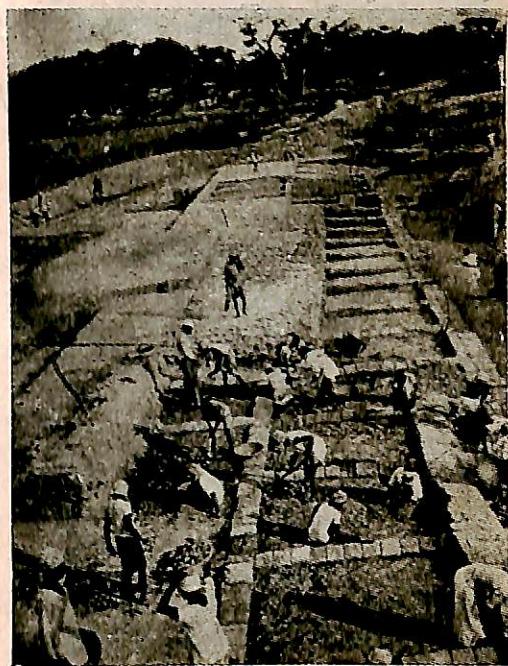


PLATE III

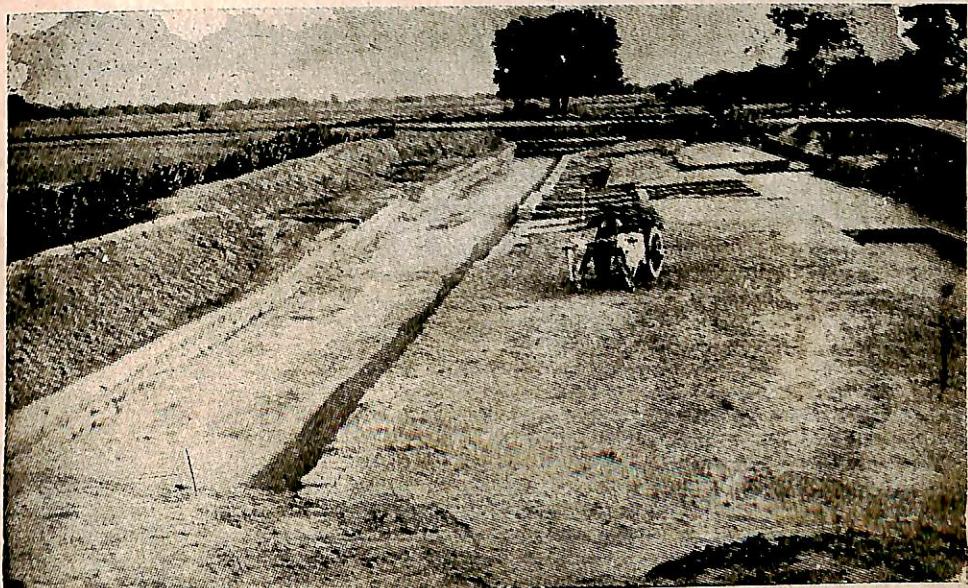


PLATE IV



PLATE VII

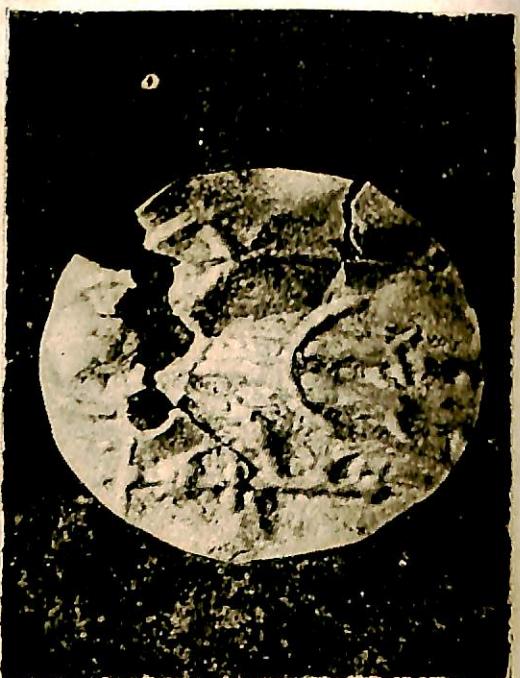


PLATE V

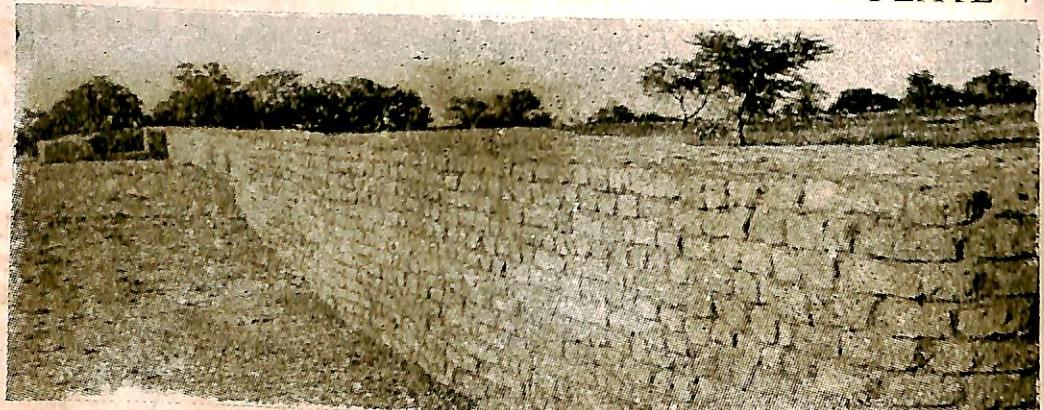


PLATE VI



featurless rims replaced the earlier incurred rimmed bowls. Other new types introduced during this period are rimless deep bowls having convex sides and the round base, luted spouted vases, button knobed lids with the flat base, inverted lid cum incense burner, lids and flared rimmed water vessels. During the last phase a few hollow conical knobbed lids were also found along with the thick melting pots.

During this period three structural phases have been uncovered. The houses were built with the help of brick bats of the preceeding period. The width of the walls of the houses ranges from 35 cms. to 50 cms. The inner front of the walls was made smoother than the exterior surface. The most important building of this period is a brick citadel (Plate No. V) and a big house complex inside it. The citadel appears to be squares in plan measuring approximately 150 sq. meters in length and width. The width of the front wall ranges from 2.50m. to 2.75 meters. The entrance of the front is from the west. It is 2.60 m. in width, having, projections on both the sides. The entrance is restricted by providing a 14.30 meters long and 1.75 meters thick screen wall, erected 3.23 meters apart, resulting into another side entrance opening 2.00 meter, in width. There were high door sills of payed brick bats in both the entrances. The side entrance is provided with the wooden door frame fitted with sheafs and iron bolts. A number of stair cases are provided inside the fortification wall, meant for the soldiers to climb up for defence.

Another important structure of this period is the other road overlying road overlying the eastren edge of the earlier road. This runs in the north-south direction and joins the earlier road of kushan period near the northern bank of the lake. This second road was uncovered to a length of 25 meters. The entire face of the road was built with brick bats in footing pattern while brick bats and earth were filled inside it. The maximum height of 42 cms. containing six brick courses was examined at a point. This road is of 5 meters width and is deemed to contemporarious with that of the said citadel.

The important antiquities of this period comprised terracotta moulded human figurines with vairous hair styles comparable to those found at Ahicchhatra, Rajghat, Mathura and Kanauj etc. seals and sealings bearing legends in Brahmi script copper and silver coins, T. C. balls, flesh rubbers, gamesman, dye stamps, toy carts, and animal figurines. The metal object included iron spear and arrow head, nails, rings, chain and armour like objects having seventeen bars, copper antimony rods and rings. Beads of semi precious stones and T. C. shell, ivory, and glass bangles and ivory combs were also found. A dump of glass bangles with the raw material and melting pots was also encountered. Among the most important antiquarie ramains of this period is a gold plaque with footesque human figure (Plate No. VII) and a gold pladant depicting a standng human figure in shart coat and pyjama, holding a spear in the left and trident in the right and nimbus behind the head.

A good number of carved bricks have been in the Hulaskhera mostly in the form of brick bats. A few of them are seen embedded in the citadel wall. Although no brick temple has been discovered so far but the possibility of a brick temple at the site can not be ruled out. The ancient site of Hulaskhera is very important for studying the material culture of the Sunga Kushan and Gupta periods.

REFERENCES :

1. Singh S. D. and Singh S. B. -- The Archaeology of the Lucknow region, 1972, P. 25.
2. Ibid.
3. "Hulaskhera ka utkhanan", Uttar Pradesh, May 1982, P. 15.
4. Ibid.
5. Indian Archaeology -- A Review, 1975--76, P. 42
6. I. A. R., 1965 -- 66, PP. 41--42.
7. Potteries in Ancient India, edited by B. P. Sinha, 1969, PP. 203--23.
8. I. A. R., 1958--59, PP. 50--55.
9. Lal B. B. -- Excavation at Hastinapura and other exploration in the upper Ganga and Satlej Basins, 1952--56, Ancient India, Nos. 10 and 11, P. 44
10. I. A. R., 1969 -- 70, P. 43.
11. Information received from Shri K. N. Dixit of the Archaeological Survey of India.
12. I. A. R., 1974-75, PP. 43--45.
13. Lal B. B. and Dixit K. N., Pariar -- An eastern outpost of the P. G. W. Puratattva - Bulletin of the Indian Archaeological Society, No. 11, 1979-80 P. 27
14. I. A. R., 1975--76, PP. 45--47
15. I. A. R., 1957--58, PP. 50--51.
16. I. A. R., 1967--68, PP. 48--49.
17. I. A. R., 1962--63, P. 41.
18. Information received from Dr. B. P. Singh, Lecture, College of Indology, B. H. U., Varanasi.
19. I. A. R., 1962--63, PP. 34--36, 1063-64, PP. 43--44.
20. I. A. R., 1961--62, PP. 56--57.
21. Lal B. B. and Dixit K. N. -- Sringaverapura -- A key - site for the Proto-history of the central ganga valley-- Puratattava, No. 10 (1978--79), P. 4
22. Lal B. B. -- Ancient India, Nos. 10 and 11, P. 44.
23. Narain A. K. and Ray T. N., Excavations at PrahladPur, varanasi--1958.

काश्मीर शिवाद्वयवाद के अन्तर्गत क्रम दर्शन की साधना-पद्धति

डॉ० नवजीवन रस्तोगी

लखनऊ

काश्मीर में पल्लवित शिवाद्वयवाद की परम्परा में, मुख्य रूप से उस परम्परा में जिसे अभिनवगुप्त ने तंत्र-प्रक्रिया के अन्तर्गत रखा है, क्रम दर्शन प्राचीनतम सम्प्रदाय है। यद्यपि वर्तमान काल के विद्वानों के बीच यह अपेक्षाकृत नया नाम मालूम होता है। कुल, स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा अथवा त्रिक सम्प्रदायों के साथ ही क्रम की भी गणना हुई है। महानय, महार्थ, कालीनय इत्यादि¹ इसकी अनेक संज्ञायें हैं और तंत्रालोक में इसका सविस्तार प्रतिपादन शाक्तोपाय के अन्तर्गत हुआ है। क्रम दर्शन की विशेषता इस बात में है कि मूलतः शिवाद्वयवाद का अंग होते हुये भी यह अपनी निष्ठा में शक्तिपरक है और शिवाद्वयवाद में शाक्त प्रवृत्तियों के क्रमबद्ध उद्देश का द्योतक है। फलतः अन्य सहोदर सम्प्रदायों के विपरीत क्रम दर्शन में आगे चलकर शिवपरक² और शक्तिपरक निष्ठाओं के इदं गिर्द दो अवान्तर सम्प्रदायों का विकास होता है। इन्हें हम एक प्रकार से क्रम के उत्तरी और दक्षिणी या पारम्परिक और अवाचीन सम्प्रदाय कह सकते हैं। क्रमगत साधना-पद्धति के सम्पूर्ण आकलन के लिये इस विकास को ध्यान में रखना प्रासंगिक होगा। यह बात भी ध्यान में रखना उचित होगी कि काश्मीर शिवाद्वयवाद के सारे संप्रदाय एक पूर्ण दर्शन का निर्माण करते हैं, एक दूसरे के पूरक हैं, उनका मौलिक लक्ष्य एक है, अन्तर है केवल उपासना-विवि में या साधना की परिपाटी में।³

साधनापद्धति की पूर्वपीठिका के रूप में क्रमदर्शन की कुछ मौलिक स्थापनाओं का आकलन उचित होगा। शाक्तोपाय संज्ञा दो बातों की ओर स्फुट रूप से ध्यान खींचती है—एक तो इस दर्शन की उपाय-रूपता और दूसरे शक्ति से आन्तरिक सम्बन्ध। इन दोनों का समन्वित तात्पर्य है कि शक्ति-मान् अर्थात् आत्म तत्व का प्रत्यभिज्ञान शक्तियों के आविष्करण द्वारा होता है।⁴ अभेदात्मक इसलिये कि स्वरूप-उपलब्धि में बाह्य अंश का पूर्णतः अभाव रहता है और भेदात्मक⁵ इसलिये कि विकल्प भूमि होते हुये भी यहाँ विकल्प अपने शुद्ध रूप से उपलब्ध होता है। विकल्प की शुद्धि इस अनुसन्धान में है कि “यह सब मैं हूँ,” अर्थात् विविधता एकता की विरोधिनी न होकर उसी की अभिव्यक्ति है। इसे भेदाभेदोपाय कह कर इसी बात की वाणी दी गयी है।⁶ यह बात महत्त्वपूर्ण है—महार्थमञ्जरीकार हमें आगाह करते हैं—कि भेद-अभेद की अनन्तर कोटि है⁷ और इसीलिए भेद और अभेद के प्रापाततः भिन्न ध्रुवों का सामंजस्य सम्भव है।⁸ क्रमदर्शन में भोग-मोक्ष के सामरस्य के रूप में मोक्ष के जिस स्वरूप की भावना की गई है वह उपर्युक्त दृष्टि का ही यौक्तिक पल्लवन है।⁹

अस्तित्व के स्तर पर होने वाली सत् की इस भेदाभेदात्मक अभिव्यक्ति का वास्तविक अर्थ अनुभूति के अस्तर पर ही उभरता है। शाक्तोपाय को ज्ञानात्मक, विशेषतः प्रमाणात्मक, कहा गया है और बताया गया है कि शास्त्रोपाय अर्थात् कुलदर्शन जहाँ प्रमातृनिष्ठ है और आण्वोपाय अर्थात् द्वैतात्मक शैवमत जहाँ पूरणतः विषयनिष्ठ है, यह शाक्तोपाय दोनों का सम्पर्कसूत्र बनता हुआ प्रमाणनिष्ठ है— भिन्न विषय को ऐक्यभाव से ग्रहण करते हुए प्रमाणा अपने में विश्वान्त करता है। दूसरे शब्दों में, विकल्प ज्ञान के निविकल्प वोध में उदात्तीकरण के माध्यम से ‘यह ऐसा है’ से प्रारम्भ होने वाली प्रक्रिया ‘मैं यह हूँ’ में पर्यवसित होती है।¹⁰ इससे क्रमदर्शन की एक अन्य विशेषता और उजागर होती है। वह है क्रम-मुक्ति की भावना, जैसा कि सम्प्रदाय के नाम से ही स्पष्ट है। प्रत्यभिज्ञा और कुल, जो एक प्रकार से अक्रम या तत्क्षण मुक्ति के पक्षधर हैं, से भिन्न यहाँ बुद्धिनिर्माण या विकल्प के क्रमबद्ध संस्कार के कारण मुक्ति की प्रक्रिया सोपानात्मक या श्रेणी-बद्ध प्रक्रिया है जो इस बात पर बल देती है कि आध्यात्मिक आरोहण का प्रत्येक चरण स्वयं आत्मचेतना का प्रतीक है और मुक्ति की संभावना का बाहक है। अन्य दर्शनों में जीवन्मुक्ति का प्रतिपादन जहाँ सम्भावना-बुद्धि से हुआ है यहाँ वह वास्तविकता के रूप में स्वीकार की गई है। जीवन्मुक्ति के इस प्रत्यय की प्रकृत संदर्भ से हटकर एक अन्य संदर्भ में भी सार्थकता है। वह है आज के मानवतावादी आन्दोलन के संदर्भ में। तंत्र-सम्प्रदायगत सारी धार्मिक और विशुद्ध प्रत्यात्मक संपूर्त अवधारणाओं का यदि परित्याग कर दिया जाये, तब भी अकेले जीवन्मुक्ति का प्रत्यय एक मानवतावादी प्रत्यय है और जीवन की गत्यात्मकता और प्रगतिशील मूल्यवत्ता के प्रति आंतरिक आश्वासन को जगाने में सहायक होता है। साधक के इस आंतरिक आश्वासन को अपेक्षित विस्तार मिलता है। क्रमदर्शन की एक अन्य विशेषता का उल्लेख किये विना यह पूर्व-पीठिका अधूरी रह जायगी। सच पूछिये तो इसी विन्दु से हमारी आगामी यात्रा प्रारम्भ होती है। विकल्प के उदात्तीकरण और संस्करण से क्रमदर्शन जहाँ प्रतिबद्ध है, वहाँ उस उदात्तीकरण की किसी एक विधा से उसने अपने को नहीं बांधा है। तन्त्रालोक के चतुर्थ आहनिक के आदि में ही, जहाँ शाक्तोपाय की चर्चा प्रारम्भ होने जा रही है, अभिनवगुप्त ने यह बात स्पष्ट कर दी है और शाक्त उपाय को उपाय-मंडल के नाम से प्रस्तुत किया है।¹¹ ईश्वर का अनुग्रह या साधक की सामर्थ्य इस विविधता में निमित्त बनते हैं। यह उपाय-वैविध्य क्रमदर्शन का सबसे महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य है। इस उपाय-वैविध्य का एक ऐतिहासिक पक्ष भी है। क्रम की तांत्रिकता की दो अवस्थायें (Phases) हैं। अपने प्राचीन रूप में क्रम का सम्बन्ध तत्त्वचिन्तामूलक और प्रातिभ प्रमेयों से है। तांत्रिक शब्दावली में ज्ञान और योग, चर्या और क्रिया की अपेक्षा, अधिक महत्वपूर्ण है। वस्तुतः कुल और सिद्धांत की तुलना में क्रम अपनी इस विशिष्टता का विशेष रूप से उपयोग करता है।¹² बाद वाले रूप में आग्रह पलट जाता है। फलतः कर्मकाण्डात्मक तथा क्रियात्मक पक्ष प्रधान हो उठता है और गोपनीयता तथा रहस्यात्मकता को अतिरिक्त श्रद्धा से मणिंडत किये जाने का प्रयास स्पष्ट परिलक्षित होता है। मुद्रा, मंत्र, पूजन और पीठ जिनका केवल सरसरी तौर पर ही पहले उल्लेख होता है, बाद के केन्द्रीय विलक्षणताओं के रूप में सामने आते हैं, यहाँ तक कि पीठ का सम्प्रदाय में सर्वाधिक गरिमा के साथ अभिषेक होता है।¹³ शाक्तोपाय की साधनात्मक प्रक्रिया को अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक के प्रथम आहनिक के अन्त में ६ हिस्सों में बांटा है। देखा जाय तो इनमें सभी प्रमेय महत्वपूर्ण हैं। परन्तु जब हम क्रम दर्शन का सम्पूर्ण ऐतिहासिक

विस्तार अपने सामने रखते हैं तो इनमें से विकल्पसंस्क्रिया और संविच्चक्रोदय सबसे अधिक महत्वपूर्ण लगते हैं। इनके अतिरिक्त शक्त्याविष्करण, क्रमचतुष्टयार्थ (या पंचार्थ) भी काफी महत्वपूर्ण हैं। इनमें संविच्चक्र का महत्व इसलिए सर्वाधिक है क्योंकि वह अपने में अपने अतिरिक्त तीनों को ही आवृत्त कर लेता है।

शक्त्याविष्करण शब्द का प्रयोग उत्पल ने किया है (ई०प्र०का० १.१.३)। क्षेमराज ने इसी को “शक्तिचक्रविकास” कह कर शाक्तोपाय की प्रक्रिया-सूची में जोड़ा है। चाहे संसार की स्थिति हो या संसारोत्तीर्णता की, प्रमाता की पंचकृत्यकारिता-सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह --- सदा वनी रहती है। यदि प्रमाता इन शक्तियों के कर्तृभाव से अपने को पहचान ले तो परमेश्वर का स्वरूपबोध तुरन्त हो जाता है^{१४}। जैसे ईश्वर इच्छादि शक्तियों के द्वारा विश्व का निर्माण करता है वैसे ही पशुबुध्यादि के द्वारा विकल्प आदि का। जैसे ज्ञान, क्रिया ईश्वर की की शक्तियाँ हैं वैसे ही सीमित क्षेत्र में पशु प्रमाता की भी। यह बोध ईश्वर का, स्वात्मदेवता का, प्रत्यभिज्ञान कराता है^{१५}। संप्रदाय में पंचकृत्यपरिशीलन की शब्दावली में इसे अनेक जगह स्मरण किया गया है। क्रमचतुष्टयार्थ^{१६} या क्रमपञ्चार्थ^{१७} की धारणा शक्त्याविष्करण की धारणा का ही स्वाभाविक विस्तार है। ईश्वर के पंचकृत्यों को ही पंचार्थ कहा गया है। चतुष्टयार्थ में चतुर्थ तिरोधान में पंचम (अनुग्रह का) ही अन्तर्भव किया गया है। यहाँ की विशिष्ट शब्दावली में अन्तिम दो कृत्यों को क्रमणः अनाध्या और भासा भी कहा जाता है। परवर्ती क्रम सम्प्रदाय में इनका प्रयोग अधिक हुआ है। पंचकृत्यपरिशीलन और चतुष्टयार्थ के प्रत्यय शक्त्याविष्करण के सन्दर्भ में तो समानार्थक हैं, परन्तु पंचार्थ या चतुष्टयार्थ को लेकर उनके विशिष्ट सन्दर्भ में थोड़ा अन्तर है। एक ही शक्ति में— चाहे वह सृष्टिरूप हो या स्थिति, संहार हो या तिरोधान— कृत्यभेद से क्रम की कल्पना करना चतुष्टयार्थ है।^{१८} क्रमदर्शन में परमतत्त्व को कहीं पर परमशिव और कहीं पर कालसंक्षिप्तिः के रूप में प्रतिपादित किया गया है। और जहाँ परमतत्त्व को परमशिव के रूप में ग्रहण किया गया है वहाँ कालसंक्षिप्तिः को उसकी स्वातन्त्र्य या विमर्शरूपिणी शक्ति माना गया है। कलनात्मकता के कारण इसे कालसंक्षिप्तिः कहा जाता है। कलन के धारुगत पाँच अर्थ हैं, क्षेप, ज्ञान, संख्यान, गति और नाद। कलनपंचक और कृत्यपंचक अथवा पंचार्थ के समीकरण द्वारा शक्ति के सातत्य और शेदन दोनों की अवधारणाओं को स्पष्ट किया गया है। व्यक्तिप्रमाता के सन्दर्भ में साधक को आग्रहपूर्वक समझाया गया है कि वह इन्द्रियों को आन्तरिक शक्तियों के केन्द्र के रूप में और विषय जगत् को आत्म चैतन्य के अन्दर प्रत्यावर्तन या प्रत्याहरण के उपकरण के रूप में ग्रहण करे। साधक यदि ऐसी दृष्टि के अर्जन में समर्थ हो पाता है तो सहज स्वातन्त्र्य के अनायास उन्मेष में समय नहीं लगता।^{१९} विज्ञानमैरवौद्योत में शिवोपाध्याय ने क्षेमराज का अनुगमन करते हुए इस पंचकृत्यपरिशीलन से मध्य का विकास माना है।^{२०} यद्यपि सभी सोदर सम्प्रदायों में मध्य विकास की धारणा का उल्लेख हुआ है, परन्तु मध्य का स्वरूप सब में भिन्न है। शास्त्र उपाय में यह अहं-परामर्श रूप है, शाक्त में परासंवित् रूप और आणव में सुषुम्णा रूप। इस मध्यविकास अर्थात् परासंवित् के विकास के कारण रूप में क्षेमराज ने “शक्तिविकास और शक्तिसंकोच” रूप उपाय का उल्लेख किया है।^{२१} शक्ति के संकोच का अर्थ है इन्द्रिय के माध्यम से बाहर फैलने वाली चेतना का अन्तराभिमुखन (प्रतिलोमन) और विकास का अर्थ है अन्तःस्थशक्ति का विना किसी क्रम के

सारी इन्द्रियों के माध्यम से एक साथ वाहा प्रसार। इसी को निमीलन-उन्मीलन-समाधि कहा गया है। इसे ही क्रमशः व्याप्ति या विकास-समाधि और सर्वात्मसंकोच कहा गया है।^{2 2}

प्रकृत प्रसंग में इस बात की ओर ध्यान दिलाना अप्रासंगिक न होगा कि सम्पूर्ण काश्मीर शिवाद्वयवाद में सत् को गतिशील माना गया है। यह गति चक्रात्मक है। इसलिए परमत्त्व को चक्रेश्वर या स्वशक्तिचक्रविभवप्रभव कहा गया है। अतः शक्तिचक्रविकास के प्रत्यय में शक्ति चक्ररूप ही है। सृष्टिचक्र में दश कलाएँ (पञ्चकृत्य, पञ्चकर्तृ-भेद से) मानी गयी हैं, इन्हें योनि और सिद्ध कहा गया है। स्थितिचक्र में २२ कलाएँ हैं—

शिर में अवस्थित औड़ियाण, जालन्धर, पूर्णगिरि और वामरूप चार पीठों के युगनाथ (कर्त्ता, गाता, व्यवसिता, चेता) और उनकी शक्तियाँ (क्रिया, ज्ञप्ति, व्यवसिति, चिति = ५), हृदय के पट्टोण में रहने वाले ६ निरविकार और ६ साधिकार राजपुत्र (अर्थात् बुद्धि, पञ्च कर्मन्द्रियाँ, मन और ५ ज्ञानेन्द्रियाँ = १२) और हृदयपट्टोण के मध्य में वर्तमान कुलेश्वर और कुलेश्वरी (अहंकार और अभिमानशक्ति = २)। संहारचक्र में ११ कलाएँ हैं— अंतः करण (मन, बुद्धि, अहंकार) और १० इन्द्रियाँ। सृष्टि कलाएँ आत्म-आश्यानीभाव की ओर प्रथम औन्मुख्य की प्रतीक हैं। अविर्भूत का संहरणेच्छा पर्यन्त बने रहना स्थिति शक्तियों का काम है। वाह्यतया आभासित पदार्थों का अपने में (अगली सृष्टि की प्रजननक्षमता से युक्त) वासनात्मतया प्रत्याहरण संहार शक्तियों का काम है। इसके बाद क्रम में आता है अनाख्या चक्र जिसे संविच्चक्र भी कहा जाता है और जिसका अभिनव ने स्वतन्त्र रूप में उल्लेख किया है। यहाँ पर यह ध्यान रखना है कि यद्यपि अनाख्याचक्र शक्तिचक्रविकास या क्रमचतुष्टयार्थ के अन्तर्गत आता है। यह एक आत्मनिर्भर प्रत्यय है जिस पर पूर्व के तीनों चक्र आश्रित हैं। यह अनाख्या ही सृष्टि के सन्दर्भ में व्यापिनी, स्थिति के सन्दर्भ में समना और संहार में उन्मना कहलाती है^{2 3}। चतुष्टयार्थ में अनाख्या और भासा को एक ही माना गया है। वस्तुतः अनाख्याचक्र को संविच्चक्र कहने का अर्थ ही है संवित् या ज्ञान को प्रधानता। अतः प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय में प्रत्येक से सृष्ट्यादि क्रमचतुष्टय को जोड़ने पर १२ देवियाँ प्राप्त होती हैं।^{2 4} चूंकि ये सारी देवियाँ विचार की आन्तरिक क्रिया से एकरूप हैं, साधक में निविकल्प चित्, शुद्ध बोध का उदय इन्हीं की शक्ति से संभव होता है। क्रमकेलि के अनुसार अनाख्याचक्र की १२ कलाएँ हमें दूसरी तरह से भी प्राप्त होती हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार में से प्रत्येक कृत्य की सृष्टि, स्थिति आदि भेद से चार-चार स्थितियाँ होती हैं।^{2 5} इन द्वादश देवियों की दूसरी संज्ञा काली भी है और व्यक्ति प्रमाता के सन्दर्भ में इनका स्मरण करणेश्वरी या इन्द्रिय शक्तियों के रूप में भी किया गया है।^{2 6} इन बारह कालियों में आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से सभी महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु पञ्चकृत्यपरिशीलन से जिस मध्यधाम के विकास की कल्पना की गई है वह संहार काली से व्याप्ति, अर्थात् प्रमाणगत चार कालिकाओं में ही संभव होता है।^{2 7} व्याप्ति अर्थात् सर्वात्मविकास, 'यह सब मेरा है' इस प्रकार का शुद्धिकल्प, कालानलस्त्रकाली अर्थात् प्रमातृगत स्थितिस्वरूप में संभव होता है और अलंग्रास तथा पठपाक, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे, महाकाली अर्थात् प्रमातृगतसंहार स्वरूप में संभव होता है। क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृवय में जिस क्रममुद्ग्राका उल्लेख किया है वह इसी संवित्क्रम में ही संभव हो पाती है।^{2 8} इस अनाख्या-चक्र के पौड़शार, द्वादशार, अष्टार, चतुरार एवं सहस्रार इत्यादि अनुचक्रों का भी उल्लेख हुआ है।

पर उनके नामकरणमात्र से ही हम संतोष करते हैं। यह भी ध्यान देना आवश्यक होगा कि द्वादश कालियों का दो संदर्भों में उल्लेख हुआ है—पूजनक्रम में और संवित्क्रम में। इस सन्दर्भ में परबर्ती सम्प्रदाय के एक देश के दृष्टिकोण का उल्लेख अनावश्यक न होगा। महान्यप्रकाश (त्रिवेन्द्रम् संस्करण) के रचयिता शिवानन्द ने अनाव्या चक्र में मैथुन, मध्य और मांस में लिप्त व्यक्तियों की निष्कृति मानी है।

प्रायो हि मैथुने मध्ये मांसे च परिदृश्यते ।
आसक्तिः सर्वजन्तूनाम् विशेषात् कस्यचित् कवचित् ॥
यदि तत्त्यागसंरम्भः पूर्वं तेषां विधीयते ।
उपदेशो न स मनागपि चित्ते प्ररोहति ॥ १.४-५

इसी प्रसंग में आगे चलकर प्रथम चार अवस्थाओं का सम्बन्ध कामियों से, द्वितीय चार का मद्यपों से और अन्तिम चार का मांसभक्षियों से जोड़ा है।²⁹ इन्हीं का आश्रय लेकर उनके चित्त का उदात्तीकरण होता है।

शक्तिचक्रविकास के अन्तर्गत अन्तिम चक्र है भासाचक्र। महेश्वरानन्द के अनुसार शक्ति का वास्तविक विकास और संकोच यहीं संभव है। विकास में ५० मातृकाएँ और संकोच में नव चक्र (सृष्ट्यादि ५ चक्र—मूर्ति, प्रकाश, आनन्द और वृन्द चक्र) एवं पंच पिण्ड का आविर्भाव होता है। इन नव चक्रों की पीठिनिकेतन (देह का स्थूलभाव) की ओर पंचवाहात्मक प्रवृत्ति होती है। पंचवाह में परिणत होता हुआ अनुत्तर कला में पर्यवसित विषय जगत् पिण्ड का नाम पाता है जो वाग्भव बीज में परिणत होता हुआ अनुत्तर कला में पर्यवसित होता है।

इन शक्ति चक्रों को क्रम-सद्भाव नामक आगम में पंच-वाह-महाक्रम भी कहा गया है। संप्रदाय में प्रचलित योग और पूजन आदि के संदर्भ में प्रथम चार की पूजा को क्रमपूजा और भासा चक्र की अर्चना को अक्रमपूजा कहा गया है।³⁰

क्रमदर्शन में संवित्क्रम या पंचकृत्यपरिशीलन के प्रत्यय के असामान्य महत्त्व शकारण ही नहीं हैं। परमतत्त्व की स्वतः स्फूर्ति में केवल सैद्धांतिक ही नहीं वास्तविक सातत्य भी है। यह सातत्य इस क्रम संसार में क्रमिक दशाओं में अन्तः स्यूत पारस्परिक व्याप्ति की प्रत्यभिज्ञा से ही उपलब्ध होता है। इस बात को अलातचक्र और उत्पलदलशतविदलन के रूपकों से समझाने का यत्न किया गया है। यह अन्तर्वर्ती अन्विति केवल अत्यन्त अभ्यास से या अत्यन्त तीव्र शक्तिपात से ही उपलब्ध होती है। इसका परामर्श कर लेना ही जीवन्मुक्ति है।³¹ “तान्त्रिक वाङ्मय-में शाक्तदृष्टि” नामक अपने विश्रुत ग्रन्थ में पूज्य कविराज जी ने इसे तान्त्रिक पूजा का चरम आदर्श माना है।³²

विकल्प-संस्क्रिया का उल्लेख अभिनवगुप्त ने शाक्तोपाय की अन्यतम प्रक्रिया के रूप में सबसे पहले ही किया है। भर्तृहरि के शब्दपूर्वयोग और विज्ञानवादी बीद्र के प्रभाव में यद्यपि इस पद्धति की अवधारणा की गयी जात पड़ती है पर शाक्तोपाय की यह मौलिक पद्धति है। यह इस बात से ही प्रमाणित है कि सारी पद्धतियों के मूल में विकल्प संस्कार की ही धारणा बीज भाव से वर्तमान है। विकल्प का बार-बार चिन्तन करते हुये अस्फुट से स्फुटतम् तत् की प्राप्ति तक

इस प्रकार से गुणान्तरावान करना कि निर्विकल्प की प्राप्ति हो जाये। मोटे तौर पर विकल्प-संस्कार में अस्फुट, स्फुटतामार्वी, प्रस्फुटन, स्फुटतात्मक, स्फुटतर और स्फुटतम अवस्थाओं की कल्पना की गई है और इनमें प्रत्येक दो दशाओं के अंतराल में अश्यत् - स्फुटत्व ईष्टस्फुटत्व, अंकुरितस्फुटत्व, आसूत्रितस्फुटत्व और उद्गच्छत्-स्फुटत्व की संभावना की गयी है। अन्तिम स्थिति को शुद्धविद्यात्मक माना गया है और पदड़ग - योग की अंतिम स्थिति सतर्क से इनका समीकरण माना गया है। विषय - बोध "इदम् इदम् अस्ति" से लेकर "इदम् ग्रहम् अस्मि" तक पहुँचने की प्रक्रिया ही विकल्प संस्कार है। धर्म- प्रत्यभिज्ञान - सर्वो ममायं विभवः, और धर्मि - प्रत्यभिज्ञान-सोऽहम्, दोनों शुद्ध अनुसंवान रूप ज्ञानों से विशुद्ध अभिपरामर्श की प्राप्ति ही निर्विकल्प - स्वरूप का आसादन है। इसकी तुलना योग के प्रातिभज्ञान से की जा सकती है, उसी के अनुकरण पर इसे भी प्रातिभज्ञान कहा गया है।³³ इसका वैशिष्ट्य यह है कि समाविकी व्युत्थानावस्था में भी स्वात्मबोध की सद्यस्कता बनी रहती है। रहस्यामनाय में इसे मध्य - दशा - विश्रान्ति - संस्कार की अभिधा मिली है।³⁴

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि क्रम दर्शन प्रारम्भिक अवस्था में लिंग - पूजा, व्रत, क्षेत्र, पीठ, उपपीठ इत्यादि के प्रति दर्शनीय ही रहा किन्तु (१) तान्त्रिक विचार धारा में पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सामान्यतः स्त्रीकृत समीकरण, (२) अंतर्यामी की धारणा के प्रति पारम्परिक निष्ठा के कारण स्वात्मदेवता के उपास्यभाव से अंगीकरण, ³⁵ (३) क्रमदर्शन की करणेश्वरी चक्र के प्रति असंदिग्ध आस्था, (४) अभिनवगुप्त के देहस्थदेवता-चक्रस्तोत्र में देवताओं के अधिष्ठान रूप में देह के ग्रहण और (५) वाह्य आचार के प्रति परवर्ती संप्रदाय के बढ़ते हुये आकर्षण का संभवतः परिणाम यह हुआ कि देह ने क्रम - साधनों में असामान्य महत्व ग्रहण कर लिया। परवर्ती संप्रदाय में प्राप्य साधना की चार परस्पर उपस्कारक पद्धतियाँ - पीठनिकेतन, वृन्दचक्र, पंचवाह और नेत्रत्रितय - देह को ही केन्द्र मान कर प्रवर्तित की गयी हैं। वस्तुतः अर्चनीय देवताचक्र - रूप में प्रक्रियाएँ ³⁶ एक व्यापकतर प्रक्रिया की अंग हैं।³⁷ इस सर्वोत्तम पूजा के संपादन के लिये परिमत्त कार का कहना है कि साधक को इस शरीर की क्रमशः पीठनिकेतन, वृन्दचक्र और पंचवाह के रूप में भावना और उपलब्धि करनी चाहिए। यह पीठ के क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और पर रूपों के प्रतीक हैं।³⁸

पीठनिकेतन को पीठक्रम भी कहा गया है। इनमें ९ कलाएँ मानी गयी हैं - प्रमाता, औन्मुख्य, इन्द्रिय रूप प्रमाण, वस्तुव्यवस्थापनरूप प्रमा और पंचभूतात्मक प्रमेय। सबसे पहले अपनी चिद्रूपता का परामर्श, फिर उस परामर्श की स्थिरता, तदनु उस परामर्श उद्घोग के रूप स्पन्दन का अनुवर्तन, फिर उसी में और उज्ज्वलता का आधान और अंत में आत्म - विश्रान्ति रूप त्रुप्ति - इस क्रम में गे कलायें व्यापृत होती हैं। कुछ लोग यहाँ पीठ, शमशान, क्षेत्रेश, मेलाप और यजन इन पाँच की स्थिति मानते हैं। इन नव कलाओं का व्योमेशी, खेचरी, भूचरी, संहारभक्षिणी और रोद्रेश्वरी रूप पंचवाह से अभेद है।

वृन्दचक्र का संबंध हमारे सूक्ष्म शरीर से है जिसे काशमीर शिवाद्वयवाद में पुर्यष्टक शब्द से अभिहित किया गया है। पीठनिकेतन का संबंध हमारे मनोभौतिक पर्थिव शरीर से था और वृन्दचक्र का सूक्ष्म लिंग शरीर से। सामान्यतः मन, बुद्धि, अंहकार और पाँच तन्मात्राओं से या पंचप्राण, ज्ञानेन्द्रिय वर्ग, कर्मेन्द्रिय वर्ग और बुद्धि से पुर्यष्टक की रचना होती है,। पुर्यष्टक का शाविदक अर्थ है - द की नगरी। वृन्द का अर्थ है समूह।³⁹ वृन्दचक्र का अर्थ है समूहों का चक्र।

ये समूह हैं १६ ज्ञानसिद्धों के, २४ मन्त्रसिद्धों के, १२ मेलापसिद्धों के और ४ शांभवसिद्धों के। इन्हें शाकिनी भी कहा जाता है और वृन्दचक्र को शाकिनी चक्र। इसी में यदि पंचवाह और रौद्रेश्वरी को जोड़ दिया जाय तो क्रम दर्शन के ७० रहस्य तत्त्वों की प्राप्ति होती है। वृन्दचक्र में सारे कर्मप्रवंच की विश्वान्ति मानी जाती है।^{१०} वृन्दचक्र की ६२ कलाएँ वस्तुतः समस्त सविकल्प और निविकल्प विचार - प्रक्रियाओं की बोधक हैं। क्योंकि मन, बुद्धि और दश इन्द्रिय - वृत्तियाँ (१ + १ + १० = १२) जब पंचवाह में से प्रत्येक के संबंध में ग्रहीत होती हैं तो हम ६० वृत्तियाँ और उनमें जब हम सृष्टि से अनाख्या तक का अर्थचतुष्टय जोड़ते हैं तो ६४ कलाओं की प्राप्ति होती है। भाषा मानने वाले ६५ कलाएँ स्वीकार करते हैं।^{११} ये वृत्तियाँ संवित् के स्वरस से प्रवाहित हो रही हैं - यह भाव प्रत्यावृत्तिक्रम से हठपाक की प्रक्रिया के द्वारा संभव होता है।^{१२} सृष्टि, स्थिति, संहार रूप तीनों उपाधियों का प्रशम जिस स्थिति में होता है उसे अनाख्या कहा गया है। प्रशम दो प्रकार से संभव है - शक्तिक्रम से या हठपाकक्रम से। हठपाक के लिए अलंग्रास नामिका पद्धति का प्रयोग होता है।^{१३} वस्तुतः मौलिक रूप से यह कुलदर्शन की प्रक्रिया थी परन्तु क्रमशः मन्दशक्तिपात्र और तीव्रशक्तिपात्र के आधार पर ये प्रक्रियाएँ क्रम-दर्शन में भी स्वीकार हुईं, यहाँ तक की क्रमदर्शन का अवान्तर सम्प्रदाय - महासाहसचर्चा सम्प्रदाय, जिसका प्रतिपादन बातुलनाथसूत्र में मुख्य रूप से हुआ है- इसको अपना प्राण मान बैठा।^{१४} वृन्दचक्र का ८ दृष्टियाँ से क्रम ग्रन्थों में प्रतिपादन हुआ है - धाम-, मुद्रा-, वर्ष-, कला-, संवित्-, भाव-, पात-, और अनिकेतन- क्रम। वर्ण के लिए मंत्र और संवित् के लिए निरीह शब्दों का प्रयोग भी होता है।

इस क्रम में अंतिम है पंचवाह के रूप में देह का पर पीठ के रूप में भावना। यह देह का आध्यात्मिक भावन है। इसे पंचवाहक्रम के रूप में भी उपस्थापित किया गया है। ये पंचवाह हैं - (१) व्योमवामेश्वरी, (२) खेचरी, (३) दिक्चरी, (४) गोचरी, (५) भूचरी। महाक्रम, खेचक, कुलपर्वत, वामेशी चक्र और वामाचक्र - इसकी अन्य संज्ञाएँ हैं। परासंवित् मानो एक बड़ी भील है जिससे चेतना की धाराये फूटती हैं- इस रूपक के आधार पर इन्हें वाह कहा गया है।^{१५} इन पंचवाह के क्रम को लेकर आचार्यों में मतभेद है। स्पन्दतत्त्व या चित्तशक्ति को वामेश्वरी कहते हैं क्योंकि यह विश्व का अन्दर - बाहर बसन करती है। जीवप्रमाता खेचरी है, अन्तः करण गोचरी, कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ दिक्चरी और स्थूलविषय भूचरी। इनका सम्बन्ध क्रमशः चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों से है। इसी प्रकार वाणी के संदर्भ में परा, सूक्ष्म, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी अथवा विमर्श, विन्दु, नाद, स्फोट और शब्द से इनका समीकरण या पर्यायता बैठायी जा सकती है। पंचवाह का व्यापार द्विविध है। अनुभव और उसके आदिसिद्ध आधार के विश्लेषण द्वारा अनुभूति के मूल स्वरूप की उपलब्धि कराना और दूसरे, प्रमाता, प्रमेय और उनको जोड़ने वाला प्रमाण अनिवार्यतः परम सत् से आसास के रूप में; फलतः उससे अभिन्न रहते हुए, प्रवाहित होते हैं - इस बात का प्रत्यभिज्ञान कराना। यही कारण है कि सारे प्रकार के आवरणों के क्षय के लिए पंचवाह का उपदेश किया गया है।^{१६}

सन्दर्भ : -

१ अतिमार्गक्रमकुलत्रिकस्तोत्रोऽन्तरादिषु । मालिनी विजय वार्तिक, १. १०२

२ तन्त्रालोक, ३०. १

- ३ क्रियादिभेदभेदेन तन्त्रमेदो यतः स्मृतः । तन्त्रालोक विवेक, भाग ३, पृ० २६२
 ४ शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्शयते । ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, १. १. ३
 ५ भेदाभेदो हि शक्तिता । तन्त्रालोक, १. २२० । ६. वही, १. २३०
 ७ तत्र चामेदः प्रकृतिरन्यो विकृतिरिति अभ्युगन्तव्यम् । महार्थ मंजरी परिमल, पृ० ४८-४९
 ८ भास्करी (ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी), भाग २, पृ० १२९
 ९ महार्थ मंजरी परिमल, पृ० १३७ । १०. तन्त्रालोक, १. १४८
 ११ अथ शाकतमुपायमण्डलं कथ्यामः परमात्मसंविदे । तन्त्रालोक, ४, १। १२. वही, ४. २७०-७१
 १३ महानय प्रकाश (शितिकण्ठ), पृ० ५०
 १४ प्रत्यभिज्ञा हृदय (जयदेव सिंह सम्पादित, पृ० ६३)
 १५ तन्त्रालोक विवेक, भाग ३, पृ० २३७ । १६. महानय प्रकाश (शितिकण्ठ), पृ० ४२
 १७ महार्थमञ्जरी परिमल, पृ० ६३ । १८. महानय प्रकाश (शितिकण्ठ), पृ० ४५
 १८ तन्त्रालोक विवेक, भाग ३, पृ० ६४ । २०. प्रत्यभिज्ञा हृदय, पृ० ८२
 २१ विज्ञान भैरव वृत्ति, पृ० ५७ । २२. तन्त्रालोक विवेक, भाग ३, पृ० ३७६
 २३ महानय प्रकाश (शितिकण्ठ), पृ० ४२
 २४ वही (त्रिवेन्द्रम् संस्करण), ९. १६
 २५ तुलनीय महार्थमञ्जरी, पृ० १०४ । २६. तन्त्रालोक विवेक, ३, पृ० ४७
 २७ महानय प्रकाश (त्रिवेन्द्रम् संस्करण), ६. ३७-८; ४० । २८. वही, ६. ४३-४४
 २८ प्रत्यभिज्ञा हृदय, पृ० ८२
 ३० महार्थमञ्जरी परिमल, पृ० १०८ । ३१. वही, पृ० १०६
 ३२ तान्त्रिक बाह्यमय में शक्तदृष्टिः, पृ० ९५ । ३३. तन्त्रालोक, १३, १४६
 ३४ विज्ञानभैरव वृत्ति, पृ० ५१
 ३५ स्वात्मेव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा (तन्त्रराज से म. म. प. द्वारा उद्घृत)
 ३६ महार्थ मञ्जरी परिमल, पृ० ८२ । ३७. वही, पृ० ८३
 ३८ वही, पृ० ९५
 ३९ तदिदं समुदायपूर्वकं किल वृन्दचक्रममुच्यते । म० प्र०, ७.२
 ४० महार्थ मञ्जरी परिमल, पृ० १६४ । ४१. विज्ञानभैरव वृत्ति, पृ० ६८
 ४२ महानय प्रकाश (त्रिवेन्द्रम् संस्करण), ७. ३७
 ४३ तन्त्रालोक, भाग ३, पृ० २६०-६९
 ४४ वातूलनाथ सूत्र १, वातूलनाथ सूत्रवृत्ति, पृ० ३
 ४५ शिव सूत्र बार्तिक (वरदराज), ३.६१-३
 ४६ महानय प्रकाश (त्रिवेन्द्रम् संस्करण), ३. १३०

प्रमातृरूपप्रकाशस्य विमर्श एव जीवितम्

डॉ० रमाशङ्कर मिश्र
फैजाबाद

काश्मीरीय शैव मत में परम सत्ता चेतना और प्रकाश रूप है। प्रकाश का स्वभाव ही विमर्श है। अतः हम कह सकते हैं कि विमर्श ही प्रकाश का जीवन है। विमर्श या स्वातन्त्र्य वह शक्ति है जो आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया की कार्यशीलता के लिए उत्तरदायिनी है। इन शक्तियों में विमर्श समरस रूप में अवस्थित है। यह विमर्श आनन्द रूप है। अभिनव ने इसे चमत्कृति भी कहा है—

कृत्वाधारधरं चमत्कृतिरप्रोक्षणक्षालिताम् ।

उत्पल ने विमर्श को प्रकाश का स्वरूप कहकर उस परमसत्ता के अस्तित्व की पुष्टि की है। उनके अनुसार यदि प्रकाश का स्वभाव विमर्श को न मानें तो प्रमातृरूप प्रकाश स्फटिक और मुकुर के समान हो जायगा, जिसमें अर्थ तो प्रकाशित या प्रतिबिम्बित होंगे, किन्तु प्रतिबिम्बन की ग्राह्यता का ज्ञान उस स्फटिकादि को नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार परम सत्ता भी स्फटिकवत् हो जायगी चैतन्य केवल स्वातन्त्र्य या विमर्श ही एसी शक्ति है, जिससे परम सत्ता को अर्थों के प्रतिबिम्बन की ग्राह्यता का ज्ञान होता रहता है। द्रष्टव्य भी है—

स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।

प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥¹

प्रकाश का स्वभाव विमर्श है— ऐसा न मानने पर अर्थ से अनुरंजित होने पर भी प्रकाश मुकुर तथा स्फटिक के समान जड हो जायगा, किन्तु वह विमर्श के कारण अजड रूप है। जिस प्रकार मुकुर और स्फटिक वस्तुओं का प्रतिबिम्बन तभी करने में समर्थ हो सकते हैं जब कि उनको प्रकाशित करने वाला कोई अन्य प्रकाश हो, व्योंकि अन्धकार में वे वस्तुओं का प्रकाशन नहीं कर सकते। इसीलिए स्फटिकादि को अन्यमुखप्रेक्षी कहा गया है। इसके विपरीत प्रमातृ रूप प्रकाश ऐसा है, जिसमें विमर्श शक्ति के कारण उसे स्वतः को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती। विमर्श के कारण वह स्वयं प्रकाशित रहता हुआ दूसरों को प्रकाशित करने की क्षमता रखता है। इसीलिए उसे अन्यमुखप्रेक्षी कहा गया है। ‘अहमेव प्रकाशात्मा’ का ज्ञान उसे विमर्श के कारण होता है।

स्वातन्त्र्य और विमर्श एक ही है। सूक्ष्म अन्तर यह है कि स्वातन्त्र्य विमर्श के उस पक्ष का नाम है, जो ‘क्यों’ का व्याख्याता है। विमर्श का स्वभाव सृष्टि, स्थिति, आनन्द—सभी सक्रिय स्थितियों में व्यक्त होता है। अभिनव ने इसे इस प्रकार व्यक्त किया है—

अन्यनिरपेक्षतंत्रं परमार्थतः आनन्दः, ऐश्वर्यं, स्वातन्त्र्यम्, चैतन्यम् ।^२

जो कुछ 'इदं' रूप विच्छिन्न सा प्रतीत होता है, उन सब में 'सोऽहम्' इस प्रकार के प्रत्यवर्मण की विश्वान्ति होती रहती है। विमर्श के ही कारण निखिल जगत् अजडत्वरूप आभासित होता है। भवी प्रमाता ऐसे हैं, जिन्हें यह जगत् जड़रूप आभासित होता है, किन्तु केवल सुप्रबुद्ध प्रमाता को ही सम्पूर्ण विश्व शिवमय दीख पड़ता है। विमर्श उन सब भावजातों में विद्यमान है। जैसा कि स्पष्ट भी है-

इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता ।

या स्वस्वरूपे विश्वान्तिर्विमर्शं सोऽहमित्ययम् ॥३

इस तरह यदि विमर्श को प्रकाश का जीवन मानें तो सर्वथा उपयुक्त तथा अपेक्षित ही है। प्रमातृरूप प्रकाश स्वतः 'अहम्' रूप है, किन्तु जब तक उसमें 'अस्मि' का समागम नहीं होता, तब तक उस अहं का अस्तित्व स्फटिकादि के अस्तित्व के समान है। प्रकाश को 'अहं' का ज्ञान 'अस्मि' से होता है, जो उसकी शक्ति के कारण सम्पन्न होता है। विमर्श से ही उसकी इच्छा शक्ति प्रवर्तित होती है। वह प्रमातृरूप प्रकाश प्रत्यवर्मण के प्राधान्य से ही अपने से, अपने में, अपने आप पूर्ण सृष्टि की रचना करता है।

प्रमातृरूप प्रकाश के प्रत्यवर्मण रूप स्वभाव के कारण स्वामी के अन्तस् में स्थित निखिल अर्थजात का प्रकाशन होता है। इससे सिद्ध है कि सृष्टि का कारण विमर्श शक्ति ही है। उस परमशिव के प्रत्यवर्मण रूप इच्छा के बिना भावजात का प्रकाशन ग्रसम्भव है। इस इदन्तया बाह्य प्रतीति में परामर्श विद्यमान रहता है— यह वही 'परामर्श' है जो अन्तस् में स्थित 'अहम्' रूप है। उत्पल ने भावजात के प्रकाशन का कारण इच्छारूप प्रत्यवर्मण को ही स्वीकार किया है—

स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ।

अस्त्येव न बिना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते ॥४

प्रमातृरूप प्रकाश के स्वातन्त्र्य को एक शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसे 'प्रत्यवर्मणात्मा' नाम से अभिहित किया जाता है। शरीर में प्राण ही जीवन है— इसी प्रकार परमेष्ठी का हृदय या प्राण उसकी विमर्शात्मिका शक्ति ही है। शरीर में प्राण का अत्यन्त महत्त्व है— इसी प्रकार 'स्वरसवाहिनी विमर्शात्मिका' शक्ति का महत्त्व है। यह स्फुरणशील है। इसके विषय में देश—कालमूलक कोई प्रश्न नहीं उठता। भवनकर्तृता से युक्त होने के कारण उसे सत्ता कहा जाता है। इस प्रकार जिन विषयों की कल्पना नहीं की जा सकती, उसे भी व्याप्त करने के कारण इसे महासत्ता के नाम से अभिहित करते हैं। द्रष्टव्य है—

महासत्ता महादेवी विश्वजीवनमुच्यते ।⁵

यह प्रत्यवर्मणात्मा विश्व का जीवन है। विश्व चूंकि परमशिव का शरीर है, इसलिए यह शक्ति उस परमेष्ठी का हृदय है। इस निखिल ब्रह्माण्ड में यदि कोई सारवस्तु है तो वही है—

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविज्ञेषिणी ।

संघा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥६

परमात्मा का ऐश्वर्य उसकी स्वातन्त्र्य रूप विमर्श शक्ति हीं है। वह परावाग्रूप है। 'वक्ति विश्वम्' अभिलपति प्रत्यवमर्शेन इति वाक्' अर्थात् प्रत्यवमर्शात्मा शक्ति, विमर्श द्वारा विश्व का अभिलपन करती है। 'पूर्णत्वात् परा'- वह अपने में पूर्ण होने से 'परा' कहलाती है।

'प्रकाश' परमेष्ठी का स्वरूप है और विमर्श रूप 'अहं' (अस्मि) उससे भिन्न कुछ नहीं है। विश्व के प्रकाशन के साथ भावजातों के रूप में वही आभासित होता है। द्रष्टव्य भी है-

प्रकाशो मे निजरूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहंतः ।

यदा प्रकाशते विश्वं तदाहं भास एव हि ॥⁷

सोम, रवि, वह्नि क्रमणः भोग्य, इन्द्रिय और भोक्तृ रूप लक्षणों से व्याप्त हैं। इनमें सूक्ष्म धर्मरूप और विमर्श धर्म वाला पिण्डात्मा विद्यमान रहता है। यह षड्छवों का प्राण है। आमर्शन रूपा यही ज्ञान शक्ति है। वह क्रियारूपा भी है—

स्वाभाविकी स्फुरत्ता या विमर्शाख्या पराभिधा ।

अक्रमाक्रमलूपेव सेच्छाज्ञानक्रियात्मिका ॥⁸

परतत्त्व की अद्वैतता में जो अनेकता है, वह व्यक्त रूप अथवा स्थूल मूर्त रूप नहीं है, वरन् सूक्ष्म और अव्यक्त रूप है। यह अनेकता पूर्ण स्वातन्त्र्य शक्ति के रूप में होती है, जो अपनी अव्यक्त दण्ड में केवल सूक्ष्म 'अहं-विमर्श' रूप होती है। जिस प्रकार दर्शण के विना प्रतिविम्ब का अस्तित्व सम्भव नहीं, स्वप्न-द्रष्टा के विना स्वप्न का अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार अनुभव लोक का अस्तित्व परमतत्त्व रूप चेतना के विना असम्भव है। इसी प्रकार विना विमर्श के प्रमातृ रूप प्रकाश का अस्तित्व सम्भव नहीं। इसीलिए तो प्रत्यवमर्श को प्रमातृरूप प्रकाश का जीवन कहा गया है।

आत्मा के स्वरूप को अन्य किसी की अपेक्षा नहीं होती, वह स्वयं ही प्रकाशन और विलयन सम्बन्धी कार्य को करने में समर्थ है; यही उसका 'स्वातन्त्र्य' कहलाता है। अभिनव गुप्त ने इसे इस प्रकार स्वीकार किया है—

स्वातन्त्र्यमेव च अनन्यमुखप्रेक्षित्वम् आत्मनः स्वरूपम् ॥⁹

'स्वातन्त्र्य' आभासन रूप, विगलन रूप और प्रत्यभिज्ञान रूप है। केवल अपने में जडवत् विश्रान्त न रहना अर्थात् चेतन रहना ही स्वातन्त्र्य है। स्वातन्त्र्य ऐसे प्रकाश का साररूप है, जो किसी के द्वारा परिच्छिन्न नहीं है। उसमें अनन्यमुखप्रेक्षित्व है— अर्थात् स्वातन्त्र्य को स्वातन्त्र्य की ही अपेक्षा होती है— अन्य की नहीं। स्पष्ट भी है—

स्वातन्त्र्यं संयोजनवियोजनानुसन्धानादिरूपं आत्ममात्रतायामेव जडवत् अविश्वन्तत्त्वम् अपरिच्छिन्नप्रकाशसारतत्त्वम् अनन्यमुखप्रेक्षित्वम् ॥¹⁰

यह स्पष्ट है कि 'यस्य स्वतन्त्र्यमेव तस्यैव कर्तृसंज्ञा'- अतः यदि अहन्ता कर्तृत्व रूप है तो वह स्वातन्त्र्य रूप भी है। यही स्वतन्त्रता का सिद्धान्त 'स्वातन्त्र्यवाद' कहलाता है— अर्थात् परम शिव स्वतन्त्र है। वह स्वयं प्रकाशित होता है। वह जड नहीं, अपितु चेतन है। स्वतन्त्र होने के कारण ही उसकी स्वतन्त्रता स्वीकार की जाती है। वह स्वतन्त्र इसलिए है कि वह अपनी स्वतन्त्र

इच्छा से जगत् का आभासन, पालन और संहरण करता है। जिस प्रकार वह सृष्टि करने में स्वतन्त्र है, उसी प्रकार संहार करने में भी। यही उसकी स्वतन्त्रता है—

सृष्टिसंहारकारित्वं पारमेश्वर्यमेव च ।
पूर्णतेश्वरता वापि महाव्याप्तिः स्वतन्त्रता ॥¹¹

स्वतन्त्र इच्छास्वरूप शिव अपने द्वारा, अपनी भित्ति पर पूर्ण सृष्टि को आभासित करता है—‘स्वात्मनः स्वभित्ती विश्वमुन्मीलयति’। परतन्त्र की अद्वैतता में जो एकता विद्यमान हैं, वह व्यक्त रूप में नहीं, अपितु सूक्ष्म और अव्यक्त रूप में है। यह अनेकता पूर्ण स्वातन्त्र्य शक्ति के रूप में होती है, जो अपनी अव्यक्त दशा में केवल सूक्ष्म ‘अहं’ विमर्श रूप होती है। इस प्रकार वह चिति जो प्रत्यवमशात्मा और ‘परावाक्’रूपिणी है, स्वातन्त्र्य धर्म वाली है। यही उसका मुख्य धर्म है—

चितिः प्रत्यवमशात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतत्मुख्यं तदैवशर्यं परमात्मनः ॥¹²

वह परम तत्त्व अनुत्तर है, परमदेव है, स्वतन्त्र है, चिन्मय है और एक है। इस प्रकार अहन्ता की स्वतन्त्रता सिद्ध हो जाती है। वह अहन्ता अपनी ही सत्ता से चिद्रूप होकर, अपने में ही विश्रमित शरीर वाली सदा प्रकाशित रहती है। वह कभी अस्त नहीं होती। वह नित्या है। इन्हीं विशेष धर्मों और गुणों को ही स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, ईशितृत्व और अनन्यापेक्षित्व कहते हैं—

‘सा स्वरसेन चिद्रूपतया स्वात्मविश्वान्तवपुषा उदिता सदानस्तमिता नित्या अहमित्येव । एतदेव परात्मनो मुख्यं स्वातन्त्र्यं ऐश्वर्यं ईशितृत्वम् अनन्यापेक्षित्वम् उच्यते ।’¹³

ईश्वरता, कर्तृता, स्वतन्त्रता, चित्स्वरूपता—ये धर्म अहन्ता के हैं और इन्हें अहन्ता का पर्याय ही कहेंगे। जैसा कि विल्पाक्ष पञ्चाशिका में उद्घृत है—

ईश्वरता कर्तृत्वं स्वतन्त्रता चित्स्वरूपता चेति ।
एतेऽहन्तायाः किल पर्यायाः सद्गृह्यत्वं ॥¹⁴

अतः स्पष्ट है कि अन्यतिरपेक्षता ही परमार्थतः आनन्द है, ऐश्वर्य है, स्वातन्त्र्य है और चैतन्य है। यह उस परम तत्त्व की स्वतन्त्रता है कि वह योगी की भाँति बिना किसी उपादान के सहारे अर्थ-जात को प्रकाशित करता है। उसकी एकरूप स्वतन्त्रता से उसे स्वतन्त्र कहा जाता है। प्रभु आदि नाना संकल्पों से वह व्यवहृत होता है। जैसा कि उत्पल ने कहा है—

स्वातन्त्र्यमुक्तामात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः ।
प्रभुरीशादिसंकल्पेनिर्मायि व्यवहारयेत् ॥¹⁵

प्रभु का इच्छामर्श ही उसका स्वातन्त्र्य है। वह अपने में स्थित समस्त भावजात का उन्मीलन अपने इच्छामर्श के द्वारा करता है। बिना उसकी स्वतन्त्र इच्छा से विश्व का प्रकाशन सम्भव नहीं है।

यह उस परमतत्त्व की स्वतन्त्रता है कि वह एक ही प्रकाश रूप होकर नाना आभास वैचित्र्यों को आभासित करता है—‘एक एव प्रकाशः स्वातन्त्र्याच्चित्ररूपः प्रकाशते ।’ अबभासन में प्रकाश रूपता का निमेष और विमर्श रूपता का उन्मेष रहता है। विमर्श का उन्मेष सृष्टि और विमर्श का निमेष प्रलय है—

यस्योन्मेषनिमेषाभ्याम् जगतः प्रलयोदयौ ।^{१६}

स्वात्मरूप में आरोह-अवरोह के कल्पना की क्रीडा करना भी उसका स्वातन्त्र्य है। उन्मेष ही अवरोह क्रम है और निमेष आरोह क्रम। बन्धन उसकी अवरोह लीला है और मोक्ष उसकी आरोह लीला। एक विचित्र लीला का अमिनय करने के कारण उसे एक नर्तक भी कहा जाता है, जो उसकी स्वतन्त्रता का दिग्दर्शन करता है। वह लीला करने में स्वतन्त्र है। वह प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण के रूप में स्वभित्ति पर ‘स्व’ का आभासन करता है। अतः वह त्रितय रूप है।

स्वभाव-स्वातन्त्र्य के कारण वह पञ्चकृत्य में समर्थ है, जिसे उस परम तत्त्व का पञ्चरूपात्मक स्वातन्त्र्य कहते हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह ही पञ्चरूपात्मक स्वातन्त्र्य है। यही उसका ऐश्वर्य भी है। वह सब में है और उसमें सब है-- यह उसकी स्वतन्त्रता है। इसीलिए वह विश्वात्मक भी है और विश्वोत्तीर्ण भी। उसका विश्वात्मक (Immanent) और विश्वोत्तीर्ण (Transcendental) होना ही उसकी परम स्वतन्त्रता का द्योतक है। यही उसका स्वभाव स्वातन्त्र्य है। स्वातन्त्र्य ही परमशिव की सत्ता का प्रमाण है। यदि परमेश्वर सृष्टि आदि पंचविधि कृत्यात्मक क्रीडा नहीं करता और आकाश के समान सदैव एक रूप ही रहता तो वही एक होता और कोई जीव न होता। तब उसकी परमेश्वरता ही न होती। अतः स्वातन्त्र्य ही शिव है और शिव ही स्वातन्त्र्य है। वह ज्ञेय को भिन्नतया आभासित करते हुए उन समस्त ज्ञेयों का आन्तरिक रखता है। यदि उसमें ज्ञेयों की उन्मुखता न हो तो उसकी स्वतन्त्रता ही खण्डित हो जाय। सृष्टि के सम्पादन में वह अप्रतिहत स्वातन्त्र्य रखता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस परमशिव की इच्छा ही उसकी स्वतन्त्रता है—

स्वतन्त्र इति तस्येच्छा शक्तिः स्वातन्त्र्यसंज्ञिता ।

स्वातन्त्र्य और विमर्श के ही कारण वह अनन्यमुखप्रेक्षी है। जिस प्रकार ऐश्वर्य और चमत्कार से युक्त कोई राजा सब प्रकार के वाहनों के होते हुए भी अपनी स्वतन्त्र इच्छा से पैदल चलता है— इसमें उसका स्वात्मविनोद परिलक्षित होता है, उसी प्रकार परमेश्वर स्वात्मपूर्णता के स्वातन्त्र्य के कारण, स्वात्मविनोद हेतु अपनी इच्छा मात्र से शिव तत्त्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त अपने स्वरूपभूत प्रमातृ-प्रमेय आदि विभिन्न रूपों में क्रीडा करता है। सृष्टि-संहारात्मक क्रीडा ही उसका स्वातन्त्र्य है। उसका स्वातन्त्र्य ही आभासन का एक मात्र हेतु है।

सन्दर्भ :—

- १ ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका, १. ५. ११
- २ वही, १. ५. १३ की विमर्शनी
- ३ वही, १. ५. ११ की विमर्शनी
- ४ वही, १. ५. १०

- ५ वही, १. ५. १४ की विमर्शनी
- ६ वही, १. ५. १४
- ७ शिवसूत्र विमर्शनी, प्रथम उल्लास (टीका), पृ० ७ पर उद्धृत
- ८ पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ० ८
- ९ ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका, १. ५. १६ की विमर्शनी
- १० वही, १. ५. १२ की विमर्शनी
- ११ पूर्णता प्रत्यभिज्ञा, पृ० १५
- १२ ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका, १. ५. १३
- १३ वही, (विमर्शनी)
- १४ विरूपाक्ष पञ्चाशिका, १. ८
- १५ ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका, १. ५. १६
- १६ स्पन्दकारिका, १



उत्कल-ब्राह्मणों के गोत्रों तथा प्रवरों का एक अभिलेखीय अध्ययन

डॉ० गौरीशङ्कर तिवारी
फैजाबाद

गंग कालीन ब्राह्मण : गोत्र तथा प्रवर :—

गंग कालीन दानपत्रों से उत्कल (उड़ीसा) के जिन ब्राह्मण गोत्रों के नाम प्राप्त होते हैं, वे इस प्रकार हैं — आत्रेय, आलम्बायन, काष्ठ, काश्यप, कुद्लक, कौण्डन्य, कौशिक, कृष्णात्रेय, गार्घ्य, गौतम, जातुकर्ण, पराशर, भारद्वाज, राथीतर, वत्स, वार्षगण तथा शाण्डिल्य । गलवल्ली दानपत्र (शक सं० ६६८ = १०७६ ई०) के अनुसार राजराज प्रथम देवेन्द्र वर्मा के समय में आत्रेय-गोत्रीय तीन सौ ब्राह्मणों को दान दिया गया था ।^१ वे त्रिप्रवर (त्रयार्षेय) के ब्राह्मण थे परन्तु अभिलेख में केवल एक प्रवर कृष्ण 'श्यावाश्व' का नामोल्लेख है । आपस्तम्ब श्रौत सूत्र में आत्रेय गोत्र के त्रिप्रवर कृष्णियों के नाम 'अत्रि, अर्चनानस एवं श्यावाश्व' उल्लिखित हैं ।^२ वनपति के दीर्घसी अभिलेख (शक सं० ९९७ = १०७५ ई०) से प्रमाणित होता है कि गंगशासक राजराज के समय में आत्रेय गोत्र के ब्राह्मण की बड़ी प्रतिष्ठा थी । दसगोवा दानपत्र (शक सं० ११२० = १९९ ई०) में आलम्बायन गोत्रीय ब्राह्मण का उल्लेख है । काष्ठ गोत्र (काषी-गौ) (गोत्री) के ब्राह्मणों का उल्लेख भी इसी दानपत्र में हुआ है ।^३ काश्यप गोत्र के अनेक ब्राह्मण परिवार उड़ीसा में निवास करते थे जिनका उल्लेख दसगोवा दानपत्र में किया गया है । एक दूसरे गंग दानपत्र से विदित होता है कि महाराजा जयवर्मा के समय में उक्त गोत्र के ब्राह्मण प्रतिष्ठान विषय में रहते थे ।^४ दसगोवा दानपत्र से कुद्लक तथा कौण्डन्य गोत्र (कुद्लक गोत्रों (त्रौ)) के ब्राह्मणों का परिचय मिलता है ।^५

कलिंग नरेश अनन्त वर्मा के काल में कौशिक गोत्र के ब्राह्मण अन्वत्तपुर एवं होम्बरबल में निवास करते थे । इन्द्रवर्मा के समय में इस गोत्र के ब्राह्मणों का केन्द्र तिरिलिङ्ग था । राजराज तृतीय के दसगोवा दानपत्र में भी इनका उल्लेख है । चिकाकोल दानपत्र (गंग व० १८३ = ६८१ ई०) से विदित होता है कि देवेन्द्रवर्मा के काल में कृष्णात्रेय गोत्र के ब्राह्मण कलिंग नगर में रहते थे । राजराज तृतीय के दसगोवा दानपत्र में भी इस गोत्र के ब्राह्मणों का उल्लेख किया गया है । इसी दानपत्र से गार्घ्य गोत्र के ब्राह्मणों का परिचय प्राप्त होता है । अच्युतपुरम् दानपत्र से विदित होता है कि गौतम गोत्रीय ब्राह्मण इन्द्रवर्मा के समय उड़ीसा में थे ।^६ विषमगिरि दानपत्र के अनुसार जातुकर्ण गोत्रीय ब्राह्मणों के प्रवर कृष्णियों का नाम वसिष्ठ एवं जातुकर्ण था । इनके द्विजेष्ठ अनुप्रवर जातुकर्ण का उल्लेख उक्त दानपत्र में किया गया है ।^७

अनन्तवर्मा के दानपत्र (गं० व० २०४=७०२ ई०) से विदित होता है कि पाराशर-गोत्रीय ब्राह्मणों के पूर्वजों का आगमन कामरूप के विषय श्रिज्ञाटिकाग्रहार से हुआ था।^८ उक्त दानपत्र में इन ब्राह्मणों के उक्त मूलस्थान को भ्रमवश वास्तव्य बताया गया है। इन्द्रवर्मा के गौतमी दानपत्र में उक्त गोत्र के त्रिप्रवर ऋषि शक्ति, वसिष्ठ एवं कण्व थे।^९ इस विवरण में कण्व ऋषि का नाम आन्तिवश उत्कीर्ण हुआ है। आपस्तम्भ ने पराशर ब्राह्मणों के त्रिप्रवर वासिष्ठ, शाक्त्य एवं पाराशर्य बताये हैं।^{१०} इनका उल्लेख राजराज तृतीय के दसगोवा दानपत्र में भी मिलता है। भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मणों का उल्लेख कलिंग नरेश सामन्तवर्मा के फेरवर दानपत्र (गं० व० १६५—६८३ ई०) में किया गया है।^{११} वे नगर (कलिंग नगर ?) में रहते थे। देवेन्द्रवर्मा कालीन मुसुनिक दानपत्र (गं० व० ३०६=८०३ ई०) में भी इनका उल्लेख है।^{१२} उक्त गोत्र के ब्राह्मण सामन्तवर्मा, चन्द्रवर्मा^{१३} एवं राजराज तृतीय^{१४} के समय में उड़देश में फैले हुए थे। राथीतर गोत्र (राथीतर-गोत्रः) के ब्राह्मण राजराज तृतीय के समय में निवास करते थे।

अरबन दानपत्र (गं० व० ८० = ५७८ ई०) में वत्सगोत्रीय ब्राह्मणों का निवास उरामल्ल में बताया गया है। इस दानपत्र के अनुसार उनके पंचप्रवर ऋषि वत्स, भूगु, दैर्द, च्यवन एवं जमदग्नि हैं।^{१५} स्वल्प-वेलुर दानपत्र में केवल चार प्रवर ऋषियों भूगु, दैर्द, च्यवन, जमदग्नि का उल्लेख है।^{१६} गोत्रप्रवर निवन्ध कदम्बक का उल्लेख इस प्रसंग में आवश्यक है, जिसमें इस गोत्र के पंचप्रवर ऋषि जमदग्नि, श्रीवं, आप्नवान, च्यवन एवं भूगु बताये गये हैं।^{१७} स्पष्ट है कि उक्त दानपत्रों में दैर्द के स्थान पर श्रीवं का नाम होना चाहिए था। गंजाम दानपत्र (१२वीं शती-उत्तरार्द्ध) में इन ऋषियों की शुद्ध सूची प्राप्त होती है। बदखीमेदी ताम्रशासन में इन्हीं ऋषियों को पंचप्रवर श्रीर अनुप्रवर कहा गया है।^{१८} दानखदेव के दानपत्र में भी वत्सगोत्रियों के पंचप्रवर और पंचअनुप्रवर का उल्लेख हुआ है। गंगदेवेन्द्रवर्मा के समय में भी उक्त गोत्र, प्रवर एवं अनुप्रवर के ब्राह्मण निवास करते थे जिनके पूर्वजों का मूल स्थान उत्तरराढ़ा (वंगदेश) था।^{१९} दसगोवा दानपत्र (शक सं० ११२०=११६६ ई०) से प्रमाणित होता है कि राजराज तृतीय के समय में उक्त गोत्र के ब्राह्मण निवास करते थे। जिरजीगी दानपत्र (गं० व० ३९=५३७ ई०) में विष्णुवृद्ध गोत्रीय ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है। तेकली दानपत्र (गं० व० ३५८=८५६ ई०) से ज्ञात होता है कि अनन्तवर्मा के समय शापिडल्य गोत्र के ब्राह्मण रहते थे।^{२०} इन्द्रवर्मा के तेकली दायपत्र (गं० व० १५४=६५२ ई०) से मालूम होता है कि उक्त गोत्र के ब्राह्मण गरखोन में निवास करते थे।^{२१}

भौमकर कालीन उड़ीसा के ब्राह्मणों के गोत्र—

नेलपुर दानपत्र (ह० सं० १००=७०६ ई०) से सूचना मिलती है कि उत्तर तोसली एवं दक्षिण तोसली के शासक शुभकर के समय में (आठीं शती पूर्वार्द्ध) में नाना गोत्र (अनेक-गोत्र) से सम्बन्धित चतुर्वेदी ब्राह्मण (नाना-गोत्र-चरणेभ्याश = चतुर्विद्य-ब्रह्मणेभ्यो) थे। उक्त दानपत्र में ब्राह्मणों के नाम बताये गये हैं परन्तु उनके गोत्रों का उल्लेख नहीं हुआ है। इनके नामान्तरों की बंग देश से प्राप्त लोकनाथ के तिष्परा दानपत्र एवं कामरूप से प्राप्त भास्करवर्मा के निधनपुर दानपत्र में उल्लिखित नामान्तरों से तुलना करते पर विदित होता है कि वे अनेक गोत्रों के थे। यह

असम्भव नहीं है कि तिप्परा दानपत्र (बंगाल) एवं नेलपुर दानपत्र में वर्णित ब्राह्मण कामरूप के ब्राह्मणों से किसी प्रकार सम्बन्धित रहा हो ।²²

नन्द या नन्दोद्भवकालीन उड़ीसा के ब्राह्मणों के गोत्र-

जुर्रेपुर दानपत्र से अवगत होता है कि उड़ीसा के नन्दशासक देवनन्ददेव के काल में (दशम सदी पूर्वद्विंशती) उलूक गोत्र के ब्राह्मण थे । गोत्रप्रवरनिबन्धकदम्बकम् में उलूक गोत्र का त्रिप्रवर (उदल-देवर एवं विश्वामित्र) बताया गया है । इसकी पुष्टि आपस्तम्बश्रीतसूत्र से भी होती है ।²³ उनके पूर्वज बंग देश के राढ़ा (वर्तमान पश्चिम बंगाल के वर्धवान जिला का सुविळ्यात क्षेत्र एवं नगर) से बहिर्गत हुए थे । इसी कारण उड़ीसा के उलूकगोत्रियों को राढ़ीया ब्राह्मण कहा जाता था ।

नलवंशीय नरेशों के समय में उड़ीसा के ब्राह्मणों के गोत्र एवं प्रवर-

पौडियापठर दानपत्र के अनुसार काश्यप गोत्र के ब्राह्मण का सम्बन्ध आवत्सार प्रवर एवं नैद्रुत अनुप्रवर से था ।²⁴ इनके अतिरिक्त नलवंशीय अभिलेखों में कौत्स एवं पाराशार गोत्र के ब्राह्मणों का उल्लेख है ।

मुद्गलकालीन उत्तर तोसली के ब्राह्मण गोत्र-

इस काल के अभिलेखों में भारद्वाज एवं वत्स गोत्र के ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है ।²⁵

शैलोद्भवकालीन उड़ूदेश के ब्राह्मणों के गोत्र एवं प्रवर-

मेदनीपुर दानपत्र (६१६-२० ई०) से सूचना मिलती है कि शशांक के समय में काश्यप-गोत्रीय ब्राह्मण रहते थे ।²⁶ कौशिक गोत्र के ब्राह्मणों का उल्लेख पुरी दानपत्र में किया गया है,²⁷ वे उत्थय प्रवर से सम्बन्धित थे । परन्तु गोत्रप्रवरमञ्जरी में कौशिक गोत्र को त्रिप्रवर कहा गया है ।²⁸ कौण्डिन्य गोत्रीय ब्राह्मण मानभीत धर्मराज (सातवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध) के समय में थे ।²⁹ भारद्वाज गोत्र के ब्राह्मणों का उल्लेख कई अभिलेखों में प्राप्त होता है ।³⁰ दो अभिलेखों में उनके प्रवर ऋषि अंगिरस एवं बार्हस्पत्य बताए गये हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरे प्रवर ऋषि भारद्वाज का नाम भूल से छूट गया है । पुष्पोत्तमपुर (६१६-२० ई०) दानपत्र के अनुसार माधवर्मा द्वितीय के समय में मौद्गल्य गोत्र के ब्राह्मणों का सम्बन्ध अंगिरस प्रवर से था । इनके भारध्याश्व अनुप्रवर (ममराह प्रवराय) का उल्लेख भी उक्त दानपत्रों में किया गया है ।³¹

भञ्जकालीन उड़ूदेश के ब्राह्मणों के गोत्र और प्रवर-

भञ्जकालीन दानपत्रों में उत्कल प्रदेश के उपमन्यु, काश्यप, कौण्डिन्य, कौशिक, गौतम, भारद्वाज, मौद्गल्य, रौहित, विश्वामित्र तथा वत्स गोत्रों का उल्लेख है । उपमन्यु गोत्र के ब्राह्मणों का उल्लेख उड़ीसा दानपत्र में किया गया है ।³² वे त्रिप्रवर के ब्राह्मण थे । बौधायनश्रीतसूत्र में उक्त गोत्र के त्रिप्रवर वासिष्ठ, ऐन्द्रप्रमद एवं आभरद्वसव्य बताये गये हैं ।³³ कौमण्ड ताम्रशासन से मालूम होता है कि गौतम गोत्र के ब्राह्मणों का उत्थय प्रवर एवं अंगिरस अनुप्रवर था ।³⁴ मध्य-

देशान्तर्गत टकारी के सुविस्थात भारद्वाजों का उल्लेख अन्तिरिगम दानपत्र में हुआ है।^{३५} इनका केन्द्र दक्षिण तोसल में था। उनके त्रिप्रवर ऋषि अंगिरस, बाहृस्पत्य एवं भारद्वाज थे। इस अभिलेख से सूचना मिलती है कि इनके पूर्वज टकारी से मगध गये एवं वहाँ से वे वहिर्गत होने के पश्चात् दक्षिण तोसल में आये थे।^{३६} उक्त त्रिप्रवर के भारद्वाज ब्राह्मणों का उल्लेख अन्तिरिगम दानपत्र में भी हुआ है। उनका आवस्थान थीहार विषयान्तर्गत मध्य भूमिग्राम था और वे कोट्टखंग विषय में निवास कर रहे थे। पेत्तसर दानपत्र में भारद्वाज ब्राह्मणों का अंगिरस प्रवर एवं बाहृस्पत्य अनुप्रवर बताया गया है।^{३७} वे कोलखली में निवास करते थे और उनका आगमन वाललविडिम से हुआ था।^{३८} योद्गल्य गोत्र के ब्राह्मणों का उल्लेख शत्रुभज के दस्पल्ल दानपत्र में किया गया है।^{३९} इस गोत्र के ब्राह्मण सन्तोषमाधव में निवास करते थे इनके पूर्वज मध्यदेश स्थित खड़वावली भग्राम से आये थे। उनका वैहव्य प्रवर से सम्बन्ध बताया गया है। परन्तु यह भ्रान्त है क्योंकि योद्गल्यगोत्रियों का त्रिप्रवर है, प्रवर नहीं।^{४०}

गंजाम दानपत्र के अनुसार रोहित गोत्र के त्रिप्रवर ऋषि रोहित, अष्टक एवं विश्वामित्र थे और उनके अनुप्रवरों के भी यही नाम थे।^{४१} इनके पूर्वजों का आगमन तडिसमाविषय से हुआ था। नेतृमंजदेव के जुरद दानपत्र (द९८ ई०) से विदित होता है कि गंगावाड़ी से विनिंगंत विश्वामित्र गोत्र के ब्राह्मण का पंचार्षय प्रवर था।^{४२} इनके पूर्वजों का मूलस्थान गंगावाड़ी था। आदिपुर ताम्रशासन में वत्सगोत्रीय ब्राह्मणों का पंचप्रवर कहा गया है। यह उल्लेखनीय है कि उसी लेख में अन्यत्र जमदग्नि प्रवर का ब्राह्मण बताया गया है। यह कथन निराधार है क्योंकि वौघायन श्रीतसूत्र में वत्स गोत्र के ब्राह्मण पंचप्रवर कहे गये हैं।^{४३} उक्त गोत्र एवं प्रवर के ब्राह्मणों का केन्द्र रामपरकटी ग्राम था जिसका तादात्म्य जोशीपुर परगना के कीपुर में स्थित रामसाही ग्राम से स्थापित किया जाता है।^{४४} इनके पूर्वजों का आगमन अपने मूलस्थान उड़विषय में स्थित अल्लावद्रह भट्टग्राम से हुआ था। नरेन्द्रमंजदेव के आदिपुर ताम्रपत्रशासन में इस गोत्र के ब्राह्मण पंचप्रवर कहे गये हैं। इनके पूर्वज तिलपुद्रक से आये थे। नेतृमंजदेव के गंजाम दानपत्र में उक्त गोत्र के ब्राह्मणों को अंगिरस प्रवर एवं भार्गव अनुप्रवर से सम्बन्धित बताया गया है।^{४५}

संदर्भ :—

- १ आत्रेय - गोत्र - श्यावश्व - त्रय - आर्षेय त्रि - स (श) त - त्र (त्रा) ह्यणेभ्यः । एषिग्राकिया-इण्डिका, ३१, पृ० १६६ ।
- २ ब्रफ जान- दि अर्ली ब्राह्मणिकल सिस्टम आफ गोत्र एण्ड प्रवर, पृ० १४२ ।
- ३ ए० ई०, ४, पृ० ३१६ ।
- ४ ए० ई०, २३, पृ० २६२ ।
- ५ ए० ई०, ३१, पृ० २६१ ।
- ६ तत्रैव, २३, पृ० ६० तथा भाग ३, पृ० १२८ ।
- ७ तत्रैव, १९, पृ० १३६ ।
- ८ कामरूप - विषय - श्रिङ्गाटिक - अग्रहार - वास्तव्येभ्य (:) पाराशार सगोत्रे (भ्यो), तत्रैव, २६, पृ० ६७ ।
- ९ तत्रैव, २४, पृ० १८२ ।

उत्कल-ब्राह्मणों के गोत्रों तथा प्रवरों का एक अभिलेखीय अध्ययन

- १० द० अ० ब्रा० सि० गो० प्र०, पृ० १७६।
- ११ तत्रैव, २७, पृ० ११३।
- १२ 'नगर - वास्तव्य - भारद्वाजगोत्राय... ...' तत्रैव ३०, पृ० २७'
- १३ कोमर्ती दानपत्र - तत्रैव, ४, पृ० १४४।
- १४ दसगोवा दानपत्र - तत्रैव, ३१, पृ० २६०-६१।
- १५ ए० इ०, २३, पृ० २६६।
- १६ तत्रैव, २४, पृ० १३५।
- १७ गोत्रप्रवरनिवन्धकदम्बकम्, बम्बर्दि संस्करण, पृ० २५।
- १८ वाच्छ (वत्स) - गोत्राय। पा (प) च्च प्रवराय। और्वच्च भूगु - च्यवन अ (आ) प्नवाने-जामदग्नी (नि)। तथ इव (तथ = एव) अनुप्रवरा (:) पञ्च। ए० इ० २३, पृ० ८०।
- १९ उत्तरराढा पा (ट) क (बोज्य ?) वास्तव्याय वत्स गोत्राय। भारतीय संग्रहालय दानपत्र, तत्रैव, पृ० ७७।
- २० ए० इ०, ३१, पृ० २६१।
- २१ ए० इ०, १८, पृ० ३०६।
- २२ तत्रैव, १६, पृ० ११८, ११६, १२०, २४६, २४७।
- २३ ब्रा० सि० ग्रो० प्र०, पृ० ८८।
- २४ ए० इ०, ३९, पृ० २३७।
- २५ तत्रैव, २३, पृ० २०१।
- २६ जर्नल आफ द रायल एसियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ११, (१६४५) पृ० ८।
- २७ कौशिक गोत्राव उत्थप्रवराय नाना प्रवराय, ए० इ०, २३, पृ० १२८।
- २८ ब्रफ - ब्रा० सि० आ० गो० प्र०, पृ० १५१।
- २९ ए० इ०, ३०, पृ० २७३।
- ३० जर्नल आफ रायल एसियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ११, पृ० ९।
- ३१ '(मु) दगल्य - स (गो) त्त - अम्बश भमराह प्रवर (पढ़िये शुद्ध रूप) - 'मौद्गल्य सगोत्र-अंगिरस - प्रवर भारभ्याश्व आनुप्रवर... ...'। ए० इ०, ३०, पृ० २६८।
- ३२ 'उपमन्यगोत्राय दते प्रवराय... ...' ए० इ० ६, पृ० २७५।
- ३३ ब्रफ - ब्रा० सि० गो० प्र०, पृ० १७४।
- ३४ 'गौति (गौत) म - गोत्राय उत्थ्य - प्रवराय अ (आ) डिगरस अ (स-) नु प्रकराय...', ए० इ०, २४, पृ० १७५।
- ३५ मध्यदेशीय - टाकारि - विप्रसम्बद्ध (व) म आगताय को (ण) रावंग दक्षिण - तोषल - स्थ पटवाडक - विनिर्गताय भारद्वाज - सगोत्राय = आञ्जिरस वा (वा) हंस (प) त्य - भारद्वाज त्रियः प्रवराय... ...', तत्रैव, १६, पृ० ४४।
- ३६ तत्रैव, २३, पृ० २६६।
- ३७ तत्रैव, २७, पृ० ३१६।
- ३८ तत्रैव, २८, पृ० २८२।
- ३९ तत्रैव, २६, पृ० १९३।

- ४० ब्रफ - ब्रा० सि० ग्रो० प्र०, पृ० १२६ ।
 ४१ ए० इ०, १८, पृ० २६१ ।
 ४२ गंगावाडि - विनिर्गत - विश्वामित्र - गोत्रपं - आरिष (आर्षेय) प्रवर् ।
 तत्रैव, २४, पृ० १६ ।
 ४३ ब्रफ - ब्रा० सि० गो० प्र०, पृ० ८ ।
 ४४ ए० इ०, २५, पृ० १६० ।
 ४५ वच्छ (त्स) । (गो) त्राय प्रवर अङ्गिरस अनुप्रवर भ (१) गंव (वाय) ।
 ए० इ०, १८, पृ० २६५

महाकाव्य

न्याय

श्री महेन्द्र प्रताप पितामहे

सुलतानपुर

न्याय शौच की वह निधि है, जिसके निदिध्यासन पर निसर्ग का निद्रायमाण तोष त्राता के रूप में ब्रह्मित निष्ठा का निस्तुष्ट निस्तरण निस्तंद्रि कर देता है। प्रथात् न्याय मानवीय प्रवृत्तियों की वह निवृत्तात्मा तुला है, जिसके विश्रुत चुम्बकीय पलड़े पर भावना, अनुरंग, भय, लोभ, अनुरक्ति, परिवाद, परिलोभन आदि मोहरूपी कर्दम की परिमाजित परिधि के प्रसिद्ध वर पर अनुष्ठित विवेक, नीति, सादृश्य, सोधर्म्य, लोकाचार, तर्क, साक्ष्य, काल, यथार्थ के सत्यालापी एवं विप्रमत्त बाट के समाहरण से कृत्य को मापकर तत्त्व का सत्त्व स्पष्ट कर दिया जाता है। भावानुग भावना में न्याय जीवनदर्शन का भास्वर है, जिससे उद्दिष्ट आचरण का उद्दीपन होता है।

धर्म के इस विन्यस्त प्रसंग में लौकिक और सांसारिक न्याय की चर्चा करके मैं अभ्युदय और निश्चेयस के साधनभूत शाश्वत विन्यास से पलायन नहीं करना चाहता। क्योंकि इस पृथ्वी पर समाज का विनियमन करने के निमित्त पैगम्बरों, समृतिकारों, न्यायज्ञों और विधिवेत्ताओं ने जो संयत नियम और व्यवस्थाओं की प्रतिपत्ति की है, उन्हें 'न्याय' कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि वे नितान्त प्रतिकारक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। दृष्टान्त के रूप में लौकिक न्याय के अन्तर्गत दण्डाधिप अपने द्वारा निर्मित किये गये नियमों पर स्वयं या अपने द्वारा नियुक्त किये गये दण्डाधिकारी से न्याय सम्पन्न करता या करता है। जिसमें मेरे विचार से इस सन्दर्भ में मुख्य रूप से दो सिद्धान्त अनुपालित किये जाते हैं। प्रथम = दण्डक को, चाहे वह प्रतनु आचरण बाला ही क्यों न हो, ईश्वर का बिस्म स्वीकार किया जाता है। इसी सिद्धान्त पर राजा को नियमों के ऊपर करके उसकी प्रतीति को 'ईश्वरीय प्रतिवेदन' स्वीकार कर लिया जाता है। मनु ने राजा के विषय में अपनी सम्मति प्रकट करते हुए कहा है— 'वह (राजा) अपने प्रभाव से अग्नि, वायु सूर्य, चन्द्र, यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र में से जिसका रूप जब चाहे धारण कर सकता है। राजा बालक हो, तब भी उसे सामान्य मनुष्य समझकर तिरस्कृत न करे, क्योंकि वह मनुष्य के रूप में विशेष देवता ही प्रतिष्ठित होता है'।¹ कुरआनमजीद के अनुसार अल्लाह ने रसूलों को ही न्यायधीश के रूप में उत्पन्न किया है। कई स्थलों पर अल्लाह ने अपनी ही भाँति उनके आदेशों को मानने के लिए लोगों को बाध्य किया है। जो कोई अल्लाह और उसके रसूलों की अवज्ञा करेगा तथा उसकी सीमाओं के आंगे बढ़ेगा, उसे अल्लाह आग में डालेगा। जहाँ उसे सदा रहना पड़ेगा और उसके लिए वह अपमानजनक यातना है।² जिसने रसूल का आदेश माना, वास्तव में उसने अल्लाह का आदेश माना।³ (यद्यपि इस्लाम सहित समस्त सेमेटिक मजहब अल्लाह के समकक्ष किसी को स्वीकार करने को तैयार नहीं)।

द्वितीय रूप में न्याय सिद्धान्त के अन्तर्गत मानवीय प्रवृत्ति के अतिचार का निर्णय अतिचारी मानव ही, अपने द्वारा निर्मित प्रतिकारिक नियम की व्यवस्था पर करता है। मनुस्मृति के अनुसार यदि पिता ने चारों वर्णों की स्त्रियों से विवाह किया हो और प्रत्येक से उद्भूत आत्मज हो, तो उसका (मेरे मत से जुगुप्सित) विभाजन इस प्रकार किया गया है—“ब्राह्मणी के पुत्र को चार भाग, क्षत्रिय के पुत्र को तीन भाग, वैश्या के पुत्र को दो भाग और शूद्रा के पुत्र को एक भाग दे”^४ और विष्लावक विभेद तब उत्पन्न होता है जब शूद्रा की सन्तान के अतिरिक्त कोई अन्य विभाषा न होने पर स्मृतिकार कहता है—“द्विजातिवाली स्त्रियों को पुत्र हों या न हों किन्तु यदि शूद्रा के ही पुत्र हो तो भी उसे दसवें भाग से अधिक नहीं देना चाहिये।”^५ ओल्ड टेस्टामेन्ट की व्यवस्थाविवरण वाली पुस्तक में यहोवा मानव-संसार में विभेदीकरण की नीति पर इस प्रकार का विभेदक वाक्य कहता है—“फिर जब तेरा परमेश्वर यहोवा तुझे उस देश में, जिसका अधिकारी तू होने वाला है, पहुँचाये और तेरे सामने से हिती, गिर्गिशी, एमोरी, केनानी, परिज्जी, हिब्बी और यूसी नाम की बहुत सी जातियों को, अर्थात् तुमसे बड़ी और सामर्थी सातों जातियों को निकाल दे”^६…“तेरा परमेश्वर यहोवा उन्हें तेरे द्वारा हरा दे और तू उस पर जय प्राप्त कर ले तो उन्हें पूरी रीति से नष्ट कर डालना। उनसे वाचा न वाँधना और न उन पर दया करना।”^७ “क्योंकि तू अपने परमेश्वर यहोवा की पवित्र प्रजा है। यहोवा ने पृथ्वी पर के सब देशों के लोगों में से तुमको चुन लिया है कि तू उनकी प्रजा और निजी धन ठहरे।”^८ कुरआन का अल्लाह भी जहाँ अभिविक्त इस्लामी विश्व के अभियंग में साम्य व्यवस्था (भले ही इमानवालों के लिए ही) का प्रवचन करता है, वहीं दूसरी ओर वह कहता है—‘ये अल्लाह की निश्चित की गई सीमायें हैं’।^९ ‘तुम्हारी स्त्रियाँ तुम्हारे लिये खेती के समान हैं। अपनी खेती में जिस तरह से चाहो, आओ और अपने लिए आगे बढ़ाओ।’^{१०} उत्तराधिकार के बारे में अल्लाह यह निर्णय देता है—‘अल्लाह तुम्हारी औलाद के बारे में तुम्हें बसीअठ करता है : पुरुष का हिस्सा दो स्त्रियों के बराबर हो।’^{११} इस भाँति धर्मग्रन्थों पर आधारित लौकिक न्याय संहिता भले ही धर्मनिधियों के हित धर्म्य आचरण हो, जो उसे यहोवा, अल्लाह या ब्रह्म की शाश्वत सहज वृत्ति, स्वभाव, प्रकृति या सद्गति प्रदान करने वाले अनुज्ञात आदेश ज्ञाप्त कर उनका अनुकरण करें, किन्तु मैं इस कथन का अनुद्वेग अनुबंध स्वीकार नहीं कर सकता। क्योंकि न्याय को दोषयुक्त या अनुत्पत्त न होना चाहिए। जैसा कि परमपूज्य अक्षपाद गौतम ने अपना मत प्रकट किया है, “अपने पक्ष में दोष को न मिटाकर, पर पक्ष में दोष का प्रसंग अनुज्ञा है”।^{१२} अर्थात् न्याय-निवृत्त उसका कदापि निवेषण नहीं किया जा सकता। रह गया शान्ति और व्यवस्था के नाम पर दंडविधान, तो वह मेरी मति में कुत्सा का विषय है क्योंकि दण्डालय दंडाहं व्यक्ति के दण्डन में अन्य लक्षण, प्रकृति, स्वभाव, वेश, आकार पर विचार करके अपराध ही तो करता है। मानवीय जीवांतक को प्राणदंड के रूप में जीवन्मुक्त तो किया नहीं जाता, विपरीत इसके जिस वृजिन् ने नर-हत्या की, न्याय के द्वारा उस अपवाती को अपगति प्राप्त हुई। अब श्रद्धेतु ही अपनी गवेषणा कर उत्तर दे कि अभिहित व्यवस्था न्याय है या अभिशंसन के दण्ड स्वरूप अन्य अभियुक्त का प्रादुर्भाव। स्पष्टतः इसका अयौक्तिक उत्तरामास यही होगा कि समाज के व्यवदीर्ण न होने के लिए ही इस पारूप्य की व्यवस्था की गई है। मेरी अवधारणा इससे पृथक् है। यजुर्वेद में जब स्पष्ट यह उल्लिखित है कि परमात्मा पञ्चभूतों में रमा है, वह प्रत्येक प्राणी के अन्तर में व्याप्त है, सभी भूत आत्मा सब भूतों में है,^{१३}

तो ऐसी अवस्था में किसी भी परिस्थिति में किसी के प्राण लेने या किसी के साथ पारुण्य का व्यवहार करना कहाँ तक धर्मसंगत है। हास्यास्पद स्थिति तब दिखाई पड़ती है, जब उपहृत विश्व के प्रायः सम्पूर्ण प्राणी, जो संस्कारित भाव में, किसी न किसी धर्म के उपसेवक हैं, उपद्रियों को विस्मृत कर अपनी व्यवस्था से समाज का उपांजन करते हैं, इसमें उन्हीं से उपालभ्न नहीं है; बल्कि इसमें स्मृतिकार और पैगम्बर भी दोषी हैं, जिन्होंने ईश्वर, अलाह या यहोवा के अवतार बनकर, देवी उपलब्धि के रूप में, समाज के जीवनोपाय की औषधि ज्ञात करा दी है। न्यू टेस्टामेन्ट की 'लूका' नामक पुस्तक में महात्मा ईशा ने अपने हित स्वयं न्याय करने के आग्रह पर जो उत्तर दिया, वही मेरे अनुश्रुत अन्वेषण का प्रतीक है— ‘फिर भीड़ में से एक ने उनसे कहा, हे गुरु ! मेरे भाई से कह कि पिता की सम्पत्ति मुझे वाँट दे। उसने उससे कहा, हे मनुष्य ! किसने मुझे तुम्हारा न्यायी या वाँटने वाला नियुक्त किया है।’^{१४} इस भाँति ईशा ने मानव की स्थिति का यथार्थ अङ्कून किया है।

न्याय-वादानुवाद में यह तो वीक्षण करना ही होगा, कि वाद का मूल क्या है, जिसके विकासन में विकस्वर एवं समलोष्ठ अकिञ्चन मानव भी विकलित होकर न्यायालय से वाद के निराकरण हित यथेप्सित याचना करता है। इस सन्दर्भ में गीता का वचन उद्धरणीय है— ‘गुणों के कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस— इन तीनों प्रकार के भावों से यह सारा संसार - प्राणि समुदाय मोहित हो रहा है’।^{१५} योगिराज कृष्ण ने सात्त्विक साम्य को भी औचित्य का समुद्धर्त्त नहीं स्वीकार किया। क्योंकि, उनमें भी आकांक्षा का सांस्पर्शिक रोग रोपित है। इस भाँति जगत् के समस्त देहाभिमानी प्राणी अपने स्वभाव, प्रकृति और विचार के अनुसार अनित्य भावों को नित्य एवं सुखकर ज्ञात कर उसकी ओर पलायन करते हैं। अर्थात् अर्चिष्मन् भार्या, संतति, प्रतिष्ठा, प्रशंसा, संपत्ति की प्राप्ति : दुराचार, दुराग्रह, संताप, विपत्ति, शत्रुंजयभय, रोग, अपमान, आक्रमण से मुक्ति : अनुहार, अनुस्मरण, अभिरति, अभिलाष, अभिषंग से रति : सृष्टि, निःश्रेयस्, प्रकृति, जीव, ब्रह्माण्ड के विद्यार्जन (ज्ञान) की अनुभूति : इनसे अनुबद्ध करने को सात्त्विक साम्य भी अनुज्ञापन देते हैं। वैदिक ऋषि भी भले ही अनुच्छिष्ट भाव में ईश्वर से अनुग्रह प्राप्त करने को इच्छुक हो, किन्तु सांसारिक भोग की इयत्ता में अपनी इष्टि को आवद्ध करता है। ऋग्वेद के एक मंत्र में भोगाधिकार प्राप्त करने का दृष्टान्त है— ‘हे इन्दु ! हमारे हित जो धन, श्रेष्ठ वाणी और उत्कृष्ट पुरुषों को प्राप्त कराने, ताना प्रकार के अन्न आदि पदार्थों को प्राप्त कराने का पूर्ण सौ वर्ष या अधिक आयु बढ़ाने का अति विस्तृत, अनेक शुभ गुणों से प्रसिद्ध, अत्यन्त विशाल, नित्य उन्नतिशील, जिसमें अनेक प्रकार की विद्या और सुवर्ण आदि धन सुनने में आता है, उस धन को अच्छे प्रकार से नित्य के लिए दीजिए।’^{१६} किन्तु वेदान्त का मन्युमुक्त परमाणि सात्त्विक भोग की मसि का महत्व ज्ञात कर निर्लिप्त भाव में भोक्तृत्व से संभोग करने का निर्देश देकर निविड अन्धकार से जीव का उद्धार करना चाहता है। इस युक्ति पर उपनिषद् का महर्षि वैदिक संहिता के ऋषि से कही महान् सन्त है। ईशावास्योपनिषद् का प्रारम्भिक मंत्र ही इस संप्रेक्षण की संपद् है, “अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़-चेतन स्वरूप जगत् है, यह समस्त ईश्वर से व्याप्त है। उस ईश्वर को साथ रखते हुए, त्यागपूर्वक भोगते रहो। उसमें आसक्त मत होओ। क्योंकि भोग्य पदार्थ किसका है ? अर्थात् किसी का नहीं है।”^{१७} कठोपनिषद् के द्वितीय अध्याय की प्रथमा वल्ली का द्वितीय मंत्र तो भोक्तृत्व को ही भग्नावशेष के रूप में उपस्थित करता है। जिसका भक्ष्य के रूप में

केवल प्रणाट मानव ही प्रग्रह करते हैं। “जो मूर्ख वाहा भोगों का अनुसरण करते हैं वे सर्वत्र प्रसंरित मृत्यु के पास में पड़ते हैं। किन्तु बुद्धिमान् नित्य अमर पद की विवेक द्वारा जानकर इस जगत् में अनित्य भोगों में से किसी में आसक्त नहीं होते” ।¹⁸ विवेकचूडामणि में जगद्गुरु आदिशङ्कराचार्य तो दमित विषयों से ही जितेन्द्रिय होने का उपदेश इस भाँति करते हैं, “यदि तुम्हें मोक्ष की इच्छा है तो नियमों को विष की भाँति दूर से ही त्याग दे और सन्तोष, दया, क्षमा, कोमलता, शम और दम का अमृत की भाँति आदरपूर्वक सेवन कर” ।¹⁹

बाइबिल के ओल्ड टेस्टामेन्ट की निर्गमन नामक पुस्तक में सीने के अरण्य में समस्त इजराइलियों से अपनी दस अव्याख्यात आज्ञाप्ति करने के पश्चात् इकीसवें अध्याय में यहोवा, हजरत मूसा से इस आतिकवादी मृष्टि को आचार से आच्छादित करने के निमित्त कतिपय संशयशूल्य विस्तृत आदेशात्मक निर्देश दिए हैं। जिनके आधार पर इजराइलियों या समस्त यहूदियों को अपने समाज का उपच्लब्ध शांत करने में सहायता प्राप्त हो सकती है। इस सन्दर्भ में उस अध्याय का तेर्इस से पच्चीसवीं आयत दृष्टव्य है— “यदि कुछ हानि अतंद्र हो, तो यथाक्रम नेत्र के प्रतिफल नेत्र का, दंत के प्रतिफल दंत का, हस्त के प्रतिफल हस्त का, पाद के प्रतिफल पाद का, क्षत के प्रतिफल क्षत का, दर्घ के प्रतिफल दर्घ का तथा प्रहार के प्रतिफल प्रहार का दण्ड हो”²⁰ मृत्यु-दण्ड पर यहोवा इस भाँति चर्ची करता है— “जो किसी मनुष्य पर ऐसा आधात करे कि उसकी मृत्यु हो जाय तो उसका भी निश्चय रूप से बध कर डाला जाय। जो अपने आत्मज, अपने पिता और माता पर प्रहार करे, उसका निश्चय रूप में हनन कर दिया जाय।”²¹ संभाव्य न्याय को हार्य स्वरूप उस अवस्था में हास्यास्पद और अपदारित हो जाता है जब यहोवा स्वयं अपने प्रोक्त न्याय को प्रोष्यों के प्रति बीचवीं आयन में संयति कर देता है— ‘यदि किसी सौरन्ध्र, स्वीय या भूत्या को कोई भूत्य कर्तृ दण्ड से ऐसा प्रहार करे कि उसकी मृत्यु हो जाय तब तो उसको निश्चय ही दण्ड दिया जाय (मृत्यु दण्ड नहीं) किन्तु यदि वह प्रहार करने पर दो एक दिन जीवित रहे तो उसका प्रहारक स्वामी दंडाहं नहीं है। क्योंकि दास उसकी सम्पत्ति है’²² मनु भी दंडादेश के सन्दर्भ में किसी ब्राह्मणों के संग व्यभिचार करने पर कुछ ऐसी ही मेरी प्रश्ना में अनीति के अनीप्ति नियम का व्याख्यान करते हैं— ‘त्रायण अवधय है, इसलिए उसके केश मुड़ा दे और अन्य वर्ण वालों को प्राण दण्ड दे। किसी भी प्रकार के अपराध करने पर ब्राह्मण का वध न करे’²³ ईश्वरीय नियम की अभिव्यक्ति का यह कितना अभिहास है और समाज में अभिषिक्त अभिरक्षकों ने ईश्वर के नाम पर विषमत्व के ऐसे विषाक्त वातावरण का अभिसर्ग कर समर्दिता का अभिशूल्यन कर दिया है कि कोई भी न्यायकर्ता इसकी अनुवृत्ति करने में कंपित हो उठेगा। महाभारत के जांति पर्व में भीष्मपितामह ने कुमारी उपाध्याय तक को भी दण्ड से मुक्त नहीं किया है— ‘घमण्ड में भर कर कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान न रखने वाला, कुमार्ग पर चलने वाला मनुष्य यदि अपना गुरु हो तो उसे भी दंड देने का सनातन विधान है’²⁴ इस अनुयोग पर कुरआन का अल्लाह अपने अनुवरों को (भले ही नितान्त ईमान वाले व्यक्तों न हों) न्याय के शिक्षण में इस्लामी व्यवस्था का जो अनुयाचन प्रेषित करता है, वह शौच का पुष्ट कंचुक परिवेष है। अलमाइदा सुरे की आठवीं आयत कहती है— ‘हे ईमान वालों ! अल्लाह के लिये न्याय पर दृढ़ता के साथ स्थापिता बनो। न्याय का साक्ष्य निर्मन करते हुए ऐसा न हो कि किसी समुदाय की शत्रुता तुम्हें इस बात पर

प्रज्वलित कर दे कि तुम न्याय करना त्याग दो। न्याय करो! यह तकवा (धर्मपरायणता) का स्थाप्य वाक्य है। अल्लाह से मयभीत हो। निसंदेह अल्लाह तुम्हारी प्रत्येक क्रिया की अभिज्ञता रखता है।²⁵ मेरी मति इस अभिप्राय पर शोष है कि किस निमित्त इस्लाम का भूषक, प्रतिशोध या प्रहार के उद्वेग पर सदृश व्यवहार की मनोवृत्ति से ओत-प्रोत होकर न्याय के नाम पर दुष्टता को धृति करता है, जबकि इस धर्म का प्रसवित कुरआन पाक के ग्रनेक स्थलों पर स्पष्टतः क्षमा का आदेश प्रसारित करता है— ‘विनम्रता और क्षमा से काम लो, भले कार्य का आदेश दो और अज्ञानियों से न उलझो।’²⁶ दुष्टता और सौजन्य पर तर्कयुक्त टिप्पणी करता हुआ अल्लाह कहता है— ‘सत्कर्म और कुकर्म में समत्व हो नहीं सकता। तुम दुष्टता को उस वस्तु से प्रतिकृति करो जो उत्तम हो। फिर तुम अवलोकन करोगे कि वह व्यक्ति, जिससे तुम्हारा शत्रुभाव था, वह अपचार का अपचरण कर, ऐसा व्यवहृत होगा, जैसे कोई आत्मीय मित्र हो।’²⁷ व्यसनान्वित व्यक्ति का यथार्थ मनोवेग, यदि व्यसनात्यय करने में प्रतिशोध का साधन ही व्यष्टि का मार्ग समयोचित, स्वीकार करता है, तो ऐसों को अल्लाह क्षमा को समावृत्त करते हुए अनिष्ट समर्पयितृ के संग उसी मात्रा में अनिष्ट करने की अनुवृत्ति देता है— ‘अनीति का प्रतिकार दुराचरण की समनुज्ञा है। फिर जो कोई क्षमा कर दे और दोषमुक्त कर दे तो उसका पुरस्कार अल्लाह के उत्तरदायित्व पर है। निसंदेह वह अत्याचारियों को महत्व नहीं देता।’²⁸ अनिष्ट-कर्त्ताओं के प्रति विचार व्यक्त करते हुए अल्लाह कहता है— ‘क्षमा करो! दरगुजर कर दो। निसंदेह अल्लाह क्षमाशील और दयालु है।’²⁹ न्यू टेस्टामेन्ट के उद्भेदकों ने महात्मा ईशा के द्वारा जो उद्घोष प्रकट किया है उससे तो अपराधी मनोवृत्ति का किस सीमा तक उद्घास होगा। वह तो उसका उत्थापक ही जाने। किन्तु मेरी राय यह है कि न्याय-परिवर्ति में उत्सादित अन्याय का पुनः उत्थित स्वरूप नहीं अवलोकित किया जा सकता। जहाँ तक अनीति के उदय होने का प्रश्न है वह तो उसकी विचार-कल्पना पर ही हो जाता है। अन्य शब्दों में उसे अर्हिसक न्याय की संज्ञा की उपपत्ति स्वीकार की जा सकती है। ईशा प्रवचन करते हैं— ‘पूर्व में तुमने आकर्णन किया है कि हत्या न करना और यदि कोई किसी का वध करेगा तो वह दण्डित होगा। किन्तु मेरा मन्तव्य है कि जो किसी पर क्रीड़ करे, वह दण्ड का पात्र है और जो कोई किसी को ‘अरे मूर्ख’ से सम्बोधित ही करे तो वह नर्क की अग्नि का पात्र है तथा जो कोई किसी को निकम्मा निकषण करे, वह महासभा से निष्कासन का पात्र है।’³⁰ उस अपराधी के लिये ईशा का मत है कि वह धर्म की वेदी पर उपायन समर्पित करने के पूर्व अपने स्वजन, आत्मोय, जाति, सगोत्र से यावज्जीवन संगति करे। वे कहते हैं— ‘पूर्व में उच्चारित किया गया है कि व्यभिचार का व्यवकलन करो। किन्तु मेरा विचार है कि स्त्री पर व्यलीक दृष्टि डालना ही मानसिक व्यभिचार निर्णीत हो चुका।’³¹ यदि कोई शारीरिक अंग से औचित्य का अपवाद करे तो उस अवयव को उचित्वन कर देना चाहिए। जिससे उसके कारण सम्पूर्ण देह नर्क की अग्नि में न प्रविष्ट कराया जाय।³² शपथ ग्रहण करने पर मसीह की व्याहृति है— ‘मिथ्या शपथ को उत्सर्जित करने का उपदेश पूर्व में उद्घृत किया गया है। किन्तु मेरा कथन है कि तू सौगन्ध का आलम्बन ही न लो।’³³ दंडोपबन्ध पर मसीह आगे व्यवस्था करते हैं— ‘तुम्हें ज्ञात है कि क्रमागत यह नियम है कि नेत्र के प्रतिकार में नेत्र, दंत के प्रतिकार में दंत... जैसे किन्तु मेरी आज्ञापित है कि खल का विरोध न करना, कदाचित् कोई तुम्हारे दाहिने कपोल पर थपड़ प्रहार करे तो उसके पक्ष में दूसरा कपोल भी घुमा दो और कोई दांभिक वाद

करके तुम्हारा कुरता लेना चाहे तो उसे चादर भी समर्पित कर दो।^{३४} हजरत ईशा ने न्याय को इस सीमा तक मृदुकरण कर दिया है कि न्यायपीठों से ही विश्व को मुक्ति प्राप्त हो जायेगी। वह स्वयं निर्वृष्टण प्राणियों से वाद का निवारण करते हुए कहते हैं—‘पूर्वकाल में यह व्यवस्था निर्वाचित हो चुकी है कि प्रतिवेशी का परिवृंहण चाहो और अनुराग रखो तथा विरोद्धा से सामंजस्य-हीनता का प्रेरणा हो। किन्तु मेरी क्षति से यह व्यलीक है। मेरा तुमसे यह कथन है कि विरोधियों के प्रति शत्रुत्व न रखो। उनसे अपराग के स्थल पर उनका भला चाहो और प्रेम करो, तथा दृष्ट द्रावकों के हित का मेरे स्वर्गीय प्रसवित्र से प्रार्थना करो।^{३५} मानवीय तोद्रन से त्राण प्राप्त करने के हेतु मसीह की भाँति चीन का संत ताओ प्राणी की प्रतिष्ठा और त्रपा से अपने को मुक्त करके उत्पीड़क के प्रति उदग्र व्यवहार इस भाँति करना चाहता है—‘जो शत्रु को अपने उत्संग में ले लेगा, उसकी अन्त तक रक्षा होगी। जो क्षति में अपने को नमित नर पुँगव बना देगा वही परिपूर्ण होगा। जो निर्दलन के प्रति निर्मद नत बनेगा वही उदात्त आरोहण करेगा।^{३६} आत्म और अपराध के निःसारण पर संत निःश्रेयस् मार्ग को इस भाँति इंगित करता है—‘अन्यों का ग्रसन और लोगों के मध्य गौरवान्वित प्रदर्शन त्यागने से मत्सर का स्वरोपधात होगा। दुर्लभ वस्तुओं के मूल्योत्कर्ष का त्याग करने से अस्तंगत अस्तेय का उदय होगा। इन्द्रियार्थवाद और आत्मविमुख होने से भन अनुद्वेगशील होगा।^{३७} महापरिनिवाण सुत की गाथा से ऐसा ही प्रकृतार्थ भगवान् तथागत श्रमणों से बहिनिःसरित करते हैं—‘मिक्षुओं! तुम आत्माभिमुख स्वस्तम्भ के रूप में विचरण करो। स्वीय शरण का अधिकरण लो। अन्य अधिष्ठान का आश्रय न लो। सहज वृत्ति, स्वभाव और प्रकृति अर्थात् धर्म को दीपक जानो तथा उसी के एकाश्रयी शरणार्थी हो।^{३८} अनाचरण, जो अपराव का जनयिता है उसे रुधिराशन रोग कहकर महात्मा बुद्ध धम्मपद में उक्त व्यवस्था का निमृत निमित्त और उसका विनयन इस भाँति व्यक्त करते हैं—‘रोगों का मूल है जिघृका—ग्रहणीय इच्छा अर्थात् तृष्णा। समस्त दुःखों का वास है संस्कार। इस तत्त्व से अभिज्ञता प्राप्त कर निर्वाण रूपी परम सुख के हित तितिक्षु रूप में पिपासा और रोग से बैतृष्ण्य हो।^{३९}

न्याय चर्चा में अभी तक पाठक को धर्मग्रन्थों के जिस वैशारद्य का आस्वादन कराया गया है, उससे उनका बैतृष्ण्य नहीं हो सकता। क्योंकि वाद और अपराध दोनों ही इहलोक के कलंक हैं जिसका विप्रणाश करना ही मानव धर्म है। जहाँ तक न्याय के निवेशन का प्रश्न है उसको ऐसे यथार्थ से निवेष्टन करना पड़ेगा जिससे वाद का ही निषेधन हो जाय। अपराव के मूल में चाहे कोई भी निमित्त अनुस्यूत हो किन्तु उनका आमूल विनाश ही उनके निरत्यय जीवन का अंग है। परिजन और संपद का सम्पर्क ही सांसारिक सुख तथा राग का परिच्छब्द है। इसी प्रकार क्षुधा और मैथुन के विषय में भी परिज्ञप्ति करनी चाहिए। इन चारों अभिशप्त पदार्थों का शापोद्धार कर दिया जाय तो अपराधमुक्त समाज के प्रासाद में साम्य का समीक्षीन आदर्श प्रवेश करेगा। इस प्रसङ्ग में विष्णु पुराण में भक्तराज प्रह्लाद कहते हैं—‘हे दैत्यो! मैं आग्रहपूर्वक कहता हूँ कि तुम इस असार संसार के विषयों में कभी सन्तुष्ट मत होना। तुम सर्वत्र समदृष्टि करो। क्योंकि समता ही श्री अच्युत की आराधना है।^{४०} दैत्यों के सम्बोधन में महात्मा प्रह्लाद ने जो समाज की प्रतिष्ठा स्थापित की है, मेरी बुद्धि में वही वाद को क्षय करने की आधार शिला है और

यह तभी संभव है जब परिजन व संपद विहीन समाज का आधाराधेय भाव स्वीकार कर तथा कथित सुष्ठि आनन्दधितृ के विकार का ही विगलन कर दिया जाय ।

सन्दर्भ :—

- १ मनुस्मृति, ७. ७-८
- २ कुरआन मजीद, अल निशासुरे, १४
- ३ वही, ६०
- ४ मनुस्मृति, ६. १५४
- ५ वही, ९. १५०
- ६ ओल्ड टेस्टामेन्ट (व्यवस्था विवरण), ७. १
- ७ वही, ७. २
- ८ वही, ७. ६
- ९ कुरआन मजीद, अलनिशासुरे, १३
- १० वही, अलवाकरासुरे, २२३
- ११ वही, अलनिशासुरे, ११
- १२ न्याय दर्शन, २. २०
- १३ पञ्चवेद, २३. ५२
- १४ न्यूटेस्टामेन्ट (लूका विवरण), १२. १३-१४
- १५ गीता, ७. १३
- १६ कृत्वेद, १. ६. ७
- १७ ईशावास्योपनिषद्, १
- १८ कठोपनिषद्, २. १. २
- १९ विवेकचूडामणि, ८४
- २० ओल्ड टेस्टामेन्ट (तिर्गमन नामक पुस्तक), २१. २३-२५
- २१ वही, २१. १२
- २२ वही, २१. २०
- २३ मनुस्मृति, ८. ३७६-३८०
- २४ महाभारत, शान्तिपर्व, ५७. ७
- २५ कुरआन, अलमाइदासुरे, ८
- २६ वही, अलग्लाराफसुरे, १९९
- २७ वही, अलसजदासुरे, ३४
- २८ कुरआन, अलशूरासुरे, ४०
- २९ वही, अलतगावुनसुरे, १४
- ३० न्यूटेस्टामेन्ट (भत्ती नामक पुस्तक), ५. २१-२२
- ३१ वही, २७, २८

- ३२ वही, ३०
 ३३ वही, ३३, ३४
 ३४ वही, ३८, ३६, ४०
 ३५ वही, ४३, ४४
 ३६ ताओ उपनिषद्, २२
 ३७ वही, ८०
 ३८ महापरिनिवाण सुत्त, ३३
 ३९ घम्मपद (सुखवग्ग प्रकरण), २३०
 ४० विष्णुपुराण, १. १७. ९०

भारतीय आस्तिक दर्शन में माया तत्त्व

श्रीमती आशा सिंह

फैजाबाद

भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने जिन प्रमुख तत्त्वों पर चिन्तन किया है, उनमें 'माया' तत्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह एक ऐसा विशिष्ट तत्त्व है, जिसका वर्णन भारतीय दार्शनिक पद्धतियों में प्राप्त होता है। भारतीय दर्शन की अद्वैत धारा के अनुसार परमतत्त्व (ब्रह्म) जिस शक्ति के द्वारा सृष्टि रचना करता है, वही 'माया' है। क्रृवेद की एक क्रृचा में बताया गया है कि इन्द्र अपनी माया के द्वारा अनेक रूपों को धारण करता है।¹ यहाँ इन्द्र शब्द परमतत्त्व का वाचक है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित अजा, लोहित-शुक्ल-कृष्णरूपा और सृष्टिकर्ता प्रकृति² इसी प्रकार की शक्ति है। आचार्य शङ्कर के अनुसार माया न तो ब्रह्म के समान यथार्थ है और न खपुष्प के समान अयथार्थ ही। यह परमेश्वर के आश्रित रहने वाली महासुष्ठरूपिणी है जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन करते हैं—

"अविद्यात्मिका हि बोजशक्तिरवक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराभ्या मायामयी महासुप्तिः, पस्यांस्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः।"³

माया सदसद्विलक्षण है अतः अनिवैचनीय है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है— 'यह माया न सत् है और न असत् है तथा न उभय रूप है, बल्कि 'सदसत्' से भिन्न अनिवैचनीय मिथ्यारूप है।'⁴ विवेकचूडामणि के अनुसार— "यह न सत् है, न असत् है और न उभय रूप है। यह ब्रह्म से न भिन्न है न अभिन्न है और न उभयरूप है। यह न अंग सहित है, न अंग रहित है और न उभय रूप है। यह अत्यन्त अद्भुत अनिवैचनीय है।"⁵ शङ्कराचार्य ने माया और अविद्या में कोई भेद नहीं किया है किन्तु 'विद्यारण्य' ने इन दोनों में भेद माना है। उनके अनुसार सत्त्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था 'प्रकृति' है। इसके दो भेद हैं— माया और अविद्या। विशुद्ध सत्त्वप्रधाना प्रकृति को 'माया' और मलिन सत्त्वप्रधाना प्रकृति को 'अविद्या' कहते हैं।⁶ वस्तुतः माया और अविद्या एक ही वस्तु है, इनमें कोई सात्त्विक भेद नहीं है। जो भेद भासित होता है वह आपाधिक है। उपाधिया कार्य-भेद से इसे अनेक नामों से व्यवहृत करते हैं। अघटित घटना के विधान में कुशल होने से इसे 'माया', विद्या का विरोधी होने से 'अविद्या' (अज्ञान) और प्रपञ्चरूप जगत् का उपादान होने से 'प्रकृति' कहा जाता है।

माया की दो शक्तियाँ बतायी गयी हैं— आवरण और विक्षेप। 'आवरण' का अर्थ है— आच्छादन अर्थात् वस्तु के यथार्थ रूप को ढक लेना। 'माया' इस शक्ति के द्वारा प्रात्मा के सच्चिदानन्द रूप को आच्छादित कर देती है।⁷ हस्तामलक स्तोत्र में कहा गया है— जिस प्रकार

मेघ का छोटा सा टुकड़ा दर्शकों की दृष्टि को ढक लेने के कारण अनेक योजन विस्तृत सूर्यमण्डल को ढक लेता प्रतीत होता है, उसी प्रकार आवरण शक्ति से युक्त माया परिच्छन्न होने पर भी प्रमाता की बुद्धि को ढक लेने के कारण अपरिच्छन्न असंसारी आत्मा को ढक लेता सा प्रतीत होता है।^८ वास्तव में यह आत्मा को आच्छादित नहीं करती अपितु सावक की बुद्धि को इस प्रकार आच्छादित कर देती है कि साधक आत्मा का अनुभव नहीं कर पाता।

बथार्थ स्वरूप पर अन्य वस्तु का आरोप करना 'विक्षेप' है। जिस प्रकार अज्ञान से आच्छादित रसी में अज्ञान अपनी शक्ति से सर्व की उद्भावना कर देता है उसी प्रकार 'माया' भी अपने से आच्छादित आत्मा में विशेष शक्ति के द्वारा आकाशादि जगत्प्रपञ्च को उत्पन्न करती है—

“ब्रह्मदिस्थावरान्तं जगत् जलबुद्बुदवत् नामरूपात्मकं विक्षिपति सृजतीति
विक्षेपशक्तिः ।”^९

अन्यत्र भी इस तथ्य की पुष्टि की गई है—

“विक्षेपशक्तिलिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत् ।”^{१०}

इस प्रकार दोनों शक्तियाँ मिलकर सृष्टि का कार्य करती हैं। जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक जादू से अनेक वस्तुओं को प्रकट कर देता है, उसी प्रकार परमेश्वर भी माया के द्वारा प्रपञ्चात्मक जगत् की सृष्टि करता है।^{११}

सांख्य दर्शन में मूला प्रकृति को ही जगत् का कारण माना गया है। यह सम्पूर्ण विश्व इसी प्रकृति का परिणाम है। माया की ही भाँति प्रकृति भी त्रिगुणात्मक और अचेतन है। पुरुष प्रकृति से भिन्न है, किन्तु अज्ञान के कारण वह प्रकृति से अपनत्व का सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। सांख्य के अनुसार कैवल्य की प्राप्ति तभी सम्भव है जब पुरुष का 'विवेकरूप्याति' हो जाय और यह तभी सम्भव है जब अविद्या का विनाश हो जाय। सांख्य में पाँच प्रकार की अविद्या का उल्लेख है— तमस्, मोह, महामोह तामिक्ष और अन्धतामिक्ष। सांख्यकारिका में इसके ६२ उपभेद बताये गये हैं।^{१२} इस प्रकार शङ्कर सम्मत माया तत्त्व से सांख्य दर्शन की प्रकृति का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध प्रतीत होता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि माया और प्रकृति में पर्याप्त अन्तर है। वेदान्त के अनुसार माया परमेश्वर के परतन्त्र और उसकी सर्जक शक्ति है किन्तु सांख्य की प्रकृति स्वतन्त्र और अनादि है। माया का आश्रय स्थान ब्रह्म या जीव होता है किन्तु प्रकृति को अपने अस्तित्व के लिये किसी दूसरी सत्ता की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। प्रकृति यथार्थ है और माया अग्रथार्थ। गीता में भी प्रकृति का माया से एक्य स्थापित किया गया है और कहा गया है कि प्रकृति ही परमात्मा के आश्रय में चराचर जगत् की रचना करती है। किन्तु सांख्य की प्रकृति विना परमेश्वर की अपेक्षा के ही पुरुष की सन्निविमात्र से स्वयं जगत् के रूप में परिणत होती है।

सांख्य की ही भाँति योग दर्शन भी अविद्या को जगत् का मूल मानता है। वहाँ इसके लिए 'क्लेश' शब्द का प्रयोग किया गया है। योग-दर्शन में पाँच क्लेश माने गये हैं— अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। जिस प्रकार वेदान्त में अविद्याच्छन्न ब्रह्म को ही जीव कहा

गया है तथा ब्रह्म को उससे मुक्त माना गया है, उसी प्रकार 'योग' में भी क्लेश, कर्म, विपाक और आशयों से रहित पुरुष विशेष को ईश्वर माना गया है —

“क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः ॥”¹³

न्याय—वैशेषिक द्रव्यवादी दर्शन हैं। वहाँ परमाणुओं के विक्षोभ से जगत् की सृष्टि मानी गयी है। अतः इस दर्शन में माया तत्त्व के बीज दृष्टिगत नहीं होते किन्तु मीमांसा-दर्शन में पुनः इसके विन्दु दिखाई पड़ते हैं। मीमांसा में तीन प्रकार के बन्धन माने गये हैं। आत्मा अनादि काल से ही इन बन्धनों में पड़ा रहता है और नाना प्रकार के कष्टों का अनुभव करता है। अज्ञान के कारण ही जीव इन बन्धनों में आबद्ध रहता है और अज्ञान के नष्ट हो जाने पर वह मुक्त हो जाता है।¹⁴ इस प्रकार इन बन्धनों को बहुत कुछ सीमा तक 'माया' के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है।

भारतीय आस्तिक दर्शनों में 'माया' तत्त्व का प्राधान्य के साथ निरूपण करने वाला दर्शन है — वेदान्त ! इस विषय पर प्रायः सभी वेदान्ती आचार्यों ने अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है। किन्तु उनमें भी आचार्य शङ्कर और आचार्य रामानुज की व्याख्यायें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

शङ्कराचार्य इस सुष्टि को मिथ्या मानते हैं। उनकी दृष्टि में माया, भ्रम, सदसद्विलक्षण, अनिर्वचनीय और परमेश्वराश्रयी है; किन्तु रामानुज इस मत का खण्डन करते हैं। उनके अनुसार माया के मिथ्यात्व की सिद्धि में जो 'रज्जु-सर्प' का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है, वे दोनों सत् पदार्थ हैं; अतः जगत् को मिथ्या नहीं कहा जा सकता।¹⁵ रामानुज की दृष्टि में सभी पदार्थ या तो सत् हैं या असत्। अतः माया को सदसत् से विलक्षण कहना दोषयुक्त है। इसी प्रकार ब्रह्म को माया का आश्रय नहीं माना जा सकता। क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाश, ज्ञानरूप और परिपूर्ण है। रामानुज मात्र माया को ईश्वरीय शक्ति मानते हुये ईश्वरभक्ति पर विशेष बल देते हैं। वे माया के लिए प्रकृति शब्द का प्रयोग करते हैं। मध्वाचार्य ने सांख्याभिमत प्रकृति को ही माया के रूप में स्वीकार किया है। अन्तर केवल इतना है कि इनके विचार में प्रकृति परमेश्वराश्रयी है। निम्बार्क को भी यही मान्य है। वल्लभाचार्य के अनुसार माया ब्रह्म की शक्ति है। उसी के द्वारा ब्रह्म जीव और जगत् का रूप धारण करता है।¹⁶ इस प्रकार वैष्णव आचार्यों ने माया को ब्रह्म की सर्जिका शक्ति के रूप में स्वीकार किया है।

शैव-दर्शन के अनुसार माया और अविद्या भिन्न-भिन्न अवधारणायें हैं। अविद्या आत्मा में अज्ञान उत्पन्न करने वाली शक्ति और माया इस जगत् का भौतिक कारण है। काश्मीरीय शैव-दर्शन के अनुसार जिव अपने अन्दर निहित शक्ति के माध्यम से स्वयं को जगत् के रूप में अभिव्यक्त करते हैं —

“शिवः शक्तया युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम् ।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥”¹⁷

इस दर्शन में भी माया तत्त्व पर विशेष रूप से विचार किया गया है। इस भूमि में 'अहम्' अंश 'पुरुष'-रूप में तथा 'इदम्' अंश 'प्रकृति'-रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यहाँ अचित् अर्थात् जड में

'प्रमातृत्व' का आभास होता है। इस भूमि में माया शक्ति के द्वारा परमेश्वर अपने रूप को श्राच्छादित कर लेता है, तभी वह 'पुरुष' तत्त्व होकर पृथक् हो जाता है। माया से मुग्ध कर्मों को अपना बन्धन समझता हुआ यही संसारी 'पुरुष' है। परमेश्वर से अभिन्न होता हुआ भी, इसका मोह परमेश्वर में नहीं होता। काश्मीरीय शैव-दर्शन में पाँच कञ्चुक माने गए हैं— कला, विद्या, राग, काल और नियति।^{१८} 'परम शिव' सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, पूर्ण, नित्य, व्यापक और असंकुचित शक्तिसम्पन्न होते हुए भी अपनी इच्छा से संकुचित होकर माया के इन पाँच कञ्चुकों के रूप में स्वयं अभिव्यक्त होते हैं।^{१९} इसलिए अपूर्णता और अनित्यत्व का बोध तथा संकुचित शक्ति का ज्ञान 'पुरुष' को अपने में होने लगता है। वीर-शैव जगत् को वास्तविक और शक्ति के रूप में ईश्वर का क्रीडा-क्षेत्र स्वीकार करते हैं। उन्होंने शिव को संसार का आदि कारण, शक्ति को उपादान कारण और माया को भौतिक कारण स्वीकार किया है।

शक्ति दर्शन के अनुसार माया शक्ति का रूप है और सृष्टि उसी की लीला है। परम-तत्त्व शिव इसी शक्ति के रूप में सृष्टि का रूप धारण करते हैं।^{२०} जब शिव निर्गुण अवस्था में होते हैं, तब वे 'परम शिव' हैं और जब सगुण अवस्था में होते हैं तो 'शक्ति' का अभिधान धारण कर लेते हैं। शक्तों के अनुसार 'शक्ति' ही आदि तत्त्व है और वही समस्त विश्व की सर्जिका है।

सन्दर्भ :—

- १ 'इन्द्रो मायामिः पुरुरूप ईयते'—ऋग्वेद, ६. ४७. १८
- २ श्वेताश्वतरोपनिषद्, ४. ५
- ३ ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य, १. ४. ३
- ४ तीतिरीयोपनिषद्, २, ६
- ५ विवेकचूडामणि, १११
- ६ पञ्चदशी, १. १५-१६
- ७ वेदान्तसार-मुबोधिनी टीका, पृ० १५२
- ८ हस्तामलक स्तोत्र, १०
- ९ वेदान्तसार-मुबोधिनी टीका, पृ० १५३
- १० वाक्यसुघा, १४
- ११ विवेकचूडामणि, ११०
- १२ सांख्यकारिका, ४८
- १३ योगसूत्र, १. २४
- १४ शास्त्रदीपिका, पृ० १२५
- १५ श्री भाष्य, २. २. २८-२९
- १६ अणुभाष्य, १. १. ४
- १७ आनन्द लहरी, १
- १८ भारतीय दर्शन—डॉ० उमेश मिश्र, पृ० ३८५
- १९ ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ३. १. ३
- २० कौलज्ञान निरांय, १८. ८



वैदिक - अर्थवाद - मीमांसा

रुद्र कुमार त्रिवेदी

लखनऊ

आपस्तम्ब ने यज्ञपरिभाषा में मन्त्रब्राह्मण शब्दराशि को वेद बताया है— मन्त्र-
ब्राह्मणयोर्वेदनामवेयम् (१/३३) । मन्त्रों का संकलन वैदिक संहिताओं में है । उनमें देवस्तुतियाँ हैं
और वे तत्त्व यज्ञों में विनियुक्त होकर अपूर्व-निष्पत्ति में सहायक होते हैं । वैदिक यज्ञों का वस्तुतः
निरूपण तो ब्राह्मण ग्रन्थों में ही है, संहिताओं में नहीं । उनमें तो विनियुज्यमान मन्त्रों का संग्रह है ।
ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञादि कर्म की प्रेरक विधियाँ हैं और उनके स्तावक अर्थवाद हैं । इसीलिये सायणा-
चार्य ने कृष्णवेदभाष्यभूमिका में कहा है— द्विविधं ब्राह्मणम्— विधिर्स्थवादश्चेति । कर्म की जिनमें
प्रेरणा है, वे विधियाँ हैं और विधि के शेष भाग अर्थवाद हैं । आपस्तम्ब का वचन है— कर्मचोदना
ब्राह्मणानि ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः (यज्ञपरिभाषा, ३४, ३५) । ब्राह्मण ग्रन्थों में विधिशेषों की बहुलता है ।
उनका मुख्य प्रयोजन शुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त करना और निषिद्ध कर्मों से निवृत्त करना है ।
यज्ञादि शुभ कर्म हैं, अतः विधियाँ इनकी ओर प्रवृत्त करती हैं तथा कलञ्जभक्षण, रजतदान आदि
निषिद्ध कर्म हैं, उनसे वे व्यक्ति को दूर रखती हैं । अतः अर्थवाद भी द्विविध हैं— विधिशेष और
निषेधशेष । यह प्रवर्तना और निवर्तना ही वेद का मुख्य प्रयोजन है और इसी में वेद की वेदता है ।
वेदार्थ का विस्तार करने वाले इतिहास-पुराणादि में भी इसी प्रवर्तना और निवर्तना के दर्शन होते
हैं । रामायण से हमें प्रेरणा मिलती है कि राम के समान आचरण करना चाहिए और निवर्तना
मिलती है कि रावण के समान कभी भी आचरण नहीं करना चाहिए— रामादिवद्वितीतव्यं न
रावणादिवत् । इसी प्रकार महाभारत से भी हमें यही शिक्षा मिलती है कि युधिष्ठिर के समान
आचरण करना चाहिए, दुर्योधन आदि के समान नहीं । पुराणकारों ने तो इसी सिद्धान्त को रोचक
बनाने के लिये आरूप्यानां को अपनाया है, जिन्हें सुनकर मनुष्य कर्त्तव्य की ओर उन्मुख होता है
और अकरणीय से दूर रहता है । हमारा सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य इस विधि-निषेध से पूर्ण है । शुभ
कर्मों की ओर प्रेरित करने के लिये कुछ प्रलोभन देने की आवश्यकता पड़ती है, यह काम अर्थवाद
करता है । इसी प्रकार निषिद्ध कर्मों से दूर रखने के लिये कुछ भय दिखाना अर्थवा अनिष्ट का
सकेत करना आवश्यक होता है । यह कार्य भी अर्थवाद करता है । प्रसिद्ध मीमांसक लौगाक्षिभासकर
ने इसीलिए अर्थवाद की परिभाषा की है— प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः । अर्थात् प्रशंसा
और निन्दाप्रक वाक्य अर्थवाद कहलाते हैं । ये अर्थवाद वाक्य प्रचुर रूप में ब्राह्मणग्रन्थों में विद्यमान
हैं और विद्येय अर्थ की प्रशंसा और निषिद्ध अर्थ की निन्दा करते हुए देखे जाते हैं । यदि अर्थवाद
वाक्य न होते तो संभवतः लोग शुभ कर्म की ओर कम प्रवृत्त होते और निषिद्ध कर्मों से अत्यधिक

दूर भी न होते । जैसे लोक में किसी बालक को ज्वरादि- शमनार्थ गुड़च पीने की ओर यह कहकर लालच दिया जाता है कि इसे पीने से तुम्हारी शिखा बढ़ेगी - 'शिखा ते वर्द्धते वत्स ! गुड़चों श्रद्धया पिव' उसी प्रकार यज्ञानुष्ठान के कल्याणार्थ उसे शुभ कर्म करने के लिये अर्थवाद का ही सहारा लेकर प्रलोभित किया जाता है । उदाहरणातः वेदाध्ययन की ओर प्रवृत्त करने की विधि है - 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' अर्थात् स्व-वंश परम्परा से प्राप्त अपना वेद, उसका अध्ययन प्रत्येक उपनीत त्रैवर्णिक को करना चाहिये । परन्तु वेदाध्ययन की ओर सहसा लोग प्रवृत्त नहीं होंगे, जब तक उन्हें कोई प्रलोभन न दिया जाय । यह प्रलोभन तैत्तिरीयारण्यक में इस प्रकार दिया गया है -

अपहृत पाप्मा स्वाध्यायो देव पवित्रं वा एतत्तं योऽनूत्सृजत्यभागो वाचि भवत्यमागो
नाके । (तै० आ०, २/१५)

अर्थात् वेदाध्ययन पाप को नष्ट करने वाला और देवताओं को भी पवित्र करने वाला है । जो व्यक्ति इसे छोड़ देता है वह वाणी में अभागी होता है और स्वर्ग में भी अभागी होता है ।

इसी सिद्धान्त की पुष्टि एक ऋचा को भी उद्धृत करके की गई है -

यस्तित्याज सखिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।

यद्योऽशृणोत्यत्योकं शृणोति न हि प्रवेद मुकुतस्य पन्थाम् ॥

(तै० आ०, २/१५)

अर्थात् जो मित्र के समान उपकारक वेद को छोड़ देता है (उसका अध्ययन नहीं करता) उसकी वाणी माय रहित है । वेद के अतिरिक्त वह जो कुछ भी सुनता है, मिथ्या सुनता है । ऐसा व्यक्ति सुकृत के मार्ग को विलकुल नहीं जानता ।

श्रुत्यर्थ का अनुसरण करने वाली स्मृति के द्वारा भी वेदाध्ययन से विरत रहने वाले की निन्दा इस प्रकार की गई है कि वह व्यक्ति जीता हुआ भी वंश के साथ शूद्रत्व को प्राप्त करता है -

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते धर्मम् ।

स जीवनेव शूद्रत्वमाशु गच्छति । सान्वयः ॥

(मनुस्मृति, २/१६८)

वेदाध्ययन करते हुए द्विज जिन - जिन यज्ञों का अध्ययन करता है, उनके अध्ययन से उसका इष्ट सम्पादित होता है और वह अन्तरोगत्वा अग्नि, वायु और आदित्य के सायुज्य को प्राप्त करता है -

यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छति ।
(तै० आ०, २/१५)

ये सब अर्थवादात्मक कथन हैं, जिनसे द्विज वेदाध्ययन करने की ओर उन्मुख होता है । यदि केवल 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह विधि वाक्य होता तो संभवतः कम ही लोग उस ओर प्रवृत्त होते, लेकिन उपर्युक्त प्रलोभन से तो सभी लोग वेदाध्ययन की ओर प्रवृत्त होंगे । अतः उदासीन व्यक्ति को भी प्रलोभन देकर कर्म की ओर प्रवृत्त करना अर्थवाद का मुख्य प्रयोजन है ।

जैमिनि को पूर्व मीमांसा में अर्थवाद का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये बड़ा आयास करना पड़ा है। उन्होंने प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद के १ से ३० सूत्र तक अर्थवाद के विषय में विचार व्यक्त किये हैं और उन पर विशेष रूप से प्रकाश शबरस्वामी ने अपने भाष्य द्वारा डाला है। सर्वप्रथम पूर्वपक्ष को उपस्थित करके जो भी शंकायें अर्थवाद के विषय में हो सकती हैं, उनका उत्थापन कर सिद्धान्तपक्ष में उनका समाधान किया गया है। जैमिनि इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि विधि और अर्थवाद में एक वाक्यता है और विधि के स्तावक होने से अर्थवादों का प्रामाण्य है—

विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ॥ (१/२/७)

विधि वाक्यों से पृथक् अर्थवाद वाक्यों का कोई महत्व नहीं प्रतीत होता; अपितु आनर्थक्य ही प्रतीत होता है; लेकिन विधि वाक्यों के साथ उन्हें रखने से अर्थ की संगति बैठ जाती है। उदाहरणातः ‘वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः’ (तै० सं०, २/१/१/१) अर्थात् ऐश्वर्य की अभिलाषा रखने वाले व्यक्ति को वायुदेवता सम्बन्धी श्वेत पशु का आलभन करना चाहिये, वह विधि वाक्य है और इसका शेष भाग अर्थवाद है— ‘वायुवेक्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूति गमयति’। अर्थात् वायु शीघ्रगामी देवता है, वह उसे शीघ्र ही ऐश्वर्य प्रदान करता है, जो उसके भागधेय श्वेत पशु से उसकी आराधना करता है (तै० सं०, २/१/१/१)। इस प्रकार विधि और अर्थवाद दोनों को एक साथ रखकर पढ़ने से कोई विसंगति नहीं प्रतीत होती और अर्थवाद की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। अर्थवाद वाक्य को दृष्टि में रखकर श्वेत पशु के आलभन का औचित्य समझ में आ जाता है।

कुछ लोग अर्थवाद का प्रामाण्य नहीं मानते; क्योंकि अर्थवाद प्रमादपठित से प्रतीत होते हैं। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। अनध्यायवर्जन नियम पूर्वक जिस गुरुपरम्परा से विधि वाक्य प्राप्त होते हैं, उसी परम्परा से अर्थवाद वाक्य भी प्राप्त होते हैं। अतः यदि हम विधि वाक्यों का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं तो अर्थवादों का भी प्रामाण्य मानना पड़ेगा। यदि अर्थवाद व्यर्थ होते तो उनके अध्ययन में अध्ययन-नियम का पालन क्यों आवश्यक होता। अतः अर्थवादों को हम प्रमादपठित नहीं कह सकते। इस सम्बन्ध में जैमिनि का यह सूत्र विचारणीय है— ‘तुल्यं च साम्प्रदायिकम्’ (पू० मी०, १/२/८)।

कुछ लोग अर्थवादों के वैयर्थ्य के सम्बन्ध में यह तर्क उपस्थित करते हैं कि सम्पूर्ण वेद क्रिया पतिपादक है (आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् — पू० मी०, १/२/१); अतः अक्रिया प्रतिपादक अर्थवादों का प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। जैसे— ‘सोऽरोदीद्यदरोदीतद्रुज्यस्य रुद्रत्वम्’ (तै० सं०, १/५/१/१)। अर्थात् वह रोये, चूंकि वह रोये यही रुद्र का रुद्रत्व है। ऐसे अर्थवाद का कोई स्वार्थ विवक्षित नहीं होता। अतः इसका प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। यहाँ भी विधिना तु एकवाक्यत्वात् वाला नियम लागू होता है। इस अर्थवाद का वैयर्थ्य सिद्ध करने के पूर्व हमें देखना होगा कि यह किस विधि का शेष भाग है। इसकी विधि है— ‘वर्हिषि

रजतं न देयम्' अर्थात् वहियाग में चाँदी का दान नहीं करना चाहिये। जो चाँदी का दान करता है, उसके घर में वर्ष के भीतर रोदन होता है। इसका कारण यह है कि त्रिपुरासुर का वंघ करने के लिये उद्यत भगवान् शंकर के नेत्रों से कोष के कारण जो अश्रु विगलित हुआ वही चाँदी हो गई। अतः चाँदी की उत्पत्ति ही अश्रु से है इसीलिये जो चाँदी का दान करेगा, उसके भी घर रोना होगा। इस प्रकार विधि और अर्थवाद में सामंजस्य स्थापित किया जाता है और इससे अर्थवाद के वैयर्थ्य का निवारण हो जाता है। इस सब से निर्गतिर्थ यह निकला कि रजतदान नहीं करना चाहिये, अपितु सुवर्ण - दान करना चाहिये।

कहीं अर्थवादों में शास्त्र - विरोध सा दिखाई पड़ता है। जैसे - 'स्तेनं मनः अनृतवादिनी वाक्' इस प्रकार के अर्थवादों में जहाँ मन को चोर और वाणी को झूठ बोलने वाली कहा गया है, 'नानृतं वदेत्' झूठ नहीं बोलना चाहिये - इस प्रतिषेध शास्त्र से विरोध प्रकट होता है। शतपथ ब्राह्मण (२।२।३।२०) में कहा गया है - आहिताग्नि व्यक्ति को झूठ नहीं बोलना चाहिये, बल्कि सत्य बोलना चाहिये -

न वा आहिताग्निनाऽनृतं वदितव्यं न वदञ्जातु नानृतं वदेत्तावत्सत्वमेवोपचारः ।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब वाणी झूठ बोलती है, तो मनुष्य से यह अपेक्षा कैसे की जा सकती है कि वह सत्य बोले, झूठ न बोले। इसके समाधान में विधिवाक्य को ढूँढ़ना पड़ेगा, जिसका 'स्तेनं मनः अनृतवादिनी वाक्' यह अर्थवाद शेष भाग है। विधि है "हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृमणाति" (मै० सं०, ४/८/२/३) अर्थात् हिरण्य को हाथ में लेना चाहिये और धारण करना चाहिये। यहाँ हाथ में हिरण्य-ग्रहण की भी प्रशंसा करने के लिये मन को स्तेन और वाणी को अनृतवादिनी कहा गया है। जैसे चोर प्रच्छन्न होते हैं, उसी प्रकार मन भी प्रच्छन्न है और वाणी भी प्रायः झूठ बोलती है। अतः मन प्रच्छन्न रूप है और वाणी अनृतप्राय है। हाथ न तो प्रच्छन्न है और न अनृतप्राय। इसीलिये हाथ में हिरण्यग्रहण की प्रशंसा करने के लिये ऐसा कहा गया है। जैमिनि ने 'रूपात्प्रायात्' (१/२/११) - इस सूत्र द्वारा इसका समाधान किया है।

कहीं - कहीं अर्थवादों में एक की अपेक्षा दूसरे का वैयर्थ्य दिखाई पड़ता है। जैसे तत्त्विरीय संहिता (५/३/१२/२) में कहा गया है कि जो व्यक्ति अश्वमेध यज्ञ को करता है और उसको जानता है वह मृत्यु से पार हो जाता है, पाप से पार हो जाता है और ब्रह्महत्या से पार हो जाता है -

तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद ॥

यहाँ यह शंका होती है कि यदि अश्वमेध यज्ञ के ज्ञान से ही मनुष्य मृत्यु-पाप और ब्रह्महत्या से पार हो जायेगा, तो वह बहुद्रव्य प्रयास साध्य अश्वमेध यज्ञ क्यों करेगा। इसका

समाधान इस प्रकार किया गया है कि ब्रह्महत्या दो प्रकार की होती है - कायिकी और मानसी। मानसी ब्रह्महत्या पूर्व की अपेक्षा स्वतंत्र होती है, उससे तो मनुष्य अश्वमेघ के वेदन से पार हो सकता है। लेकिन कायिकी ब्रह्महत्या से निवृत्ति यज्ञानुष्ठान से ही होगी। इस प्रकार अर्थ की संगति लगाने से अन्यानर्थक्य दोष का परिहार हो जाता है।

इस प्रकार मीमांसकों ने सभी अर्थवादों का कुछ न कुछ समाधान कर उनका प्रामाण्य सिद्ध किया है। अतः अर्थवादों के सम्बन्ध में जो भी दोष दिखाई पड़ते हैं, उन सबका निराकरण पूर्वमीमांसा कर देती है और विध्यर्थवादरूप ब्राह्मण तथा मन्त्र का धर्म में प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। माघवाचार्य ने जैमिनीय न्यायमाला-विस्तर (१/२/१) में विधि और अर्थवाद के परस्पर सम्बन्ध और उनके धर्म-प्रामाण्य के विषय में कह कर पूरे प्रकरण का उपसंहार इस प्रकार किया है —

विध्यर्थवादोऽसाकाङ्क्षौ प्राशस्त्यपुरुषार्थयोः ।
तेनैकवाक्यता तस्माद् वादानां धर्ममानता ॥

卷之三

ग्रन्थ—समीक्षा

मञ्जूलायतनम् — बिहारी लाल शर्मा, वीर - सेवा - मन्दिर - ट्रस्ट-प्रकाशन, चमेली कुटीर, डुमराँव-कालोनी, अस्सी, वाराणसी, मूल्य— दस रुपये ।

जैन धर्म और दर्शन की परम्परा में २४वें तीर्थङ्कर मगवान् महावीर के जीवन चरित के विषय में प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत भाषाओं में अनेक पद्यकाव्य के दर्शन होते हैं किन्तु गद्य-काव्य की परम्परा में भगवान् महावीर के जीवन से सम्बद्ध यह प्रथम रचना है। इस रचना का श्रेय पंडित बिहारी लाल शर्मा जी को है। पाण्डित्यपूर्ण इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में विद्ववर डॉ०-दरबारी लाल कोठिया का प्रकाशकीय है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में पाँच सोपान हैं। प्रथम सोपान के अन्तर्गत भारत-वर्णनम् से लेकर तीर्थङ्कर जन्म तथा जन्मोत्सव तक का वर्णन किया गया है। द्वितीय सोपान के मुख्य विषय हैं— मेरु में इन्द्र द्वारा जन्माभिषेक वर्णन, राजभवन में सुरपति का नाटक-प्रदर्शन, सुत जन्म से सिद्धार्थ और विशला का हर्ष-वर्णन। तृतीय सोपान में वर्द्धमान की दीक्षा, चिन्तन, तापस आचरण, विवाह तथा केवल ज्ञानोत्पत्ति का वर्णन किया गया है। चतुर्थ सोपान के अन्तर्गत इन्द्रभूति के शिष्यत्व-ग्रहण का प्रमुख रूप से वर्णन किया गया है। पञ्चम सोपान में छः स्तम्भ मुख्य हैं— तत्त्वोपदेश, ईश्वर-स्वरूप, कर्मस्वरूप, स्याद्वाद का स्वरूप, उपसंहार तथा वर्द्धमान का निर्वाण गमन ।

भाषा बहुत ही परिमार्जित है। समस्त पदों में अलङ्कार की योजना विशेष प्रशंसनीय है। इस ग्रन्थ के अर्धभाग में मूल का हिन्दी-सार भी प्रस्तुत किया गया है।

— डॉ० सत्यभाषा श्रीवास्तव, संस्कृत-विभाग, गनपत सहाय पी. जी. कालेज, सुलतानपुर

मेघदूतम् (भावानुवाद) — डॉ० अभ्यमित्र, डी० फिल्स०, प्रकाशक— राजा बुक डिपो, जीरो रोड, इलाहाबाद, मूल्य— बीस रुपये ।

कालिदास का 'मेघदूत' विश्वसाहित्य में अपनी सरसता तथा लालित्य के लिये सर्वाधिक प्रतिष्ठित काव्य के रूप में स्वीकृत है। ऐसे ललित काव्य का भावानुवाद एक दुरुह कार्य है, लेकिन जो सफल और भावप्रवण रचनाकार हैं उनके लिये यह सहज धर्म की तरह सरस तथा सुगम है। मेघदूत का प्रतिपाद्य है— मनुष्य की चिरन्तन विरह-वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति करना। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवास जैसे विद्वानों ने मेघदूत की निहितार्थिता पर विशेष बल दिया है। ऐसे उत्कृष्ट काव्य का भावानुवाद करके डॉ० अभ्य मित्र ने निश्चय ही इलाघ्य तथा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। जो संस्कृत पढ़ने में असमर्थ हैं उन तक यह अनुवाद मेघदूत का मर्म पहुँचाने में पूर्णतया समर्थ है।

—डॉ० महेन्द्रनाथ पाण्डेय, अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, आचार्य नरेन्द्रदेव किसान महाविद्यालय, बभनान, गोडा

महावीर-वाणी— संकलयिता तथा हिन्दी रूपान्तरकार— डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, प्रकाशन, अस्सी, वाराणसी, मूल्य— ३ रूपये ।

जैन साहित्य के अन्तर्गत भगवान् महावीर के उद्देश्यों के जनोपयोगी संकलन की बहुत बड़ी आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति जैनधर्म और दर्शन को समर्पित व्यक्तित्व वाले डॉ० दरबारी लाल कोठिया की प्रेरणा से डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री के द्वारा की गयी । डॉ० कोठिया के प्रकाशकीय से संबलित यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है । प्रथम भाग में नमस्कार मन्त्र से प्रारम्भ होकर परमात्मा, केवल ज्ञान, अहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, तीर्थ, तीर्थङ्कर आदि का स्वरूप वर्णित है । द्वितीय भाग के महत्वपूर्ण वर्णन विषय हैं— धर्म, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, रत्नत्रय, श्रमण, श्रावक, पुण्य, मोह, कर्म, लोक, ज्ञान, जीव आदि । ग्रन्थ का मुख्य वैशिष्ट्य यह है कि ग्रन्थकर्ता ने महावीर के उपदेशों को उद्धृत कर उनका हिन्दी रूपान्तर भी किया है । जैन धर्म और दर्शन के निष्ठावान् व्यक्तियों के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपादेय है ।

— डॉ० गौरीशंकर तिवारी, (प्राचीन इतिहास-विभाग), साकेत पी० जी० कालेज, फैजाबाद

देवागम—(अपरनाम-आप्तमीमांसा)— समन्तभद्राचार्य विरचित, अनुवादक— जुगुलकिशोर मुख्तार 'युगवीर', वीरसेवा - मन्दिर - ट्रस्ट - प्रकाशन, मूल्य— ५ रूपये ।

जैन आगमों की परम्परा में समन्तभद्र की उपलब्ध कृतियाँ अत्यन्त दुर्लह हैं, उनमें से एक का अनुवाद विषय के अधिकारी विद्वान् जुगुलकिशोर द्वारा प्रस्तुत है । ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक विपुलकाय प्रस्तावना भी है । इसमें देवागम का परिचय प्रस्तुत किया गया है । इसके साथ ही देवागम की टीकाओं, रचनाओं का मूलाधार, समीक्षा, समन्तभद्र का परिचय तथा तत्कालीन जैन दार्शनिक धाराओं का संकेत किया गया है । यह ग्रन्थ दस परिच्छेदों में विभक्त है जिसमें एक सौ चौदह कारिकार्य हैं । परिच्छेदों के मुख्य वर्णन विषय हैं— देवागमादि विभूतियाँ, अद्वैत एकान्त, सिद्धि के अपेक्षित-अनपेक्षित एकान्त, आगम सिद्ध एकान्त, अन्तरङ्गार्थता, दैवसिद्धि एकान्त, सुख-दुःख, पापपुण्य के एकान्त और श्रज्ञान से बन्ध तथा अल्पज्ञान से मोक्ष के एकान्त की सदोषता । ग्रन्थ के अन्त में प्रमुख शब्दों की सूची भी दी गयी है । मुख पृष्ठ तथा छपाई बहुत ही शारीरक है ।

—डॉ० रमाशङ्कर मिश्र (सम्पादक)

लोकविजय यन्त्र — सम्पादक— डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, वीर - सेवा - मन्दिर - ट्रस्ट - प्रकाशन, अस्सी, वाराणसी, मूल्य— बारह रूपये ।

लोक-विजय-यन्त्र ज्यौतिष् शास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । न्याय और ज्यौतिष् के प्रकाण्ड पण्डित डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने मूलग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद किया है । विद्वान् सूर्यनारायण व्यास

के प्राक्कथन से संबलित सम्पादक के द्वारा विस्तृत प्रस्तावना प्रस्तुत की गयी है। इस प्रस्तावना में ज्योतिष् शास्त्र की व्युत्पत्ति, विकास, ग्रहरश्मयों के प्रभाव, जैन ज्योतिष् रचनायें, लोकविजय का ज्योतिष् में स्थान और ग्रन्थ के वर्णन विषय की चर्चा की गयी है।

इस ग्रन्थ में तीस गाथायें हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ देश, नगर, ध्राम और राष्ट्र के फलबोध से सम्बद्ध है। ज्योतिष्शास्त्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। वर्षा, सुभित्ति-दुर्भित्ति, शकुन, ध्रुवाङ्क, शुभाशुभत्व आदि विषयों पर चर्चा के साथ नवग्रहों की अन्तर, प्रत्यन्तर, सूक्ष्म और प्राण दशाओं के फल पर विस्तृत चर्चा की गयी है। ग्रन्थ का वैशिष्ट्य यह है कि इन समस्त विषयों का वर्णन प्राकृत भाषा में रचित मात्र चालीस कारिकाओं के अन्तर्गत हुआ है। ग्रन्थ के अन्त में तीन परिशिष्ट हैं, जो क्रमशः वर्षा के अनुमान, यात्राकाल के शुभाशुभत्व और उत्पात-विचार से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ जैनसाहित्य के लिए अपूर्व देन स्वरूप है।

— डॉ० रमाशंकर मिश्र (सम्पादक)

उत्तराखण्ड : संस्कृति, साहित्य और पर्यटन — डॉ० शिवप्रसाद नैथानी (प्राचीन इतिहास-विभाग) तथा डॉ० हरिमोहन, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर, (गढ़वाल), सरस्वती पब्लिकेशन, श्रीनगर, पृष्ठ सं० २६७, मूल्य सजिलद ५० रुपये, पेपर बैंक- ३५ रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक उत्तराखण्ड की संस्कृति, भाषा, साहित्य, तीर्थों एवं सुरम्य स्थलों का दिग्दर्शन और अध्ययन करने वाली एक महत्वपूर्ण प्रकाशन है। पुस्तक चार खण्डों में विभाजित है।

संस्कृति पर प्रकाश डालते हुये लेखक ने सिद्ध किया है कि सांस्कृतिक दृष्टि से आज समस्त भारत का प्रामाणिक लघु संस्करण उत्तराखण्ड है और उसका प्रजातिक तथा सांस्कृतिक इतिहास बहुत प्राचीन है।

इतिहास के दस्तावेज खण्ड में कार्तिकेयपुर, रणिहाट, श्रीनगर तथा पाण्डुकेश्वर ताम्र-पत्रों पर गहन तथा शोधपूर्ण जानकारी दी गई है।

भाषा और साहित्य खण्ड में गढ़वाल और कुमाऊँ नामों की उत्पत्ति का इतिहास इन दोनों सम्भागों की बोलियों और भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन, पद्धति के अनुरूप, ध्वनि-प्रकृति, भाव-प्रकृति और मूल शब्दभण्डार वर्णित है। लोक साहित्य प्रकरण में गढ़वाली, कुमाऊँनी लोकगीत, लोक कथायें, गाथायें, लोकोक्तियाँ, कहावतें, पहेलियाँ, साधनात्मक ज्ञान, जादू-टोना आदि लोक साहित्यिक विधाओं का सोदाहरण परिचय दिया गया है।

पर्यटन खण्ड में उत्तराखण्ड के हिमनद, उच्चांश की तथा उप हिमालयी क्षेत्र की मनोरम उपन्याकाओं के श्रेष्ठतम वनप्रांतर स्थलों तथा प्रमुख तीर्थों का ऐतिहासिक पुराण अध्ययन प्रस्तुत कर इसे उत्तराखण्ड पर शोध करने वालों के लिये सन्दर्भ पुस्तक का महत्व प्रदान कर दिया गया है।

परिशिष्ट में मानसरोवर यात्रा पर ऐतिहासिक एवं सामयिक जानकारी देकर इसे अत्यन्त सामयिक बनाया गया है। अन्त में उत्तराखण्ड के महत्वपूर्ण स्थलों को जोड़ने वाले मनोरम पद-यात्रा-मार्गों की दूरी देकर इसे उपादेय बना दिया गया है।

अतः यह पुस्तक संस्कृत के अध्येताओं, हिमालय प्रेमियों एवं श्रद्धालु तीर्थयात्रियों तथा आवृत्तिक पर्यटकों के लिये बहुत ही उपादेय है।

— इन्दुमती थपलियाल, (संस्कृत-विभाग), गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर (गढ़वाल)

श्री विश्वनाथमहापात्रविरचितः काव्यप्रकाशदर्शणः — सम्पादक — डॉ० गोपुराजु रामा, प्राध्यापक, गज्जानाथ ज्ञा केन्द्रीय संस्कृत विद्यालय, इलाहाबाद; मञ्जु प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण प्रथम, सन् १९७६ ई०, मूल्य — सोलह रूपये।

धर्वनि-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य 'मम्मट' का काव्यप्रकाश काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में अत्यन्त गौरवास्पद है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता, विविव विषयों को सूत्र-शैली में उपनिबद्ध करना है। काव्य-प्रकाश पर लिखी गयी टीकाओं की अतिविशाल परम्परा में माणिक्यचन्द्रकृत 'सङ्केतटीका', सरस्वती तीर्थकृत 'वालचिन्तानुरच्छिनी' टीका, परमानन्द-भट्टाचार्यकृत 'विस्तारिका', श्रीवत्सलाञ्छनकृत 'सारवोधिनी', नरसिंहकृत 'नरसिंहमनीषा', भीमसेनकृत 'सुधासागरटीका', वैद्यनाथकृत 'उदाहरणचन्द्रिका' इत्यादि जिन महत्वपूर्ण टीकाओं ने काव्यप्रकाश के मर्मप्रकाशन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, उन्हीं की सरणि में साहित्यदर्शण नामक अतिप्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के कर्ता विश्वनाथ महापात्र द्वारा विरचित 'काव्य प्रकाश दर्पण' भी आता है जो 'काव्य प्रकाश' के विष्व को विशुद्ध रूप में प्रतिविम्बित करने के कारण अन्वर्थक है।

काव्य-प्रकाश के काव्यलक्षण का प्रत्याख्यान करने के कारण विश्वनाथ महापात्र को विद्वान् मम्मट का विरोधी मानते हैं, तथापि 'काव्य प्रकाश दर्पण' में विश्वनाथ का विरोधी स्वर कहों भी मुखरित नहीं हुआ है।

'काव्यप्रकाशदर्पण' नामक टीका खण्डित रूप में सर्वप्रथम गज्जानाथ भा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यालय, इलाहाबाद के प्राध्यापक डॉ० गोपराजुरामा द्वारा सम्पादित की गयी, जिसके साथ संस्कृत की अन्य दो प्रसिद्ध टीकाएँ भी थीं। सम्पादक ने ही अन्ततः भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट से इस अमूल्य टीका-ग्रन्थ की पाण्डुलिपि प्राप्त कर ली और उसे प्रकाशित करने का स्तुत्यकार्य सम्पन्न कर लिया।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में सम्पादक ने आठ पृष्ठों की भूमिका दी है, जिसमें टीकाकार के समय, उसकी कृतियों और टीका की विशेषताओं का संक्षिप्त किन्तु सारगम्भित विवेचन किया गया है।

— डॉ० उमाशङ्कर शुक्ल, रीडर तथा अध्यक्ष (संस्कृत), एम० एल० के० कालेज बलरामपुर, गोडा

जैनतर्कशास्त्र में अनुमान-विचार — डॉ० दरबारी लाल कोठिया, वीरसेवा-मन्दिर-ट्रस्ट प्रकाशन, चमेली कुटीर, १/१२८ डुमराँव वाग, अस्सी, वाराणसी, मूल्य— पच्चीस रुपये।

प्रायः सभी भारतीय दर्शन में प्रमाणों की चर्चा के प्रकरण में प्रत्यक्ष के साथ अनुमान प्रमाण का विवेचन किया गया है। एक साथ और एक स्थान पर भारतीय दर्शन के समग्र तर्क-साहित्य का प्रस्तुतीकरण दुर्लभप्राय है। डॉ० कोठिया ने, सम्पूर्ण तर्क साहित्य को, अपने उक्त प्रकाशित शोध-प्रबन्ध में सम्यक् स्थान देकर प्रशंसनीय कार्य किया है। ग्रन्थ में जैन सम्मत अनुमान प्रमाण के स्वरूप के साथ सांख्य, बौद्ध, वेदान्त और मीमांसा आदि दार्शनिकपद्धति सम्मत 'अनुमान प्रमाण, पर विशद प्रकाश डाला गया है।

डॉ० देवराज के प्राकृकथन तथा नेमिचन्द्र शास्त्री के पुरोवाक से संबलित यह ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में चार तथा शेष सभी में दो-दो परिच्छेद हैं। प्रथम अध्याय में न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, मीमांसा, वेदान्त और सांख्यसम्मत अनुमान-विकास - क्रम, जैनपरम्परा में अनुमान-विकास, अनुमान का स्वरूप, भारतीय अनुमान और पाश्चात्य तर्कशास्त्र आदि विषय वर्णित हैं। द्वितीय अध्याय के मुख्य वर्णन विषय हैं— जैन प्रमाणवाद और उसमें अनुमान का स्थान तथा अनुमान-समीक्षा। तृतीय अध्याय में अनुमानभेद-विमर्श तथा व्याप्ति-विमर्श पर विस्तृत चर्चा की गई है। चतुर्थ अध्याय अवयव-विमर्श तथा हेतु-विमर्श से संबलित है। पंचम-अध्याय जैनपरम्परा में अनुमानाभास विमर्श तथा इतर परम्पराओं में अनुमानाभास विमर्श से सम्बद्ध है। अन्त में उपसंहार के अन्तर्गत अनुष्ठान में अन्य प्रमाणों के अन्तर्भव की चर्चा हुई है। जैनसम्मत तर्कचिन्तन का कोई भी अंश अस्पष्ट है, यह कहना असम्भव है। डॉ० कोठिया का परिश्रम तथा वैदुष्य दोनों ही इस ग्रन्थ का प्राण तत्त्व है। ग्रन्थ का आवरण पृष्ठ बहुत ही आकर्षक तथा शोभन है।

— डॉ० रमाशंकर मिश्र (सम्पादक)

संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक — डॉ० अभयमित्र, आशु प्रकाशन, ११४३ / ३१, पुराना कट्टा, इलाहाबाद, मूल्य— पैसठ रुपये।

समीक्ष्य ग्रन्थ इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा डी० फिल० उपाधि के लिए स्वीकृत प्रशस्त शोध-प्रबन्ध है। डॉ० ग्रादा प्रसाद मिश्र, भूतपूर्व कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा लिखित प्रस्तावना से अलंकृत यह ग्रन्थ निम्नलिखित आठ परिच्छेदों में विभाजित है :—
 (१) प्रतिनायक सम्बन्धी धारणा : मूल एवं विकास : (२) प्रतिनायक का शास्त्रीय स्वरूप, (६) नाट्य संरचना तथा प्रतिनायक, (४) नायक-प्रतिनायक सम्बन्ध एवं रस, (५) रामकथा-मूलक रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका, (६) ऐतिहासिक, लोककथाश्रित तथा प्रतीक रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका तथा (७) पाश्चात्य त्रासदी : खलनायक तथा प्रतिनायक।

संस्कृत के आचार्यों ने नाटक के स्वरूप और उसके प्रकारों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन करके भी यद्यपि प्रतिनायक के सम्बन्ध में प्रायः मौन धारण किया तथापि डॉ० मित्र ने

नाट्याचारों की दृष्टि में ही प्रतिनायक के स्वरूप का इस ग्रन्थ में प्रामाणिक-वर्णन करके पाश्चात्य नाट्य परम्परा (त्रासदी) में चित्रित खलनायक से उसके अन्तर को सुस्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है और इसके लिये भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-परम्परा और समीक्षा के सिद्धान्तों का तुलनात्मक प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत करते हुये उसके मूल तक पहुँचने का प्रयत्न किया है । विद्वान् लेखक ने भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए उसमें परस्पर भेद और अभेद का निरीक्षण करने का भी प्रयत्न किया है । इस प्रसङ्ग में लेखक की निर्भीकता देखने योग्य है ।

प्रस्तुत समग्र ग्रन्थ में आद्योपान्त निष्पक्ष, निर्भीक और स्पष्ट समीक्षा विद्वान् लेखक की सूक्ष्मेक्षिका और समीक्षा-प्रतिभा को सूचित करती है । विषय की नवीनता, नाट्यशास्त्रीयलक्ष्य और लक्षण वाड़मय के मन्मथ तथा लेखक तलावगाहिनी तथा गम्भीर समीक्षा की प्रतिभा से प्रसूत यह ग्रन्थ न केवल शोध की दिशा में एक पथ प्रस्तुत करता है, बल्कि एक बहुत बड़े अभाव की भी पूर्ति करता है । इसके लिये लेखक और प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं ।

—डॉ० ब्रह्मनित्र अवस्थी, लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यावीठ, नई दिल्ली ।

SHIVA SUTRAS : THE YOGA OF SUPREME IDENTITY by Jaideva Singh. Motilal Banarsidas, Jawahar Nagar Delhi 7, 1979. Pages lii. 278. Price : Rs. 45-00 (paper), Rs.60-00 (Cloth).

This work is an English translation and lucid exposition of Vasugupta's *Shiva Sutras* with the well known commentary, *Vimarshini* by *Kshemaraja*. The basic text is based on *Kashmira Shaivism*. The work begins with the blessing of *Swami Muktananda* and preface by the author himself. A vivid introduction is added before the text by the author. Each *sutra* is given both in *Devanagari* and Roman Scripts. The meaning of every word of the *sutra* is explained in English and follows the English translation of the *Sutra*. *Kshemaraja's Commentary*, *Vimarshini*, is given only in *Devanagari* followed by the English translation. Important technical words of *Sutra* and *Vimarshini* have been explained, very vividly, in the 'Notes' by the author. In the last, glossary of technical terms, a Subject index, an index to important Sanskrit words and an index to the *Sutras* have been added alphabetically to enhance the usefulness of the work. There is nothing to say about the annotator and translator, Jaidev Singh, who is an authority on Kashmir Shaivism and who has studied the *Shastras* from *Swami Lakshamana Joo*, the traditional scholar and an exponent of the system. The paper, printing and the get-up of the book are very impressive and attractive as a whole.

—Dr. Rama Shankar Mishra (Editor)

HINDU PHILOSOPHY - THEOS BERNARD, Published by Motilal Banarsidas, Jawahar Nagar, Delhi- 7 Pages 207. Price : Rs. 50-00

The book starts with the gist and purpose of Hindu Philosophy. It includes the philosophy of Nyaya, Vaishesika, Samkhya, Yoga, Mimansa, Vedanta and Kashmira Shaivism, with comprehensive introduction on the cults of Shankara, Ramanuja, Madhva, Kashmira Shaivism, the Tantras, Shaivism, Shaktism and Vaisnavism. The author, very vividly, deals the purpose, scope philosophy and literature of every system of philosophy mentioned above. In the last, general critical works on Nyaya, Vaishesika, Sankhya, Yoga, Mimansa, Vedanta and Kashmir Shaivism, have been included. The book is very interesting and leaves lasting impression on the mind of the reader who desires to have the glimpse of the subject in a nut shell. The cover get-up and printing of the book is very attractive which is the sole trend of the publisher.

— Rama Kant Tiwari, Accounts Officer, Govt. Press, Aishbagh, Lucknow.

NAGARJUNA'S LETTER TO KING GAUTAMIPUTRA, translated into English from the Tibetan by Lozang Jamspal, Ngawang Samten Chophel and Peter Della Santina. Motilal Banarsidas, Bungalow Road, Jawahar Nagar, Delhi-110007, 1978. Pages xxii, 118. Price Rs. 35-00.

This is a translated work with the commentary in English of Tibetan Version known as SLOB. DPON. KLU. SGRUB. KVI. BSHES. PA'I. SPRINGS. YIG. and in Sanskrit as SUHRILLEKHA. This work is a concise and comprehensive explanation of the Buddhist path to liberation. Gautamiputra was a close friend of Acharya Nagarjuna. The work contains 123 verses with a colophon. It is very necessary to search out the work original in Sanskrit. The explanatory notes, based on Tibetan commentaries, have been added to the English translation of the text. In the appendix I the Tibetan text of verses has been included for the scholars who wish to consult Tibetan version. In appendix II the glossary of some English terms used in the text with Tibetan and Sanskrit equivalents has been included.

It is very tragic to note that the osiginal work in Sanskrit is lost and from its Tibetan version it has been brought out in English in the galaxy of Indological Studies and this whole credit goes to M/s Motilal Banarsidas to get it published. The cover and get-up of the work are exellent with a figure of Dharmachakrapravartana.

—Dr. Rama Shankar Mishra (Editor)

VIDURA-NITI AND VIDULA-PUTRA-SAMVADA, Translated in English by Hem Raj Shastri. Foreword : Dr. S. D. Misra. Indira Prakashan, A-11, Sector-D, Kankar Bagh Colony, Patna. Branch : 189 C, Vidya Vihar, Pilani - 333 031.

The Mahabharata is a treasure house of knowledge and information pertaining to every walk and phase of life. It is not merely an Epic but an encyclopaedia in its character. Hence the saying, यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्-क्वचित् is not a hyperbolic statement, but reality.

The author, in the present book, has selected two small but very significant portion from the Udyoga-Parva of the Mahabharata, namely 'Vidura-Niti' & 'Vidula - Putra - Samvada' for English translation. Vidura - Niti is a very popular portion of the Mahabharata and next to Gita only. After Krishna's futile efforts to convince Duryodhana to give the legitimate share of kingdom to Pandavas, Dhritarastra seeks Vidura's advice and the dialogue between the two consisting of eight chapters is known as 'Vidura-Niti'.

'Vidula - Putra - Samvada' is a dialogue between Vidula and her deposed and defeated son, which is narrated to Krishna by Kunti making a provoking appeal to her sons that they should not give in to their enemies. One should always uphold the prestige of the country by all means, considering even one's life secondary to it. This dialogue, contained in four chapters, has come to be known as 'Vidula - Putra Samvada'. The translation follows an introduction of both the dialogues and thus the reader does not find himself at a loss to catch the main stream of the context. The author has very rightly conveyed the meaning of the verses in very simple and lucid language. He has added notes also, where ever necessary, to further clarify the idea. Thus the translation can be enjoyed even by a person not knowing Sanskrit. The get-up, and presentation make the book attractive as a whole.

—Dr. J. L. Sharma, Head, Deptt. of Sanskrit, Vidya Niketan, Pilani- 333 031

A HANDBOOK OF VIRASHAIVISM by S. C. Nandimath. Motilal Banarsiidas, Jawahar Nagar, Delhi - 7, 1979. Pages xlvi-176. Price Rs. 50-00

This book is a part of a thesis submitted in about 1931 by S. Nandimath for his Ph. D. degree to the University of London under the supervision of an eminent scholar, Dr. L. D. Barnett, in the field of Indological Studies. The book begins with a foreword by Prof R. D. Ranade.

In the branches of Pratyabhijna, Spanda, Krama, Trika, Vira and Siddhanta systems of Shaiva philosophy this work is related to the Vira Shaiva or Lingayata sect which rose in north-western Karnatak about the close of 12th century A. D. The work includes a long and valuable introduction discussing the history and early sources of the Shaivite system by Prof. R. N. Nandi. It is said about the work that it is the first authoritative exposition of the Vira Shaiva sect based on exhaustive study of original Kannada and Sanskrit sources. It is the only critical and comprehensive monograph on the subject available to date.

The work consists of twelve chapters analysing the origin of Vira Shaiva, the Vira Shaiva writers, the aids to faith, Vira Shaiva rites, the philosophical background, the conception of God, the Linga, Shakti or Maya, Appearance and Reality, the Universe and the Soul, the pilgrim's process and the quiescence of Vira Shaivism.

In the appendix - section a survey of minor Vira Shaiva writers, constituents of Maya, Satsthala and 101 Sthalas (according to *Siddhanta Shikhamani*) have been discussed. There is nothing to say about the nice get-up and correct printing of the book. The cover has become very attractive with a view of Liga - worship.

—Dr. Rama Shankar Mishra (Editor)

CLASSICAL SAMKHYA by Gerald J. Larson. Motilal Banarsidas, Bungalow Road, Jawahar Nagar, Delhi-7, 1979. Pages xvii+315. Price Rs. 60-00.

The book traces an interpretation of the history and meaning of the classical Samkhya. The work analyses a new interpretation of the philosophical significance of the system. Its author is a renowned scholar of philosophy and religion specially of South Asian religion and thought. The book begins with preface of two editions and small but concise introduction. The work has been divided into three long chapters dealing with a critical review of the history of interpretations of the Samkhya, an interpretation of the historical development of classical Samkhya and an interpretation of the meaning of the classical Samkhya respectively. In the first chapter the history of interpretations of the classical Samkhya, has been critically reviewed by several western scholars. In concluding the epilogue the author has discussed Shankar's criticism of Samkhya and the Samkhya - responses. In this second edition, the author has also included a chart of 25 basic *tattvas* of Samkhya and a glossary of Samkhya terminology as well. In the last, in the appendix - section the author has given a vivid chronological chart, the Samkhya Karika of Ishvarakrishna in Roman Script

with its English translation, a modern tradition of Samkhya Yoga and additional materials for the study of the history and meaning of Classical Samkhya respectively. The get-up and printing of the book are worth praising and a lesson to other indological publishers.

—Dr. Rama Shankar Misra (Editor)

CONSCIOUSNESS IN ADVAITA VEDANTA by William M. Indich. Motilal-Banarsidas, Jawahar Nagar, Delhi-7, 1980. Pages 144. Prices Rs. 50-00

Consciousness or *Atma tattva* is the main element in all the monistic systems of Indian philosophy. We recognise that Tattva in different ways e.g., *Brahma*, *Jiva*, *Atma*, *Shiva*, *Shakti*, *Ishvara*, *Prajnana* etc. The author deals with a systematic, critical and comparative study of the nature of human consciousness according to the most important advaita system of philosophy. The book consists of five chapters discussing an overview of the Advaitic system, an analysis of absolute consciousness, the hierarchy of lower levels of consciousness, advaitic theory of consciousness in relation to parallel in western thoughts and a critical evaluation of the advaitic treatment of consciousness respectively with a bibliography. It also includes an index in the end. The stages or experiences of human consciousness, such as, *Jagrat*, *Svapna*, *Susupti* and *Turiyatita* of advaitic system resemble to those of western thoughts - e. g., awakening consciousness, dream consciousness, deep sleep consciousness, and transcendental consciousness respectively. The cover get-up and printing of the book are very charming and attractive. Its entire credit goes to M/s Motilal Banarsidas, the patron of Indological Studies.

—Dr. Rama Shankar Mishra (Editor)

MAYA IN SHANKAR by L. THOMAS O'NEL. Motilal Banarsidas. Jawahar Nagar, Delhi-7, 1980. Pages xi+222. Price 60-00.

Maya plays an important role on the stage of Advaita School of Philosophy. The concept of *Maya* is very peculiar because of its own nature. It is neither *Sat* nor *asat* but *anirvachaniya* (unexpressible). It is called *mithya* or illusion. Acharya Shankara has expressed, very vividly, the concept and nature of *Maya* in his famous commentary *Shariraka Bhasya* on *Brahma Sutra* by Badarayana. In this work the author has concentrated upon the subject in the light of that commentary. Excluding the long introduction, the book has been

divided into two parts. The first part deals with a vivid historical survey of the subject from Vedic material upto Post *Shankara* thought and the second, its phenomenological enquiry. The book consists of eight chapters in total including the introduction and conclusion. The book ends with two appendices- A and B expressing references from Journal of University of Bombay, vol. 27 and 28. Besides it, a bibliography and an index are added alphabetically in the last. The cover get-up and accurate printing of the all publications of Motilal Banarsi-das have been highly appreciated.

—Dr. Rama Shankar Mishra

THE DIVINE PLAYER : A STUDY OF KRISHNA LILA by DAVID R. - KINSLEY. Motilal Banarsi-das, Jawahar Nagar, Delhi-7. Pages xii + 306. Price Rs. 65-00.

This book is a pious confluence of the divine play and religion related to *Krishna* in the phenomenon of Hinduism. The book has been divided into two parts. The first part 'surveys the role of play among the gods' and deals with the play or *lila* of *Krishna* as divine in Hinduism. The second part of the book discusses the role of play in the light of various religious *Krishna* cults. The book consists of five chapters in total excluding the introduction, conclusion, selected bibliography and scholarly index. In these five chapters the author of the book discusses about the play as a divine activity in Hinduism, *Krishna's Lila*, play as an expression of man's religious activity, the play of the saints and play in non-Hindu traditions.

The cover get-up attracts us, very much, to get it printed nicely with an idol of Nataraja.

—Dr. Rama Shankar Mishra

BHATTI-KAVYAM— edited and translated by Dr. Maheshwar Anant Karandikar and Dr. (Mrs.) Shailaja Karandikar, Quondam Professor of Sanskrit, University of Delhi. Motilal Banarsi-das, Jawahar Nagar, Delhi-7. 1982. Pages xxxvi + 355.

In Bhatti-Kavyam or the poem by Bhatti the application of the grammatical rules of *Panini* is illustrated. The full explanations of almost all the *Sutras* of *Panini* are expounded by the poet in his Kavya. The translators have also explained, where necessary, the relevant *Vartikas*. Excluding the English translation with the text of Cantos 1st to 22nd the long introduction has been added, very vividly, by learned editors into two parts. The first part

expresses about the title, and life and date of Bhatti, Bhamaha and Dandin. The second part of the introduction analyses a critical study of Bhatti - Kavyam pertaining to characteristics of Epic form of poetry, *rasas*, style, diction, metre, omissions and figures of speech. The book also includes an index of verses, alphabetically, in the last. What rests to say about the get-up and printing of the publications of M/s Motilal Banarsidas.

—Dr. Rama Shankar Mishra

MODERN INDIAN MYSTICISM by Kamakhya Prasad Singh Chaudhary. Motilal Banarsidas, Jawahar Nagar, Delhi-7, 1981. Pages xv+302. Price Rs. 75.00.

The book deals with Mysticism which is, chiefly, a mental experience. A mystic is he who, leaving all the individual levels, goes higher to the spiritual ways of life. He, in this way, is the only being who feels best of peace and harmony in mind.

The book serves as an aid to the study of mysticism with its various phases scholarly propounded by some great Indian mystics who have talked really of what they have experienced of mysticism. Here in the contents of the book we get the experiences of Ramkrishna, Vivekanand, Raman, Rabindra nath and Aurobindo, the eminent mystic souls of India.

The present invaluable volume consists of 7 chapters in total. Chapter No. 1 discusses the salient features and characteristics of mysticism written in a clear and impressive way. Chapter No. 2 presents before us the spiritual base of modern Hindu Renaissance. In the same chapter we also read of the impact of the western thought and way the Indian thinkers have gone under. Chapter No. 3 deals, specially, with the spiritual teaching of Ramakrishna and Vivekanand as well. No. 4 is concerned with Sri Raman wherein he is presented as a vedantic with a discussion on the mystic features of his Sadhana. No. 5 and 6 discuss Rabindranath Tagore and Aurobindo respectively the former as a mystic poet and the latter as a mystic yogi. The last chapter makes a proper survey of the mystic's experiences of the whole world, and therein we find how the personal soul ties herself with in personal one.

The book as a whole is very stirring with a most attractive get-up, bibliography and index.

—H. N. Mishra, Dept. of Eng., Saket College., Faizabad.

साँईदाता सम्प्रदाय और उसका साहित्य—डॉ० राधिका प्रसाद त्रिपाठी, अनन्द प्रकाशन, दीवानी-मिसिल, फैजाबाद; पृ० २१८, मूल्य—४०/-

प्राचीन साहित्य में शोध का काम बड़ा कठिन है। साम्प्रदायिकों के साहित्य की खोज और उसके सम्पादन-मूल्यांकन का काम और भी अधिक। उनके बेठों या पूजा-सामग्री में से इस सामग्री को उपलब्ध कर पाना ही दुःसाध्य है, फिर उसके विषय में कुछ कहना और जोखिम भरा। पर, जिसकी उधर ली लगी है, वह इन सभी के आरपार तैरकर पारंगत हो जाता है। उक्त पुस्तक के विद्वान् डॉ० राधिका प्रसाद त्रिपाठी भी उन्हीं पारंगतों में से एक हैं। मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में उनकी विशेष अभिरुचि और दक्षता का प्रमाण उनकी इसके पूर्व की रचनाएँ, (१) रामसनेही-संप्रदाय, (२) गोविन्द साहब की हिन्दी रचनाएँ तथा (३) टेसीटरी कृत 'रामचरितमानस और वाल्मीकि रामायण' का हिन्दी अनुवाद, पहले ही दे चुकी हैं। इस ग्रन्थ के साथ वे हिन्दी में प्रायः अजाने और अद्भूते विषय को लेकर उपस्थित हुए हैं।

१९वीं शती विक्रमी के प्रारम्भ में फैजाबाद जिले के मजनाई या मसनाई गाँव के संत मोहनशाह द्वारा प्रवर्तित साँईदाता सम्प्रदाय यद्यपि अब उत्तर प्रदेश के अन्यान्य स्थानों से बढ़कर विहार, मध्यप्रदेश, दिल्ली और बड़ीदा तक फैला हुआ है और उसका प्रसार काबुल तक भी बताया जाता है, पर हिन्दी में उसका थोड़ा बहुत परिचय आचार्य प० परशुराम चतुर्वेदी के ग्रन्थ 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' में भले ही मिलता है, आधिकारिक कोई वर्णन या विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता और इस सम्प्रदाय के रचनाकारों की रचनाएँ तो सामने लाई ही नहीं गई। सबसे पहले इसकी ओर ध्यान आकृष्ट किया था 'माधुरी' पत्रिका (वर्ष १४, खंड २, सं० ३) ने। चतुर्वेदी जी का दिया हुआ परिचय अधिकांशतः संभावनाओं पर आधारित है। डॉ० त्रिपाठी ने कठिन उद्योग द्वारा आधारिक सामग्री और सम्प्रदाय की संत-वाणियों का प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करके एक बड़े अभाव की पूर्ति की है।

डॉ० त्रिपाठी ने पुस्तक के आरम्भिक ७० पृष्ठों में से ६० पृष्ठों की एक अच्छी भूमिका प्रस्तुत करते हुये सामाजिक परिवेश, साँईदाता संप्रदाय का उद्भव, नामकरण, शिष्य-परम्परा, दीक्षा-विधि और रहनी, वंश-वृक्ष, पर्वोत्सव, कवियों और उनकी रचनाओं का परिचय, दार्शनिक-चित्तन, साधना और साहित्यिक मूल्यांकन शीर्षक के अन्तर्गत महत्वपूर्ण विवेचन किया है जो कई नई दिशाओं की ओर इंगित करता और नये तथ्यों को प्रकाश में लाता है।

—डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित, १२/१३ प्रोफेसर बैंगलो, पुणे विद्यापीठ, गणेशखण्ड, पुणे-७

'शब्द और धरती'—माताप्रसाद त्रिपाठी, वाणीश प्रकाशन, ए-८०, अलहादपुर, गोरखपुर, प्रथम संस्करण, अप्रैल, १९७६, मूल्य—अठारह रुपये।

'शब्द और धरती' भाई माताप्रसाद त्रिपाठी के ललितनिबन्धों का प्रथम संग्रह है। कोई भी व्यक्ति जो अपना परिचित ही नहीं, अन्तररङ्ग बन्धु भी हो,—उसकी रचनाओं के साथ

न्याय करना एक अत्यन्त दुःसाध्य किंवा असाध्य कार्य है, 'वीतराग योगियों' के लिए भी। संग्रह की पाण्डुलिपि उत्तर प्रदेश हिन्दी-संस्थान की ओर से पुरस्कृत भी हो चुकी हैं, किन्तु इसका अर्थ मेरे लिये कुछ नहीं है। यह सब तो होता रहता है, चलता रहता है। किसी भी रचना का असल पुरस्कार पाठकों की ओर से मिलता है इस दृष्टि से यह संग्रह अवश्य स्तुत्य है।

प्रथम निबन्ध का शीर्षक ही संग्रह का भी शीर्षक है, जो पूरे संकलन की भावभूमि को ध्वनित करता है। शब्द और धरती का क्या सम्बन्ध है, इसको पहचानने वाले हिन्दी के अङ्गुलिगण्य निबन्धकारों की अग्रपंक्ति में विराजमान होने के अधिकारी भाई त्रिपाठी जी हैं, यह मेरे पाठकमन का अपना दृढ़ विश्वास है। कुछ शब्द धरती के होते हैं, कुछ गमले के और कुछ आकाश के,— गाँव के बरगद, गमले के पौधे और आकाश-वेलि की तरह। धरती के शब्दों का आकाश से भी नाता होता है। लेकिन आकाश के शब्दों का धरती से कोई नाता नहीं होता। भाई त्रिपाठी जी प्रथम कोटि के शब्दों के खेतिहार हैं। उनके शब्द बीजांकुर की तरह धरती से फूटते हैं, किन्तु बढ़ते-फैलते आकाश की ऊँचाइयों को भी नापते हैं। इसका कारण है। गाँव में जनमें हैं और चेतसा गाँव में रहते भी हैं, यद्यपि चाकरी के कारण शहर में शरीरतः रहने को बाध्य हैं। काया पर लिबास भी शहर का, किन्तु मन कभी 'कुआनों के आर-पार' होता रहता है, कभी फिर से खिले हुए सेमर के फूलों के इर्द-गिर्द मंडराया करता है ('फिर खिले हैं सेमर के फूल'), कभी दूर्वादल पर बैठकर ठंडाता है ('दूर्वादल बनाम गोष्ठी-चिन्तन') कभी 'वृन्दावन की मधुचाँह' में चहल-कदमी करता है, कभी मधु का आदान-प्रदान करता है (मधु दो मधु लो), कभी 'परिश्रान्त विटप' के नीचे स्वयं अपनी शान्ति मिटाता है, कभी गाँव के होलिहारों के साथ हुड़दंग करता है ('अपने-अपने रंगोत्सव'), कभी 'निशापर्व' में दिये जला-जला कर घर के ताखों पर रखता है। खाँटी 'गँवार' मन प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति के एक गम्भीर अध्येता एवं यशस्वी अध्यापक जैसे खुस्सट के साथ कैसे रम सकता है? बार-बार गँवई की ओर भागता है। इस निरन्तर दृन्द ने त्रिपाठी जी के निबन्धों में एक अपूर्व रसवत्ता की सृजित की है। स्व० आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं० विद्यानिवास मिश्र तथा डॉ कुवेरनाथ राय के बाद इस भूमि पर काविज होने के हकदारों में भाई त्रिपाठी जी का नाम सम्भवतः सबसे आगे होगा।

-डॉ० स्वामीनाथ पाण्डेय, २०७, गोडियाना, रायगंज, अयोध्या, फैजाबाद।

उत्तरी भारत के ब्राह्मणों का सामाजिक अध्ययन—(चरण, शाखा, गोत्र, प्रवर, विनिर्गत और वास्तव्य—लगभग ६०० ई० से १२०० ई० तक, ग्रमिलेखों पर आधारित)—डॉ० गौरीशंकर तिवारी, साकेत प्राच्य विद्या परिषद्, फैजाबाद द्वारा प्रकाशित, १६८२ ई०, पृ० ३००, मूल्य—पचास रुपये।

'उत्तरी भारत के ब्राह्मणों का सामाजिक अध्ययन', प्रमुखतः पूर्वमध्यकालीन आभिलेखिक साक्ष्यों और यथाप्रसंग समकालीन स्रोत-सामग्रियों पर आधारित लेखक की श्रमसाध्य एक महत्त्वपूर्ण शोधकृति है।

आठवें दशक के आरम्भ में, इस शोध-प्रबन्ध की प्रस्तुति के दौरान मुझे यथासम्भव इसके अवलोकन का सुयोग मिला था। अब एक दशक बाद इसे प्रकाशित देखकर सुखद अनुभव

महज-स्वाभाविक है, विशेषकर ग्राज के परिवेश में जबकि 'शोध-प्रबन्ध' के नाम पर 'कुछ भी' प्रस्तुत हो रहा है। लेखक को इस शोध-कार्य में सुविख्यात भाषामर्जन इतिहासकार प्रौ० विश्वभर शरण पाठक (जिन्हें यह समर्पित है) का निर्देशन प्राप्त था, अस्तु, चातुर्वर्णों में प्रथम, ब्राह्मणों के चरण, शाखा, गोत्र, प्रवर, विनिर्गत एवं वास्तव्य सम्बन्धी उत्तर भारतीय धोत्रों के आभिलेखिक सन्दर्भों का संकलन-विवेचन पूर्वमध्यकालीन ब्राह्मणों के सामाजिक अध्ययन के रूप में इस कृति को एक अभिनव एवं सार्थक प्रयास कहा जा सकता है।

जैसा कि मुझे ज्ञात है मूल शोध-प्रबन्ध का एक भाग ही प्रकाश में आ सका है जिसे कुल छः अध्यायों में विभाजित किया गया है। विविध दानपत्रों-आभिलेखों से ज्ञात है कि पूर्वमध्ययुगीन राजनीतिक परिस्थितियों में ब्राह्मणों का स्थानान्तरण उल्लेखनीय और सामाजिक - सांस्कृतिक दृष्टि से एक प्रभावशाली घटना कही जायगी। इस पृष्ठभूमि में ब्राह्मणों के आद्यस्थान और स्थानान्तरण के पश्चात् उनके वास्तव्य के कारणों - सन्दर्भों के आकलन से आरम्भ करके उनके चरण - शाखाओं तक का वर्णन इस कृति का प्रतिपाद्य विषय है। आरम्भ में भारद्वाज, शाण्डिल्य, सावर्ण, कश्यप, वत्स, गौतम, मार्गव, पाराशार, हरित - कुत्स, कौण्डन्य, कौत्स, कुमार हारित एवं कौशिक गोत्रीय ब्राह्मणों के केन्द्रों का आभिलेखिक साक्ष्यों के आधार पर वर्णन किया गया है। दानपत्रों (ताम्र - शासनों) - प्रशस्तियों से ज्ञात दानग्रहीता ब्राह्मणों का बहिर्गमन यथासमय होता रहा। ब्राह्मणों के केन्द्रों के अध्ययन से ब्राह्मणों के वास्तव्य एवं उनके विनिर्गत (मूलस्थान) का ही पता नहीं चलता अपितु तत्कालीन धर्मचिरण, कर्मकाण्ड, दान - परम्परा और अन्य श्रौत-स्मार्त परम्पराओं पर भी आनुषंगिक प्रकाश पड़ता है। दूसरा अध्याय है— नाभकरण का सांस्कृतिक परिवेश तथा तीसरे अध्याय का प्रतिपाद्य है— नामान्त (उपपद) - जिसमें सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से सर्वथा एक नये आयाम का विस्तृत आकलन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में विवेचन हुआ है 'उपाधि' का। विवेच्य कृति के पाँचवें और छठें अध्यायों में क्रमशः 'गोत्र तथा प्रवर' और 'चरण तथा शाखा' का विस्तृत विवेचन करते हुये ग्रन्थ का समापन किया गया है।

शोध - ग्रन्थ के रूप में इस कृति की उपादेयता स्पष्ट है तथा इसके 'कृती' के परिश्रम को रेखांकित करती है, आभिलेखिक अध्ययन से विभिन्न परम्पराओं की पुष्टि हो जाती है, अतः यह कृति प्राचीन भारतीय समाज व संस्कृति के अध्येताओं के लिये सन्दर्भ - ग्रन्थ है— इसमें सन्देह नहीं।

--**क्षी माताप्रसाद त्रिपाठी, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर ।**

out a thorough critical edition of the *Dhvanyaloka* with a learned introduction, English translation and notes replete with references to relevant quotations amply drawn from Indian as well as Western writers. This scholarly monument fills in a great vacuum in the field of Oriental studies.

The *Dhvanyaloka* represents the highest pinnacle attained by Indian critical thought, and is indeed one of the few best masterpieces of world-criticism but owing to the absence of an English translation, the western readers in general had no access to it and consequently were (and perhaps still are) little aware of the fact that in Sanskrit there is a work which can well stand with, or even surpass their greatest classics of literary criticism, viz., the poetics of Aristotle, On the Sublime of Longinus and the Biographia Literaria of Coleridge.

The present edition gives no ground for any 'Complaint' from the reader. In the introduction have been discussed a fresh and at length the various knotty problems relating to the title of the text, different text-readings, authorship of the *Dhvanyaloka* etc., tapping all resources available.

On the left side is the Sanskrit original and facing it on the right is the English version. Below the Sanskrit text have been given the Variants gathered from numerous editions and manuscripts. Dr. Krishnamoorthy, by his herculean labours, has opened the gates of the Dhvani-theory to the west. The *Dhvanyaloka* will prove to be another *Shakuntala* if it gets another Goethe.

A glossary of technical Sanskrit terms with their English equivalents has been provided at the end of the book. The internationally renowned Oriental Publishers M/s Motilal Banarsidas deserve no less thanks for publishing such a glorious edition of this memorable work.

—Dr. Swami Nath Pandey, Sans. Dept., Saket College, Faizabad.

THE HYMNS OF SHANKAR, edited and translated by Dr. T. M. P. Mahadevan. Motilal Banarsidas, Jawahar Nagar, Delhi-7, 1980 Pages X, 188. Price Rs. 55-00.

Acharya Shankara is one of the mightiest geniuses India has ever produced. His place in the realm of philosophy is unrivalled, but he is also a poet of the first rank though his poet is overshadowed by his philosopher. As a devotional singer he ranks supreme. His lyrical prayers offered to various Gods and Goddesses are shining poetic gems.

In the present volume Dr. Mahadevan has selected for English translation some of the most celebrated hymns of *Shankara*, Viz., (i) Hymn to Dakshina-

murti (ii) Hymn to Guru (iii) Bhaja Govindam and (iv) Hymn to Shiva. Alongwith these hymns of the Great Master, two more - the तोटकाट्टकम् and the मानसोल्लास respectively by तोटकाचार्य and सुरेश्वराचार्य the chief disciples of *Shankara*, have also been rendered in English prose and added as appendices.

The Hymn to दक्षिणामूर्ति is accompanied by an elaborate English commentary based on स्वयंप्रकाशयति's व्याख्यान likewise the भजगोविन्दम् has with its explanatory notes based on स्वयंप्रकाशस्वामिन्'s विवरण.

The Hymn to Shiva or शिवानन्दलहरी, consists of 98 verses. Dr. Mahadevan calls it "a grand hymn to *Shiva*, beautiful in form and content." In the introductions to the afore-mentioned four hymns, the editor-translator has critically examined the poetic qualities of *Shankara* and the illuminating comments following the translation, are of immense help to the reader.

At the end, a glossary of Sanskrit terms with their English equivalents has been added. Our sincerest congratulation to M/s Motilal Banarsidas for the publication of such a lovely edition of the Great Master's Hymns, which, like a newly wedded bride, well clad and ornamented, captivates one's eyes at the very first sight.

—Dr. Swami Nath Pandey Sans. Dept, Saket P. G. College, Faizabad.

THE RAGHUVAMSHA OF KALIDAS, edited by Gopal Raghunath Nandargikar. Motilal Banarsidas, 1982. Pages 220+987. Price Rs. 100-00 (Paper), Rs. 120-00 (Cloth).

This work includes the commentary of *Mallinath* with a literal English translation, copious notes in English intermixed with full extracts, elucidating the text from the commentaries of *Bhatta*, *Hemadri*, *Charitravardhana*, *Vallabha*, *Dinakara Mishra*, *Sumativijaya*, *Vijayagani*, *Vijayanand Suri's Varacharansevaka* and *Dharmameru* by the editor Gopal Raghunath Nandargikar. The work contains a long and scholarly introduction which discusses and gives the informations regarding the different MSS., commentators, the date of Kalidas and poetic criticism. At the end, heavy notes regarding the text have been included. The trail of index, in the last, gives the proper names occurring in the text alphabetically, names of authors and works quoted or referred to by *Mallinath* in his *Sanjivani* and anonymous quotations in *Mallinatha's* commentary respectively. I have ever seen such a cover-get-up and excellent printing of *Raghuvansha* by *Rasasiddha Kavi Kalidasa*.

—Dr. Rama Shankar Mishra (Editor).

STORIES OF INDIAN SAINTS (translation of Mahipati's Marathi - BHAKTA-VIJAYA) by DR. JUSTIN E. ABBOTT and Pandit NARHAR R. GODBOLE. Motilal Banarsidas, 1982. Pages : XXXVII, 507, XXXIV, 499. Price : Rs. 120-00.

The Present work, with two Volumes together, is the first published English translation of Mahipati's Bhaktavijaya which consists of forty thousand lines of beautiful Marathi poetry and is rightly regarded as one of the classics' of Marathi language. The work includes an scholarly foreword by J. F. Edwards discussing about the translation of Bhaktavijaya, editors task, Dr. Abbott's English style, Mahipati's place in literature, India's insurrection against religion, nationalizing and democratizing value of Bhakti, mysticism in Maharashtra. In the foreword of the second volume J. F. Edwards discusses about the late Pandit N. R. Godbole, usefulness of Dr. Abbott's benefactions, the idea of sin in India, India's incorrigible religiousness, religion and backbone of India etc. In the beginning of the first volume of the work an exhaustive preface of the chief author and an informative introduction by Dr. G. V. Tagore have been included. In the first volume the lives of Jayadeva, Tulsidas, Namdeva, Kabir, Dhyandeva, Kurnadas, Paramanand, Narahari, Matsyendranath, Gorakhnath, Padmanath and Narsi Mehta have been discussed. In the second volume Prominent saints have been included, such as Ramdas, Kalyan, Surdas, Sena, Rasik Murar, Mirabai, Damajipant, Mrityunjaya Swami, Bhanudas, Eknath, Tukaram, Ganeshnath, Keshav Swami, etc. In the last five appendices have been included with notes on Pauranic names in the Bhaktavijaya, Pauranic narratives referred to in the Bhaktavijaya, words with numerical significance used in Bhaktavijaya, Epithets of Vishnu found in the Bhaktavijaya. At the end of the work an index of technical words, names of places and persons has been added. The cover-get-up is very very attractive with the Pictures of some important Indian saints.

—Dr. Rama Shankar Mishra (Editor)

INDIAN BUDDHISM by A. K. WARDER. Motilal Banarsidas, Delhi-7, 1980. Second edition, Pages : XV, 627, Price : Rs. 100-00

This work describes Indian Buddhism on the basis of all the available original sources in various languages. The book consists of twelve chapters excluding an introduction in the beginning and conclusion, bibliography, abbreviations, index and maps in the last. In the introduction of the book the author has discussed the sources of knowledge of Buddhism, methodology, the Tripitaka the Matrika, the schools, the internal chronology of the Tripitaka, contrast of Buddhism with rival teachings etc. In all the twelve chapters of the book the author has paid his attention upon the Indian civilisation before the Buddha, India in the time of the Buddha, the life of the Buddha, the doctrine of the

Buddha, causation, Buddhism and society, collecting the Tripitaka, the Popularization of Buddhism, the Eighteen schools, Mahayana and Madhyamaka, idealism and the theory of knowledge, and the great universities and the Mantrayana respectfully. A bibliography of Buddhistic literature, and an index of Buddhistic technical words have been incorporated in the last. In this second revised edition the results of new research, especially on *Dinnaga* and *Nagarjun* have been also incorporated.

The get-up of the cover attracts by its marvelous printing with a picture of lord Buddha. I pay my heartiest congratulations to M/s. Motilal Banarsidas such publications

—Dr. Rama Shankar Mishra (editor)



and other excellent art-galleries, vision and mid-life, between which
should intervene half a century, could hardly be exhibited to equal effect.
Indeed, all the galleries seem to be a good deal to good advantage,
to those who have given much time to the study of fine art.
But, as far as I am concerned, the exhibition of A. R. Johnson's
beautiful pictures, and of his excellent wood-carvings, will be well
worth while, and will be a great pleasure to all who have
seen them. The pictures are of great interest, and the wood-carvings
are of great value, and are well worth the time and trouble of
attending the exhibition.

(1885) *J. M. D. (sic)* (quill, 30).

घोषणा—पत्र

समाचारपत्र—रजिस्ट्रीकरण (केन्द्रीय) नियमावली, १९५६ के नियम ८ (१) के अधीन प्रकाशितव्य स्वामित्व—सम्बन्धी तथा अन्य विवरण ।

(प्रारूप—चार)

१ प्रकाशन का स्थान— दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध,
१२२२, दिल्ली दरवाजा, फैजाबाद— २२४ ००१

२ प्रकाशन की कालिकाता— षाण्मासिक

३ मुद्रक (१) नाम—डॉ० हौसिलाप्रसाद सिंह (दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध की ओर से)
(२) राष्ट्रीयता— भारतीय
(३) पता— हिन्दी-विभाग, कें० एस० साकेत पी० जी० कालेज, फैजाबाद
(अपना प्रेस, अकब रिकाबगंज, फैजाबाद में मुद्रित)

४ प्रकाशक (१) नाम— डॉ० गौरीशंकर तिवारी (दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध की ओर से)
(२) राष्ट्रीयता— भारतीय
(३) पता— प्राचीन इतिहास, संस्कृत एवं पुरातत्त्व-विभाग, कें० एस० साकेत पी० जी० कालेज, फैजाबाद

५ सम्पादक (१) नाम—डॉ० रमाशंकर मिश्र

(२) राष्ट्रीयता— भारतीय
(३) पता— संस्कृत-विभाग, कें० एस० साकेत पी० जी० कालेज, फैजाबाद

६ स्वामी का नाम और पता— दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी आफ अवध,

१२२२, दिल्ली दरवाजा, फैजाबाद— २२४ ००१

मैं गौरीशंकर तिवारी, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये हुये व्यौरे मेरे पूर्णतम ज्ञान और विश्वास के अनुसार सत्य हैं ।

(ह०) गौरीशंकर तिवारी
प्रकाशक

(दि इण्डियन रिसर्च सोसाइटी आफ
अवध की ओर से)

महाशिवरात्रि

संवत् २०३६

फरवरी ११, १९८३ ई०

परामर्श-समिति

१. डॉ० अतुल चन्द्र बनर्जी, आचार्य तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय (उ०प्र०)
२. डॉ० गोपिका मोहन भट्टाचार्य, आचार्य तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, (हरयाणा)
३. डॉ० त्रिभुवन सिंह, रीडर, हिन्दी-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ० प्र०)
४. डॉ० प्रभाकर नारायण कवठेकर, अध्यक्ष, केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड, नई दिल्ली
५. डॉ० विश्वनाथ बनर्जी, आचार्य तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, विश्व भारती, शान्ति निकेतन (प० बंगाल)
६. डॉ० राम लोचन सिंह, कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय (उ० प्र०)
७. डॉ० राम सिंह तोमर, हिन्दी-मर्वन, विश्व भारती, शान्ति निकेतन, (प० बंगाल)
८. डॉ० लालता प्रसाद पाण्डेय, आचार्य तथा अध्यक्ष, इतिहास-विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्व-विद्यालय, शिमला
९. डॉ० विक्रमादित्य राय, अवकाश प्राप्त आचार्य तथा अध्यक्ष, अंग्रेजी-विभाग, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय, वाराणसी (उ० प्र०)
१०. डॉ० विद्यानिवास मिश्र, निदेशक, क० मु० भाषा विज्ञान संस्थान, आगरा विश्वविद्यालय (उ०प्र०)
११. डॉ० सत्यव्रत सिंह, भूतपूर्व कुलपति, सम्पूरणनन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ० प्र०)
१२. डॉ० सीताराम जायसवाल, अवकाश प्राप्त आचार्य तथा अध्यक्ष, शिक्षा शास्त्र-विभाग, लखनऊ-विश्वविद्यालय (उ० प्र०)
१३. डॉ० सुधाकर पाण्डेय, प्राचीन इतिहास-विभाग, सागर विश्वविद्यालय (म० प्र०)